डॉ0 वेद प्रकाश द्विवेदी

एम0ए0,पी–एच0डी0
रीडर (हिन्दी विभाग)
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा

प्रमाणित किया जाता है कि **श्री प्रमोद कुमार तिवारी** ने मेरे निर्देशन में 200 दिन रहकर **"साहित्य का इतिहास दर्शन एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी साहित्येतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन"** शीर्षक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया। यह इनकी मौलिक रचना है।

(डॉ0 वेद प्रकाश द्विवेदी)

रीडर (हिन्दी विभाग)
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट, कालेज
अतर्रा

साहित्य का इतिहास दर्शन एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

के

हिन्दी साहित्येतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच०डी०

उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
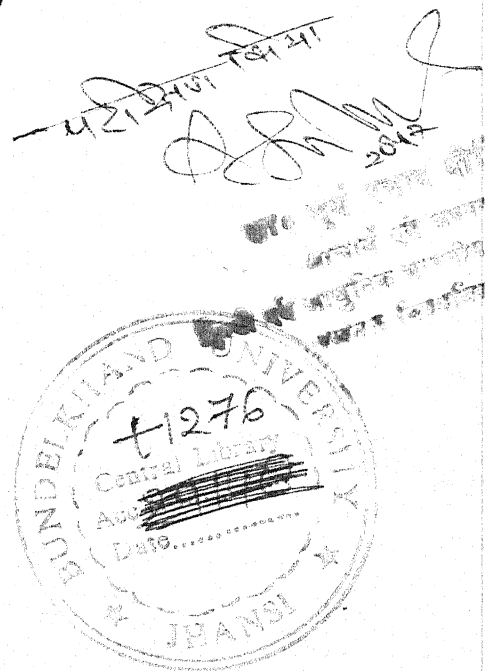
निर्देशक :

डॉ० वेदप्रकाश द्विवेदी

एम० ए०, पी-एच० डी०

रीडर, हिन्दी विभाग

अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज

शोध कर्त्ता :

प्रमोद कुमार तिवारी

एम० ए० (हिन्दी), एल० टी०

सी० ई० एम० (यूके)

मटियारा रोड, इलाहाबाद

"साहित्य का इतिहास दर्शन एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

के

हिन्दी साहित्येतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन"

विषय–अनुक्रमणिका

भूमिका

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः की उद्घोषणा ने रचनाकार की भाव प्रवणता, कल्पनाशीलता एवं संवेद्य गुणों के साथ ही उस प्रजापति, स्वम्भू एवं क्रान्ति दृष्टा का उल्लेख हुआ है। कहना नहीं होगा कि हृदय की भाव प्रवणता विगलित वेद्यान्तर के रूप में ही साहित्य, आलोचना का आकार ग्रहण करती है और उसकी अविछिन्न परम्परा चलती रहती है, ऐसे रस सिद्ध साहित्य की अनुशंसा या समीक्षा, आलोचक, देशकाल पात्र या काव्य शास्त्रीय मापदण्डों के अनुसार करता है, इस प्रकार सामान्य जनता की चित्त प्रवृत्तियों का प्रतिफल जिस साहित्य में एक ही प्रकार से हुआ है, उसका विश्लेषण एक धारा के रूप में करना ही साहित्येतिहास की परम्परा रही है।

'इतिहास' शब्द का अर्थ है कि ऐसा हुआ; इतिहास, सम्राटों की यशोगाथा ही नहीं गाता, वह मनुष्य को शिक्षा भी देता है, लेकिन इतिहास में कल्पना के संयोग का कार्य एक व्यक्ति का नहीं होता, सहस्त्रों वर्षों तक लोक मानस की बहुमुखी प्रतिभा अनजाने इस कार्य को करती है और वैयक्तिक इतिहास की धारा को शत–शत धाराओं में बाँट कर समग्र जनता की वस्तु बना देती है। इतिहास की भारतीय अवधारणा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों द्वारा नियन्त्रित हो रही है, लेकिन इतिहास दर्शन के सम्बन्ध में पाश्चात्य अवधारणा है कि कल्पना· नहीं विवेक की वस्तु है। मानव समाज के असंख्य घात–प्रतिघात में आधुनिक इतिहासकार ऐसे चिरन्तन नियमों का अन्वेषण करता है, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष और काल विशेष से न होकर मानव सभ्यता के चिरन्तन एवं शाश्वत सत्यों से है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास ही ऐसा है जिसमें सर्वप्रथम साहित्येतिहास को पारिभाषित किया गया है एवं उसके लिए निश्चित पद्धतियाँ स्वीकृत की गयीं। इनके पश्चात डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्येतिहास सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये, साहित्येतिहास अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर युग विशेष के लेखक समूह की कृति समष्टि का इतिहास ही हो सकता है। कोई भी साहित्यिक कलाकृति

कल्पना का खेल नहीं है अपितु वह समकालीन व्यवहारों, विचारों का विश्लेषण है। क्षेत्र की दृष्टि से साहित्येतिहास का विभाजन दो वर्गों में किया जा सकता है। सैद्धान्तिक पक्ष एवं व्यवहारिक पक्ष। काल निर्धारण एवं नामकरण, युगेतिहास एवं साहित्य से उसका सम्बन्ध, प्रवृत्ति बोध साहित्य बोध का विवेचन इसके अन्दर होता है। साहित्येतिहास एवं भाषा विज्ञान में गहन सम्बन्ध होता है इन सबका विशद विवेचन पहले अध्याय में किया गया है।

विकास एवं परिवर्तन सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों में गति के दो स्वरूप ध्वनित होते हैं, रेखात्मक एवं चाक्रिक। साहित्य के इतिहास में भी इन दोनों का स्वरूप परिलक्षित किया जा सकता है। रेखावाद, मानव जाति की एक निश्चित गंतव्य अथवा प्राप्तव्य की प्राप्ति की चेष्टा में उत्तरोत्तर सफलता की कल्पना करता है। कान्ट और हर्डर के अनुसार पौराणिकता एवं पारलौकिकता से वैज्ञानिकता एवं लौकिकता की ओर। चक्रवादी धारणाओं के अनुसार मानवता एक ही अथवा समान अवस्था को बार–बार प्राप्त होती है। इनके अनुसार मानव जाति एक महा जाति है जो संस्कृतियों एवं सभ्यता रूपी उपजातियों में विभक्त है। कोबर के अनुसार कला, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि के क्षेत्रों में प्रतिभाओं का उद्गम प्रायः इक्का–दुक्का न होकर झुण्ड के रूप में होता है। सोरोकिन का कथन है – "कोई अन्वेषण मौलिक रूप से महत्त्वपूर्ण तब समझा जाता है जब वह आगे के विकास के लिए नये क्षेत्रों, नई सम्भावनाओं का उद्घाटन करता है।

साहित्य के विकास में सदैव न तो चाक्रिक और न रेखिक सिद्धान्त लागू होते हैं। यदि रेखिक सिद्धान्त के अनुसार देखें तो साहित्य में भी प्रगति एवं पतन के युग बराबर आये हैं। भक्तिकाल के बाद रीतिकाल और रीतिकाल के बाद छायावादी कविता इस सिद्धान्त का खण्डन करती है। प्रायः देखा गया है कि अधिकांश संस्कृतियों का श्रेष्ठ साहित्य उनके प्राचीन या मध्यकाल तक लिखा जा चुका था। यूनानी साहित्य में होमर, इलियड, ओडेसी, हिब्रू साहित्य में बाइबिल का कुछ भाग

भारतीय साहित्य में बाल्मीकि, ब्यास, कालिदास की रचनायें इसी तथ्य को सिद्ध करती है। रेखावाद के अनुसार उसके बाद का साहित्य इससे भी श्रेष्ठ होना चाहिये था औ चक्रवाद के अनुसार इसकी आवृत्ति होनी चाहिये थी, दोनों तथ्य घटित नहीं हुए। वास्तव में साहित्य के ऊपर विकास का सिद्धान्त काम करता है। प्राकृतिक सर्जन शक्ति, परम्परा, वातावरण, द्वन्द्व या आकर्षण – विकर्षण, संतुलन स्थापना इन सूत्रों से ही साहित्य का विकास होता है। ये ही साहित्य के विकास के तत्त्व होते हैं। इसके अतिरिक्त धर्माश्रय, राज्याश्रय, लोकाश्रय, पूँजीपत्याश्रय से भी साहित्य का विकास हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इतिहास दर्शन में इन्हीं सिद्धान्त को प्रमुखता दी। हिन्दी साहित्य के पूर्ववर्ती संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश एवं समकालीन विविध साहित्य से उसका सही परिवेश स्थापित करते हैं। इन सबका विशद विवेचन दूसरे अध्याय में हुआ है।

तीसरा अध्याय हिन्दी साहित्येतिहास के विकास से सम्बंधित है। हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास **'गार्सा द तासी'** द्वारा लिखा गया, उनका ग्रन्थ **'इस्तवार दललितवरेत्यूर – एदुई ए ऐंदुस्तानी'** फ्रेंच भाषा में लिखा गया जिसका प्रथम संस्करण 1839 में प्रकाशित हुआ। इसका महत्त्व इस बात पर है कि किसी विदेशी द्वारा भारतीय इतिहास लिखने का प्रथम प्रयास था यद्यपि इसमें तिथि सम्वंधी, कवि नाम सम्बन्धी, ग्रन्थ विवरण सम्बन्धी, तथ्य सम्बन्धी एवं भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ हैं। शिव सिंह सेंगर द्वारा 1883 में **'शिव सिंह सरोज'** नामक हिन्दी कवियों का वहत् संग्रह प्रकाशित किया, उनके पहले पं० महेश दत्त शुक्ल **'भाषा काव्य संग्रह'** और पं० मातादीन मिश्र **'कवित्त रत्नाकर'** की रचना कर चुके थे। **'सरोज'** में वर्णानुक्रम, संख्या एवंपृष्ठ निर्देशन सम्बन्धी, एजन सम्बन्धी, सन सम्बत् सम्बन्धी, तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ हैं। त्रुटियों का इतना विशाल पट होते हुए भी **'सरोज'** का ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं है। साहित्येतिहास में रुचि रखने वाले और कार्य करने

वाले प्रत्येक विद्वान को उसने प्रभावित किया। 1889 में ग्रियर्सन का 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' प्रकाशित हुआ। ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम कालों को विभाजित करने की चेष्टा की साथ ही कुछ कालों की सामान्य प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विश्लेषण करने का प्रयत्न किया। वैसे ग्रियर्सन का इतिहास भी अशुद्धियों से भरा है। गणेश विहारी मिश्र, सुखदेव विहारी मिश्र ने खोज और रिपोर्ट के आधार पर 'मिश्र बंधु विनोद' प्रकाशित कराया, इसमें काल विभाजन के साथ ही साथश्रेणी विभाग भी किये लेकिन इसमें भी अशद्धियाँ थीं। एडविन ग्रीब्ज ने 'ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर' 1918 में लिखा। 1920 ई0 में एफ0 ई0 के0 ने 'ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर' नामक पुस्तिका लिखी, इसमें सो पृष्ठों से कुछ अधिक सामग्री नहीं दी जा सकी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में 'हिन्दी साहित्य का विकास' लिखा परिवर्तन परिमार्जन के पश्चात 1929 में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ। प्रमाणिक काल विभाजन के साथ ही साथ शुक्ल जी के इतिहास की निम्नलिखित विशेषताएँ हे:-

सैद्धान्तिक आलोचना, प्रवृत्ति एवं परम्परा की खोज, सरल ओर स्निग्ध भाषा, चुटीला व्यंग्य, साहित्यिक रचनाओं का चुनाव लेकिन शुक्ल जी का इतिहास त्रुटिविहीन नहीं है, उसमें तथ्य सम्बन्धी भूलें, आवश्यकता से अधिक तार्किक, वैयक्तिक रुचि की ही प्रधानता। शुक्ल जी का महत्व यह है कि हिन्दी साहित्येतिहास का वास्तविक ढाँचा उन्होंने ही खड़ा किया। शुक्ल जी के पश्चात साहित्येतिहास ग्रन्थों की एक प्रकार से बाढ़ आ गयी। डॉ0 श्याम सुन्दर दास ने 1930 में "हिन्दी साहित्य" रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'ने 1931 में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सूर्यकान्त शास्त्री ने 1932 में 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 1934 में 'हिन्दी भाषा' और 'साहित्य का विकास' डॉ0 रामकुमार वर्मा ने 1938 में 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखे। व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली से आगे बढ़कर सामाजिक इतिहास प्रणाली को अपनाकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के माध्यम से साहित्येतिहास लेखन क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। 1955 में हजारी प्रसाद द्विवेदी

का 'हिन्दी साहित्य' नामक दूसरा साहित्येतिहास ग्रन्थ प्रकाश में आया, वे ऐसे साहित्येतिहासकार हैं जिन्होंने अपने द्वारा व्यवहृत प्रणाली का विवेचन करते हुए इतिहास ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में उनका इतिहास दर्शन रूपायित हुआ है और मध्यकालीन धर्म–साधना तथा मध्यकालीन बोध अध्ययन की वही बोध दृष्टि विस्तृत पीठिका प्रस्तुत करता है। आधुनिक इतिहासकारों में डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ0 नगेन्द्र, डॉ0 गणपतिचन्द्र गुप्त प्रमुख हैं।

चौथा अध्याय आचार्य द्विवेदी की आदिकालीन सम्बन्धी अवधारणा से सम्बन्धित है– आचार्य शुक्ल ने इस काल की वीरगाथा प्रवृत्तिमूलक विशेष रचनाओं को लक्ष्य करके वीरगाथा काल नाम दिया है। शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुओं द्वारा गिनाई गयी आदिकाल की दस पुस्तकों का उल्लेख करते हुए, जैन धर्म से सम्बन्धित साहित्य देखकर साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया है। इसके अतिरिक्त कुछ उच्चकोटि का साहित्य भी उपलब्ध होता है उसे भी शुक्ल जी ने स्वीकार नहीं किया। राहुल जी सिद्ध सामन्त युग नाम देते हैं तो महावीर प्रसाद द्विवेदी बीज वपन काल। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य का आदिकाल लिखा और नामकरण को लेकर चली आ रही धारणा का समापन भी कर दिया। उनका मत है कि वस्तुतः किसी काल प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्त ग्रन्थों द्वारा नहीं निर्णित हो सकता बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है, प्रभावोत्पादक और प्रेरणा संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। द्विवेदी जी का मानना है कि इस काल में राजस्तुतिपरक, ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य और नाथ सिद्धों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचार धारा, झाड़ फटकार, अक्खड़तापन सहज शून्य की साधना योग पद्धति से भरी भक्ति मूलक रचनायें हैं। द्विवेदी जी आदिकाल का समय 1000 – 1400 ई0 मानते हैं, उनका विचार है कि हिन्दी साहित्य लगभग 1000 वर्ष पूर्व बनना प्रारम्भ हुआ था। राजनीतिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति, साहित्यिक स्थिति का विशद

विवेचन प्रस्तुत किया गया है साथ ही आदिकाल की प्रवृत्तियों में, आश्रयदाता राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा, युद्धों का सजीव वर्णन, वीर और शृंगार का समन्वय, ऋतु वर्णन, नख सिख, डिंगल साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य रासो साहित्य का विशद विवेचन है। आचार्य द्विवेदी पृथ्वीराजरासो को अर्द्ध प्रामाणिक मानते हैं इसमें काव्यगत रूढ़ियों का बहुत व्यवहार किया गया है और परम्परा प्रचलित उपमानों से सौन्दर्य की अभिव्यंजना करके उनके साहित्य का यही प्रधान कौशल है। आदिकाल के साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं, इस युग में हिन्दी भाषा जन जीवन से रस लेकर आगे बढ़ी है उसने अपनी अनेक बोलियों को एकरूपता की ओर बढ़ाकर एक सूत्र में बाँधा है। जीवन के विभिन्न पक्षों का उसके साहित्य में चित्रण हुआ है। परवर्ती कालों के लिए उसने अनेक परम्परायें डाली हैं। पूर्वी प्रदेशों में में सहजयानी और नाथपन्थी साधकों की साधनात्मक रचनायें प्राप्त होती हैं और पश्चिमी प्रदेशों में नीति, शृंगार और कथानक साहित्य की कुछ रचनाएं उपलब्ध होती हैं। एक में भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य है और दूसरी में नियम निष्ठा, रूढ़ि पालन और स्पष्टवादिता का स्वर है; एक में सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है, दूसरी में ऐह लौकिक वायुमण्डल में। चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी में दोनों प्रकार की रचनाएं एक में सिमटने लगीं थीं, दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है, इसी का नाम भक्ति साहित्य है। आचार्य द्विवेदी ने इस बात का भी खण्डन किया है कि हताश निराश हारी हुई जाति को भगवान की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं था। भक्तिकाल की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों का विशद विवेचन इस पाँचवे अध्याय में किया गया है, साथ ही रामानन्द सम्प्रदाय, कबीर सम्प्रदाय, भगताही पन्थ, बाबरी साहिबा और उनका सम्प्रदाय, विश्नोई सम्प्रदाय, सिख सम्प्रदाय, धनीश्वरी सम्प्रदाय, राम सनेही सम्प्रदाय का विश्लेषण है।

निर्गुण काव्यगत प्रवृत्तियों में निर्गुण की उपासना, गुरु की महत्ता जाति–पाति के भेदभाव का विरोध, धार्मिक कृत्यों का खण्डन रहस्यवादी प्रवृत्ति पर विहंगम प्रकाश डाला गया है। कबीर के बारे में उनका विचार है कि हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ झाड़–फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। आचार्य द्विवेदी प्रेम कथानकों में मलिक मोहम्मद जायसी, उस्मान, कासिम शाह अन्य सूफी कवियों की चर्चा करते हैं तो राम साहित्य का प्रणयन करने वाले रामानन्द अग्रदास, ईश्वरी दास, तुलसीदास, नाभादास, प्रियादास, केशवदास, विश्वनाथ सिंह की चर्चा करते हैं। कृष्ण साहित्य में सूरदास, और उस साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि प्रेम तत्त्व, भक्ति, बाल लीला वर्णन, वाग्वैदग्धता प्रमुख हैं। अष्टछाप के कवियों – कृष्णदास, कुंभनदास, परमानंददास, नंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी के साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। कृष्ण काव्य धारा में सूर के स्थान को निरूपित करते हुए डॉ0 द्विवेदी कहते हैं कि सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञानमार्गी भी नहीं थे, किसी को कुछ सिखाने का भान उन्होंने कभी किया ही नहीं, वे कहीं भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति विशेष के प्रति कटु नहीं हुए। कृष्ण काव्यधारा के दोषों की चर्चा करते हुए उनका मन्तव्य है कि श्रीकृष्ण भक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को बाह्य विषयों की आसक्ति से अलग कर देता है लेकिन उसे शुष्क तत्त्व वादी प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता, यह प्रेम साधना ऐकान्तिक है, वह अपने भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान के अनन्यगामी प्रेम की शरण में ले जाती है यही उसका दोष है क्योकि मनुष्य को पूर्णरूप से सजग बनाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है जो उसको कर्त्तव्य पथ पर चालित करे, कृष्ण भक्ति के साहित्य ने इस पक्ष को एकदम भुला दिया।

छठे अध्याय में आचार्य द्विवेदी एवं रीतिकाव्य का विवेचन है। जिसका समय संवत् 1700–1900 तक है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को दो भागों में विभाजित किया है – पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल क्योंकि साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में एक मोड़ आता है जो भक्तिकाल से पृथक् थीं। रीति कवियों का वर्गीकरण – रीतिनिरूपण के आधार पर रीति कवियों के मुख्यतः दो वर्ग किये जा सकते हैं – 1. सर्वांग निरूपक और 2. विशिष्टांग निरूपक। इसमें सर्वांग निरूपक वे हैं जिन्होंने काव्य के समस्त अंगो काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य भेद, काव्य की आत्मा (रस अथवा ध्वनि), शब्द शक्ति, गुण–दोष, रीति, अलंकार और छन्द का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है। चिन्तामणि, कुलपति, सूरति मिश्र, श्रीपति, देवदास, जनराज आदि ऐसे ही आचार्य हैं। विशिष्टांग निरूपक आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों को अपने विवेचन का विषय न बनाकर उसके तीन महत्त्वपूर्ण अंगों – रस, अलंकार और छन्द में से एक, दो अथवा तीनों का निरूपण एक अथवा अनके ग्रन्थों में किया है। रीतिकालीन कविता प्रसंग में विद्वानों ने तीन प्रकार का विवरण दिया है – रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवि वो हैं जिन्होंने लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे, रीतिमुक्त का सीधा अर्थ यही है कि यह धारा रीति परम्परा के साहित्यिक बन्धनों और रूढ़ियों से मुक्त है। इसमें घनानंद, बोधा, आलम और ठाकुर हैं। इस काल की राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक पृष्ठभूमि पर विचार प्रस्तुत किया है। प्रमुख प्रवृत्तियों में श्रृंगार रस का प्राधान्य, भक्ति काव्य का व्यापक प्रभाव, दरबारी संस्कृति और कामवासना का उद्दीपन, काम प्रवृत्ति का स्वच्छन्द निरूपण, श्रृंगार भावना को भक्ति का आवरण गार्हस्थिक श्रृंगार–परकीया प्रेम वर्णन का अभाव, नारी सौन्दर्य चित्रण, अलंकरण का प्राधान्य, लक्षण ग्रन्थों की प्रचुरता, प्रकृति चित्रण, वीररस की कविता, भक्ति और नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ, ब्रजभाषा का प्राधान्य, मुक्तक शैली का प्राधान्य, फारसी शैली का प्रभाव प्रमुख हैं। रीति ग्रन्थों का प्रर्वतक कौन है इस पर आचार्य द्विवेदी 'केशव' को रीति ग्रन्थों के विवेचक मानते हैं और वे तर्क देते हैं कि उन्होंने लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे, उन्होंने रसवादी

आचार्यों का अनुसरण न करके दण्डी आदि पुराने अलंकार – चमत्कार वादी कवियों का अनुसरण किया है। **'रसिक–प्रिया'** सहृदय पाठकों के लिये लिखी गयी, डॉ0 द्विवेदी आचार्य शुक्ल के उस तर्क का भी खण्डन करते हैं जिसमें केशव को हृदय हीन कवि कहा गया है, लेकिन वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि लाक्षणिक ग्रन्थों में मौलिकता का नितान्त अभाव है। आचार्य द्विवेदी ने प्रमुख रीतिग्रन्थकारों में चिन्तामणि, भूषण, मतिराम, जसवंत सिंह, भिखारीदास का विशद विवेचन प्रस्तुत करते हैं तो पद्माकर, बिहारी के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बिहारी के बारे में उनका विचार है कि बिहारी उन कवियों में से थे, जिन्हें आजकल **'सजग कलाकार'** या **'कन्शस आर्टिस्ट'** कहते हैं। एक प्रकार के कवि होते हैं जो भावानुभूति के बाद अविष्ट की सी अवस्था में काव्य लिखे जाते हैं। ऐसे कवि का चेतन मन उस समय निष्क्रिय बना रहता है किन्तु उसके अवचेतन चित्त पर जो संस्कार जमे होते हैं, जो अनुभूति संचित रहती है, वे बाँध तोड़कर निकल पड़ती हैं। अनुभति भाव का वेग इन विविध अनुभूतियों में एक सूत्रता स्थापित करता है। ऐसे कवि सचेत कलाकार नहीं होते हैं। वे अपने अवचेतन चित्त से चालित होते हैं। वस्तुतः **'मतिराम', 'बिहारी'** के समान उक्ति वैचित्र्य के उतने अच्छे कवि नहीं हैं परन्तु जहाँ तक सरल और सहज भाव से हृदय अनुराग को व्यक्त करने में नायिका के हृदय तक किसी प्रकार पाठक को पहुँचा देने का प्रश्न है मतिराम बहुत मर्मस्पर्शी कवि हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा, बेनी, सेनापति, द्विजदेव, मुबारक, रसनिधि, वृन्द और बैताल, गिरिधर कविराय, लाल कवि जोधराज, सूदन, गोकुलनाथ का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं। कुछ लोग रीति काव्य पर परान्तः सुखाय और अश्लीलता एवं शृंगारिकता का आरोप लगाते हैं। डॉ0 द्विवेदी ने खंडन करते हुए लिखा है कि उस युग की माँग बहुत गम्भीर नहीं थी अपनी सीमित क्षेत्र में यह कविता बहुत ही प्रभावशालिनी है, शृंगार के साथ ही साथ भक्ति, रीति, नीति का सुन्दर समन्वय हुआ है। रीतिकाल को वे अमूल्य धरोहर मानते हैं।

सातवां अध्याय आधुनिक काल एवं आचार्य द्विवेदी शीर्षक से वर्णित है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ सम्वत् 1925 हरिश्चंद्र जी के रचनाकाल से मानना उचित है, किसी युग के साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का उद्भव चमत्कारिक घटनाओं के रूप में यकायक नहीं हुआ करता अपितु उसका बीज उसके वातावरण में गहरा जमा होता है और उपयुक्त परिस्थितियों से पोषण पाकर अंकुरित एवं पल्लवित हो जाता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नवयुग की चेतना का विकास वड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। इस अध्याय में आधुनिक काल की राजनैतिक परिस्थितियाँ, सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन है तो गोरखपंथी गद्य, वैष्णव गद्य साहित्य व्रज भाषा की टीकाओं का गद्य, राजस्थानी गद्य साहित्य मैथिल गद्य का विशद विवेचन है तो दूसरी ओर हिन्दी के प्रारम्भिक गद्यकार मुंशी सदा सुखलाल, मुंशी इंशाअल्ला खाँ, लल्लू लाल जी, सदल मिश्र, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, लक्ष्मण सिंह, बाबू नवीन चन्द्र राय, श्रन्द्धाराम फुल्लौरी के ऊपर गहन प्रस्तुतीकरण है। आचार्य द्विवेदी ने भारतेन्दु साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है – भारतेन्दु ने कविता को अधोगति के पंथ से उवारा, उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ से दरवारी पन से निकालकर जीवन के आमने – सामने खड़ा कर दिया। नाटकों में तो उन्होंने युगान्तर उपस्थित कर दिया। इसी सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी ने ठाकुर जगमोहन सिंह, वद्री नारायण चौधरी, श्री निवास दास, अम्विका दत्त व्यास, पं0 सुधाकर द्विवेदी, राधाकृष्ण दास की चर्चा की है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग को उन्होंने साहित्य का बहुमुखी उन्नत का काल माना है, द्विवेदी जी के वारे में उनका विचार है कि सरस्वती पत्रिका के माध्यम से नये ढंग के लेख लिखने के लिए लेखकों को उद्बुद्ध किया। आधुनिक कहानीकारों में बंग महिला, प्रसाद, गुलेरी, प्रेमचंद, सुदर्शन, बालकृष्ण भट्ट, देवकी नन्दन खत्री के साहित्य की व्यापक चर्चा है। आधुनिक काल में निबंध, आलोचनाएं, लिखी गयीं। हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, मुकुटधर

पाण्डेय, गोपाल शरण सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी इस काल के प्रमुख कवि हैं।

आठवाँ अध्याय आधुनिक काव्यधारा एवं आचार्य द्विवेदी से सम्बन्धित है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल का तृतीय उत्थान छायावाद युग के नाम से जाना जाता है। द्विवेदी युग की साहित्यिक प्रवृत्त्यों का रूपरंग परिवर्तित हुआ और उसके बाद जिन प्रमुख प्रवृत्तियों को प्राधान्य मिला वे छायावादी युग की थीं। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता, स्थूल दृष्टि एवं साहित्यिक मान रूढ़िग्रस्त हो गये और नवीन सूक्ष्म सौन्दर्यशाली दृष्टि का विकास हुआ। छायावाद के नाम पर आचार्य द्विवेदी का मत है कि छायावाद का नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए बिना, बिना बिचारे ही दे दिया गया था जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी जिनमें छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिका से बचने का प्रयत्न था, छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था, उसके ऊपर केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था, कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा शैली को स्वीकार किया। छायावाद की निम्न विशेषताओं को आचार्य द्विवेदी ने उल्लिखित किया है, विषयी प्रधान कविता, कल्पना, चिन्तन, सौन्दर्य चेतना, प्रगति मुक्तक। छायावाद के प्रमुख कवि पन्त, निराला, प्रसाद, महादेवी, बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन', बच्चन, दिनकर आदि प्रमुख हैं तो उपन्यासकार और कहानीकारों में सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र कुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अज्ञेय। इस काल में रूपक नाटक भी लिखे गये। रामकुमार वर्मा और उदय शंकर भट्‌ट के एकांकी बहुत पसंद किये गये। छायावाद के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है – यह काल साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल है, काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रों में इस समय खूब समृद्धि आयी।

'प्रगतिवाद' ह्रासोन्मुखी छायावाद की युग साहित्य से ही जन्मा है फिर भी अपनी मूलभूत प्रेरणा में उससे एकदम भिन्न है यह व्यापक सामाजिक चेतना वाला साहित्य है जिसमें मार्क्स सामाजिक यथार्य को अतिशय महत्त्व दिया गया है। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई, प्रेमचन्द इसके सभापति हुए। सामाजिक यथार्थ, सामाजिक समस्याओं के प्रति सचेष्टता क्रान्ति की भावना, बौद्धिकता एवं व्यंग्य का प्रसार, राष्ट्रीय भावना, नारी स्वातंत्र्य की पुकार, शोषितों के प्रति करुण गान, मुक्त छन्द इस वाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं तो प्रमुख कवियों में शिवमंगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन, पन्त, प्रमुख हैं। प्रगतिवाद के दोष की चर्चा करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारों का सम्बन्ध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है, पार्टी का इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के मार्ग में आना हितकर नहीं हो सकता। कई प्रगतिवादी लेखक पार्टी के अंकुश को बर्दाश्त न कर सकने का कारण उससे अलग हो गये।

साहित्येतिहास के विकास में आचार्य द्विवेदी का योगदान यह अंतिम अध्याय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इतिहासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी में कामचलाऊ इतिहासकार और आलोचक बन जाना तो सरल है लेकिन सार्थक और समर्थ इतिहासकार बनना दुष्कर। आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य रचना तथा आलोचना की परम्पराओं की गम्भीर ज्ञान, स्वतंत्र चिंतन, गहरी कलात्मक संवेदनशीलता, सामाजिक चेतना और वस्तुनिष्ठ दृष्टि के आधार पर एक सुनिश्चित मूल्य व्यवस्था और मूल्यांकन की पद्धति का विकास किया। उन्होंने अपने निर्मात साहित्य विवेक और हिन्दी साहित्य के विकास की गति की अचूक पहचान के कारण आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रगतिशील परम्परा का सूत्रपात किया और हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का एक पक्का और

व्यवस्थित ढाँचा निर्मित किया। आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण का निर्माण भारतीय साहित्य के प्रगतिशील आन्दोलन के काल में हुआ था, उनके साहित्य विवेक पर प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभाव कई रूपों में पड़ा। इस प्रभाव के कारण ही द्विवेदी जी साहित्य के विचारात्मक पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं। वे मध्यकालीनता को पतनोन्मुख और दी हुई मनोवृत्ति मानते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार आधुनिकता और आधुनिक रचनाकार की विशेषता सचेत परिवर्तनेच्छा है।

द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि में नवीनता विशेष रूप से साहित्यिक मूल्यांकन में ही प्रकट हुई है। आचार्य शुक्ल ने सिद्धों और नाथों की रचनाओं को साहित्यिक रचनायें मानने से इनकार किया था। सिद्धों और नाथों को शास्त्र निरपेक्ष बाह्याडम्बर, जातिपांति और रूढ़ियों का खण्डन करने वाली उग्र विचार धारा से भरपूर रचनाओं को द्विवेदी जी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। आचार्य द्विवेदी ने कृष्ण भक्ति और सूर की कविता पर भी नये ढंग से विचार किया है।

आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि की प्रमुख विशेषता हैं, परम्परा की खोज और उसके रचनात्मक प्रभाव का मूल्यांकन।

द्विवेदी जी के अध्ययन, इतिहास लेखन और आलोचना के केन्द्र में भक्ति आन्दोलन और उसका साहित्य रहा है और प्रगतिशील आन्दोलन से उनकी गहरी सहानुभूति रही है, इसलिए वे भारतीय साहित्य के इतिहास की सम्भावना पर विचार करने में सक्षम हुए। हिन्दी साहित्य के इतिहास को भारतीय साहित्य के इतिहास के अंग के रूप में देखने की नई दृष्टि विकसित कर सके, यह आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि की व्यापकता और विकासशीलता का प्रमाण है।

और अन्त में आभार प्रदर्शन –

पूज्या माता जी श्रीमती तारकेश्वरी त्रिपाठी, भूतपूर्व विभागाध्यक्षा, समाजशास्त्र – ज्वालादेवी डिग्री कालेज कानपुर ने मुझे इस योग्य बनाया कि शोध कार्य कर सकूँ, उनको सादर प्रणाम।

डॉ0 वेद प्रकाश द्विवेदी, रीडर अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, सुधी विद्वान एवं चिन्तक हैं; शोध प्रवन्ध लिखने में अथ से इति तक उनका निर्देशन प्राप्त हुआ, उनके प्रति आभारी हूँ, कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।
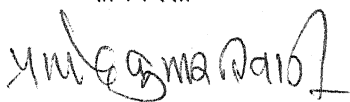
पत्नी श्रीमती सावित्री तिवारी ने मुझे सम्वल दिया, उनको क्या लिखूँ, भावनायें तो उन्हीं की हैं।

भाई श्री पीयूष तिवारी ने सारस्वत सहायता प्रदान की, उनके प्रति आभार एवं शुभकामनाएं।

पुत्र चि0 सौरभ, सुधांशु, सुलभ, पुत्री शिप्रा एवं बहू श्रीमती उपासना को उत्सुकता थी कि मेरा शोध–कार्य कब पूरा हो, उनकी आँखों में आशा की चमक है, इन सबको असीम आशीर्वाद।

युवा दम्पति श्री विमल कुमार तिवारी, श्रीमती सुनीता तिवारी आकृति टंकण संस्थान ने मेहनत, लगन से इस शोध प्रवन्ध को टंकित किया, उनके प्रति शुभ कामनाएं।

शोधकर्त्ता

(प्रमोद कुमार तिवारी)

एम0ए0 (हिन्दी), एल0टी0
सी0ई0एम0 (यूके)
मटियारा रोड, इलाहाबाद

अध्याय – 1

साहित्य का इतिहास दर्शन

इतिहास शब्द का अर्थ और प्रयोग

इतिहास शब्द का अर्थ है इति-ह-आस अर्थात यह ऐसा हुआ। भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम इतिहास शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में हुआ।[1] शतपथ ब्राह्मण[2] जेमिनीय वृहदारण्यक[3] एवं छांदोग्योपनिषद[4] में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। वैदिक साहित्य में अन्वाख्यान तथा इतिहास का विभिन्न कृतियों के रूप में उल्लेख है। इतिहास, पुराण और आख्यान सबका उल्लेख पृथक् - पृथक् रूप से हुआ है। इतिहास का विषय निम्नांकित है -

"आर्प्यादि" बहुआख्यानं देवर्षि चरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुत धर्मयुक।।[5]

इतिहास का आदर्श महाभारत कार वेदव्यास के अनुसार निम्नांकित है -

"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृन्त कथा युक्तमिति हासं प्रचक्षते।।[6]

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मावन व्यवहार का प्रत्येक क्षेत्र सन्निविष्ट है। घटनाओं की आवृत्ति तथा मात्र युद्धों तक सीमित रखना इतिहास की एकांमिता निधारित करना है। इतिहास, सम्राटों की यशोगाथा ही नहीं गाता, वह मनुष्य को शिक्षा भी देता है। सम्भवतः कर्लाइल ने इस तथ्य को हृदयंगम किया था, इसीलिए उसने लिखा थाः

"इतिहास वैसा दर्शन है जो दृष्टांतों के माध्यम से शिक्षा देता है।"[7]

---

1. 15, 6, 41
2. 13, 4, 12, 13.3
3. 2, 4, 16, 5, 11
4. 3, 4, 1, 21
5. श्री धर स्वामी रचित विष्णु पुराण के 3.4.10 की टीका में उद्धृत
6. महाभारत - वेदव्यास
7. साहित्य का इतिहास दर्शन :- नलिन विमोचन शर्मा, पृ0 सं0 3 से उद्धृत (नलिन विलोचन)

इतिहास शब्द का अर्थ क्या है? इतिहास शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। घटनाओं के घटित होने की प्रक्रिया अथवा क्रम के लिए अधिकाँशतः इतिहास शब्द का व्यवहार किया जाता है। जब हम किसी महान् सम्राट को इतिहास का निर्माता कहते हैं तब हमारा आशय यह नहीं होता कि वे घटनाक्रम को लिपिबद्ध करने वाले इतिहास लेखक हैं। हम इतिहास निर्माता द्वारा यह भाव व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं कि उन्होंने विश्व के घटना प्रवाह का एक सीमा विशेष तक नियन्त्रित किया है अथवा उसे एक नया मोड़ दिया है। इसी प्रकार **इतिहास का प्रभाव** का अर्थ इतिहास ग्रन्थों के प्रभाव से न होकर परिस्थितियों के प्रभाव से है। इतिहास शब्द का यह स्पष्ट और समीचीन प्रयोग तो नहीं कहा जा सकता है, परन्तु संसार के घटना प्रवाह के लिए किसी उचित शब्द के अभाव में इतिहास शब्द का ही प्रयोग होता है।

इतिहास शब्द अपने दूसरे अर्थ में परम्परा के लिए प्रयुक्त होता है इतिहासपरम्परा का आकलन करता हे, आलेखन करता है। यही इसका अधिक प्रचलित और उचित प्रयोग है। इसी अभिप्राय में भारत, रूस, जर्मनी अमेरिका आदि के कला दर्शन, साहित्य अथवा किसी ऐसी वस्तु के इतिहास का उल्लेख होता है जो काल क्रमानुसार विकसित हुई है और अपने पीछे विकास की एक परम्परा छोड़ती गई है।

इतिहास शब्द का तीसरा अर्थ गवेषणा अथवा गवेषणा से उपलब्ध जानकारी से है। गवेषणा की प्रक्रिया कोई भी हो सकती है। इसका विशुद्ध अर्थ है सत्य का अन्वेषण।

इतिहास का चौथा और अपेक्षाकृत नया अर्थ है इतिवृत्त – हिस्टोरियोग्राफी। इतिहास ने यह नया क्षेत्र विकसित किया है।

पश्चात्य इतिहास दर्शन एक अत्यन्त समृद्ध विधा है। हिरोदतस से लेकर आधुनिक युग के अनेक विचारकों ने उसका रूप संवारा है। कुछ सर्वमान्य परिभाषायें इस प्रकार हैं –

History is the Science of Men in Time----**Bloctt.**

History is the record of what one age finds worthy of note in another --------**Burckhardt**

History is a continuous process of interaction between the historian and his facts an uneding dialouge between the present and the past ----------**E.H. Carr.**

History is a significant record of events of the past it is a meaningful story of mankind depicting the details of what happend to man and why it happened.

History is a series of events and each event occurs at a given point in time. It is time that provides continuity in history, for changeis a fundamental factor in history and in all change here is also continuity.

History is a significant record of events of the past, it is a meaningful story of mankind depicting the details of what happened to man and why it happened.

History is the story of man's struggle

through the ages against Nature and the elements, against wil beasts and the jungle and the do last and most difficult of all, against some of his own kind who have tried to keep him down and to exploit him for their own benefit-Nehru.

ये सभी परिभाषायें कुछ निश्चित तथ्यों की तरफ संकेत करती हैं। इतिहास मानव का अध्ययन है। यह मानव, सामाजिक स्थितियों में रहने वाला, उनसे निरन्तर संघर्ष कर उनसे ऊपर उठने के प्रयास में रत मानव है। वह सम्पूर्ण **सामान्यजन** है। व्यक्ति विशेष अथवा वर्ग विशेष नहीं। मानव का यह अध्ययन काल सापेक्ष्य है और काल अखण्ड है। उसे अतीत वर्तमान, और भविष्य के स्तरखण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता। ये नाम, रूप सापेक्ष्य हैं, जो निरन्तर गतिशील है।

श्री नलिन विलोचन शर्मा ने इतिहास शब्द का प्रयोग चार अर्थो में बताया है -

(1) घटनाओं के घटित होने की प्रक्रिया अथवा क्रम के लिये ही अधिकांशतः इतिहास शब्द का व्यवहार किया जाता है। जब हम किसी महान सम्राट को इतिहास का निर्माता कहते हैं, तब हमारा आशय यह नहीं होता कि वे घटना क्रम को लिपिबद्ध करने वाले इतिहास लेखक हैं। अभिप्राय यह है कि उन्होंने विश्व घटना प्रवाह को एक सीमा विशेष तक नियंत्रित किया है, अथवा उसे एक नया मोड़ प्रदान किया है। इसी प्रकार **इतिहास के प्रवाह** से तात्पर्य है परिस्थितियों के प्रभाव से।

(2) इतिहास परम्परा के लिए भी प्रयुक्त होता है। परम्पराओं से तात्पर्य घटनाओं अथवा उनके अंशों के प्रभाव से है। इतिहास परम्परा का आकलन करता है। उसी अभिप्राय में भारत, रूस, जर्मनी, अमेरिका आदि के

कलादर्शन, साहित्य अथवा किसी ऐसी वस्तु के इतिहास का उल्लेख होता है जो काल क्रमानुसार विकसित हुई है और अपने पीछे विकास की एक परम्परा छोड़ आई है।

(3) इतिहास शब्द का तीसरा अर्थ है, गवेषणा अथवा गवेषण से प्राप्त जानकारी या गवेषण की किसी प्रक्रिया से उत्पन्न ज्ञान। इसका अन्तर्निहित भाव है सत्य का अन्वेषण, अनुसंधान, अनवरत, अनुसरणी।

(4) इतिहास का चौथा और अपेक्षाकृत नया अर्थ है इतिवृत्त–हिस्टोरियोग्राफी।[1]

इतिहास की सामग्री

एक्शन का कथन है कि **पूर्व इतिहास** हम अपनी पीढ़ी में नहीं पा सकते किन्तु परम्परागत इतिहास के सम्बन्ध में अपनी राय दे सकते हैं, और वे ऐतिहासिक बिन्दु दिखा सकते हैं, जो एक मार्ग तक पहुँचे और किस तरह प्रत्येक समस्या अपने समाधान तक पहुँची। परन्तु वर्तमान शताब्दी को तथ्यों का युग कहा जा सकता है। युग के वैज्ञानिक विकास के साथ हमारा चिन्तन धीरे–धीरे तार्किक होता जा रहा है और अब किसी भी वस्तु की विश्वसनीयता के बारे में पहला प्रश्न तथ्यों का आता है। चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यास **हाई टाइम्स** का नायक ग्राडग्रिंड कहता है "मैं तथ्य चाहता हूँ मात्र तथ्य ही जीवन में आवश्यक हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग सभी इतिहासकार इससे सहमत हैं।"[2]

ऐतिहासिक घटनायें क्या हैं? इस सम्बन्ध में विवाद हो सकता है। कार के अनुसार, हैस्टिंग्ज का युद्ध 1066 में लड़ा गया, न कि 1065 या 1067 में और यह तय है कि हैस्टिंग्ज में लड़ा गया था। यहाँ पर हाउसमैन

---

1. साहित्य का इतिहास – दर्शन – नलिन विलोचन शर्मा
2. कार – पृ0 –8

की यह उक्ति महत्त्वपूर्ण है कि "चौकस सही होना कर्त्तव्य है न कि गुण। इस प्रकार की घटनाओं के संग्रह के बारे में इतिहासकार की प्रशंसा करना बिलकुल उसी प्रकार होगा, जैसे कि एक शिल्पी की प्रशंसा मकान में अच्छी लकड़ी या अच्छे ढंग से मिश्रित सीमेण्ट और कंकरीट लगाने के कारण की जाय। इस प्रकार के तथाकथित तथ्य, जो कि प्रत्येक इतिहासकार के लिए समान महत्त्व रखते हैं कच्चे माल के रूप में हैं। जिनसे किसी वस्तु का निर्माण होता है। कई लोग कहते हैं कि घटनायें स्वयं बोलती हैं लेकिन इसमें भी अधूरा सत्य है। घटनायें तभी बोलती हैं, जबकि इतिहासकार के द्वारा उन्हें बोलने के लिए बाध्य किया जाता है। यह उसका ही कार्य है कि वह तथ्यों या घटनाओं का किस रूप में प्रयोग करता है, अर्थात उनसे सम्बन्धित अन्य पहलुओं को उद्घाटित कर, वह उस घटना की विशेषता के सम्वन्ध में प्रकाश डालता है। हेस्टिंग्ज के युद्ध में हमें इसलिए रुचि नहीं है कि वह 1066 में लड़ा गया, वरन् इसलिए कि वह क्यों महान युद्ध के नाम से पुकारा जाता है? इतिहासकार का कार्य मात्र युद्ध से सम्बन्धित तथ्यों को दे देना न होकर यह भी होता है कि इस युद्ध की उन सूक्ष्मताओं को खोजें, जिसके आधार पर अन्य युद्धों से उसे विशेष श्रेणी में रखा गया है।"[1]

इस आधार पर इतिहास की सामग्री को दो भागों में प्रस्तुत किया जा सकता है, ध्रुव सामग्री एवं चल सामग्री –

ऐतिहासिक तथ्य

		इतिहास
ध्रुव सामग्री	चल सामग्री	सांस्कृतिक इतिहास
ऐतिहासिक ग्रन्थ	दंत कथायें	
मुद्रा	पौराणिक ग्रन्थ	रीति–रिवाज
सिक्के	धार्मिक ग्रन्थ	परम्परा
स्तम्भ	वैज्ञानिक ग्रन्थ	लोक विश्वास
अभिलेख आदि	साहित्यिक ग्रन्थ	संश्लिष्ट संभाव्यता

ध्रुव इतिहास तो ज्ञात इतिहास का वह भाग है, जिसमें कालान्तर में किस प्रकार का महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं आता, क्योंकि उसके प्रमाण मूर्त्त हैं। इसके विपरीत चल इतिहास का सम्बंध इतिहास के उस स्वरूप से है, जिसके लिए भूतकालीन प्रमाणिक स्मारक उपलब्ध नहीं है, किन्तु अनुमानित होते हुए भी उससे इतिहास की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं, साथ ही उसके अभाव में ज्ञात इतिहास की सारी कड़ियाँ जुड़ भी नहीं सकतीं। कालान्तर में अन्य प्रमाण उपलब्ध होने पर **चल इतिहास** में पर्याप्त परिवर्तन किया जा सकता है। चल इतिहास के आधार प्राचीन कथायें लोक-विश्वास और रीति-रिवाज होते हैं। जिनको समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक दृष्टियों से विचार करने के उपरान्त अनुसन्धान द्वारा इतिहास के समकक्ष मान लिया जाता है। समस्त संसार का प्राचीन इतिहास अधिकांश दंत कथाओं में है।

जनकल्पनायें > नये आख्यान > इतिहास

मूल इतिहास

आख्यान

मूल इतिहास + लोक आख्यान = नया आख्यान साहित्य

आख्यान + इतिहास = नया इतिहास

"इतिहास में कल्पना के संयोग का यह कार्य एक व्यक्ति का नहीं होता, सहस्त्रों वर्षों तक लोक मानस की बहुमुखी प्रतिभा अनजाने इस कार्य को करती है, और वैयक्तिक इतिहास की धारा को शत-शत धाराओं में बाँट कर समग्र जनता की वस्तु बना देती है। मूल आधार ऐतिहासिक होता है। लोक मानव मौखिक पर ज्ञात इतिहास पर ही कल्पनाओं की परतें जमाता चलता है।"[1]

---

1. साहित्येतिहासः संरचना और स्वरूप पृ0सं0 81

इतिहास-दर्शन के सम्बन्ध में भारतीय अवधारणा

भारतीय ऐतिहासिक बुद्धि एवं ऐतिहासिक विधा पर पाश्चात्य ऐतिहासकारों द्वारा जो आरोप लगाये गये हैं, वे मूलतः दो प्रकार के हैं –

1. सामग्री का अभाव
2. ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव

ऐतिहासिक सामग्री के अभाव की बात अब कोई नहीं करता, क्योंकि वह अनुसन्धान द्वारा दिन-प्रति-दिन प्रचुर होती जा रही है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थ, कला के प्रतीक, सिक्के, सभी कुछ इतिहास को उद्घाटित कर रहे हैं।

दृष्टिकोण की बात अपनी जगह अब भी हे। इस प्रकार की आलोचनाओं का कारण इतिहास का वह दृष्टिकोण था, जिससे ये विद्वान परिचित थे, जिसमें इतिहास निश्चित तिथियों के ढाँचे पर लपेटा गया राजाओं का सूची पत्र था। सम्पूर्ण युग की अन्तर्चेतना को उद्घाटित करने वाला इतिहास बाद में अन्वेषित हुआ। इसी लिए तत्कालीन आलोचकों ने भारतीय इतिहास को शब्द पहेली के समकक्ष रखा है, जिसमें प्रायः जितना कुछ होता हे उतना ही अपनी तरफ से भी जोड़ना पड़ता हे –

'The early history of India resembles ajigsow puzzle with many missing pieces some parts of the picture are fairly clear. Others may be reconstructed with the aid of controlled imaginetion, but many gapes remain.'[1]

भारतीय परम्परा में **इतिहास** शब्द का प्रयोग प्रायः **पुराण** के समकक्ष एवं साथ-साथ हुआ हे। इतिहास का विषय हे –

---

1. The wonder that was India. P-44

आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवर्षि चरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयक्।।

महाभारत के अनुसार इतिहास का लक्ष्य है –

धर्मार्थ काममोक्ष क्षामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्त कथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते।।

अर्थ–धर्म–काम–मोक्ष के अन्तर्गत मानव–जीवन का सम्पूर्ण कृतित्व समन्वित हो जाता है और ऐसे इतिहास की व्याख्या केवल तिथिक्रम के आधार पर नहीं की जा सकती। यह परिभाषा की पद्धति एवं उद्देश्य दोनों ही स्पष्ट कर देती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि **बल** कथात्मक व्यवस्था पर है। **कथा कहना** अपना विशिष्टि मूल्य रखता है कारण परम्पराओं को हस्तान्तरित करने के लिए मौखिक साधन ही उपलब्ध थे। ये कहानियाँ गद्य में भी हो सकती हैं और पद्य में भी। इस पद्धति का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि इससे कथा कहने वाले की कल्पना उत्तेजित हो जाती थी और इस प्रकार इतिहास की मौखिक परम्परा विकसित होती रही।

श्री नेहरू ने भारतीय ऐतिहासिक परम्परा को अच्छी तरह पहचाना है। वे लिखते हैं –

"The lack of historical scence did not affect the masses, they built up their view of the past from traditional accounts, myths and stories.... this imagined history, mixture of fact and legend, gave an abiding cultural background. It is the living history buildround historical events that had captured the imagination of the people and inspired their actions."

इस प्रकार इतिहास की भारतीय अवधारणा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों द्वारा नियन्त्रित होती रही है। तथ्य संकलन मात्र पर बहुत कम ध्यान दिया गया है, मुख्य ध्यान ऐतिहासिक घटनाओं के व्यापक प्रभाव की ओर है। ऐतिहासिक चरित्र, पौराणिक एवं अतिमानवीय व्यक्तियों में रूपान्तरित हो गये हैं, इसलिए ऐतिहासिक घटनायें वर्णनात्मक एवं आख्यानात्मक हो गयी हैं, क्योंकि ये कहानियाँ घटनाओं से अधिक आकर्षक थी, घटनाओं के प्रति एवं कलात्मक एवं कल्पनात्मक दृष्टिकोण विकसित हो गया।

<u>इतिहास दर्शन के सम्बन्ध में पाश्चात्य अवधारणा –</u> इतिहास सम्बन्धी भारतीय मत का उल्लेख इतिहास के अर्थ के साथ किया जा चुका है। भारतीय प्रतिभा सदेव अपने विषय में मौन रही है। आत्मप्रचार एवं आत्मप्रचार की भावना से वह सदा दूर रही है। यही कारण है कि पाश्चात्य जगत् में यह धारणा प्रचलित हो चली है कि उनके इतिहास विषयक प्रयत्न अव्यवस्थित, अपूर्ण एवं दोषयुक्त हे। इतिहास में तिथि अथवा समय का बड़ा महत्त्व है। भारतीय पुराणों में यहाँ तक कि बाल्मीकि रामायण में अनेक राजवंशावलियों का उल्लेख हुआ है। उनमें प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है, परन्तु वे इतिहास कहाँ हैं? इतिहास के कुछ तन्त्व उनमें अवश्य हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने जब भारतीय इतिहास का अनुसंधान किया तो उन्हें यह अभाव विशेष रूप से अखरा और उन्होंने कठोर शब्दों में इस अभाव की चर्चा की । पारर्जिटर का मत है:

"Ancient India has bequeathed to us no historical work."

ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आने वाले प्रसिद्ध अरबी यात्री अलवेरूनी ने भी कुछ इसी प्रकार का मत प्रकट किया है :

"Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things, they are very concless in relating the cronological succession of their kings and when they are pressed for information and we are at a loss, not knowing what to say, the invarisly take to romaineing."[1]

मेकडोनल का भी यही मत है कि प्राचीन भारतियों में ऐतिहासिक विवेक का अभाव था:

"History is one weak point in India History. It is in fact non existent. The total lack of historical sense is so characteristic that the whole course of sanskrit literature is darkened by the shadow of this defect, suffering as it does from an entire absence of chronology."[1]

पार्जिटर फिर भी स्वीकार करता है कि पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में परम्परा प्राप्त पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री संकलित और सुरक्षित है। पार्जिटर ने अपनी पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर महाभारत तथा पुराणों से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं और आगे चलकर मुक्त कंठ से परम्परा का महत्त्व स्वीकार किया है:

"Tradition .... is the only resource. Since historical works are wanting and is not an untrustworthy guide. In ancient times men new perfectly well the difference between truth and falsehood , as abundant proverks and saying show. It was natural there that they showed discriminate what was true and presentive it, and historical tradition must be considered in this light."[2]

वस्तुतः भारतीय इतिहास विषयक पाश्चात्य मत अनेक भ्रान्त और भ्रामक धारणाओं पर आधारित हैं। भारतीय इतिहास-लेखन पद्धति पाश्चात्य इतिहास-लेखन पद्धति से सर्वथा भिन्न रही है। पाश्चात्य दृष्टिकोण से देखने

---

1. Alberuni's India, E.S. Sachan - P.P. 10
2. Ancient India Historical Tradition- Pargieter - P.P. 6

के कारण ही ये समस्त विद्वान भारतीय कला साहित्य को विवेक सम्मत मूल्यांकन नहीं कर पाये और न ये प्रचलित भारतीय इतिहास प्रणाली को ही समझ पाये।

प्राचीन भारतीय मनीषी द्वारा लिखे गये साहित्य से इतर साहित्य में काल-क्रम अथवा तिथि का अभाव नहीं है। आज अनेक कारणों से यह अस्पष्ट, धुंधला और कभी-कभी संदिग्ध प्रतीत होता है। काल-क्रम का वास्तविक अभाव तो भारतीय साहित्येतिहास में है। डब्लू0 डी0 ह्विटनी का मत है :

"All dates given in India literary history arepins set up to be bowled down again"[1]

इससे बढ़कर कटु सत्य तो यह है कि भारतीय इतिहास के काल-क्रम को उन पाश्चात्य विद्वानों ने कहीं अधिक जटिल बना दिया है जो काल-क्रम के लिए यूनानी और चीनी साक्ष्य पर निर्भर रह कर भारतीय परम्परा की उपेक्षा करते आये हैं। परम्परागत काल-क्रम को अस्वीकार कर पाश्चात्य विचारकों ने हमारे इतिहास के सम्बन्ध में तिथि क्रम की जो भीषण समस्या खड़ी की हे उसका समाधान नये सिरे से ढूँढ़कर हमें यह स्थापित और प्रमाणित करना है कि कालिदास का समय 57 है ई0 पू0 विक्रम के समकालीन थे। वेद, महाभारत, रामायण आदि के सम्बन्ध में यही महत्कार्य कर हमें उनकी चुनौती का स्पष्ट परन्तु मर्यादित उत्तर देना है।

सेन्सबरी तथा लिगोइस और कजामियाँ का इतिहास विषयक दृष्टिकोण :

हिन्दी के साहित्येतिहास विषयक ग्रन्थ अंग्रेजी साहित्येतिहास लेखन प्रणाली से प्रभावित है। अंग्रेजी भाषा में अनेक साहित्येतिहास ग्रन्थ लिखे गये हैं, इन सब का नाम न लेकर उनके प्रतिनिधि स्वरूप सेन्सबरी तथा लिगोइस और कजामियां के साहित्येतिहास विषयक विचार जान लेना अधिक उचित होगा।

---

1. Ancient Indian Historical Tradition Pargiter P.P. 2

प्रसिद्ध अंग्रजी इतिहासकार सेन्सबरी ने अपने इतिहास की भूमिका में अपनी इतिहास विषयक मान्यताओं का संकेत निम्न प्रकार किया है –

The object of this book, which was undertaken more than four years ago, is to give from the literary points of view only and from direct reading, of the literature itself as full as well as supplied, and as conviently arranged a store house of facts as the writer could provide. The substitution of birdeye views and sweeping generalisations for positive knowledge has been very sedulourly avoided, but it is hoped that the system of inter chapters will provide a sufficient chain of historical summary as to general points, such as for instance, the nature and progress of English prosody and the periods of prose style. No part of this books had been delivered as lecturers and the sections of it concerning the Elizabethan period and the Nineteenth Century are not replieas of previous work on those subject.

कोई अपरिपक्व मस्तिष्क ओर एक अत्यन्त अविवेकी भी स्वीकार करेगा. क्योंकि वह दूसर से ऐसी आशा रखे कि उसके द्वारा निर्मित इतिहास में अशुद्धियाँ न हों परन्तु लेखक केवल तथ्य सम्वन्धी भूलों के लिए ही उत्तरदायी नहीं हे जो दृष्टि से ओझल ही है परन्तु वह उन समस्त मतों और आलोचनात्मक निर्णयों के प्रति भी उत्तरदायी है जो पुस्तक में व्यक्त हुए हैं। उसका उद्देश्य एकमात्र अपने निर्णयों को प्रचलित देखना ही नहीं है, अपितु उसका ध्येय तो उस दृढ़ आधार भूमि का निर्माण करना है जिसके अभाव में समस्त आलोचनात्मक निर्णय महत्त्वहीन ओर मूल्यहीन हो जाते हैं और जिसके आधार पर ऐसे मत आसानी से स्थापित किये जा सकते हैं।

सेन्सबरी के इस कथन से निम्नांकित तथ्य स्पष्ट होते हैं –

(1) विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण तथा अन्तर्प्रकरण की व्यवस्था ऐतिहासिक निष्कर्ष को भली–भाँति व्यक्त कर पाते हैं।

(2) इतिहास लेखन में तथ्य सम्बन्धी भ्रान्तियों के सम्बन्ध में सदा सजग रहना चाहिए और इतिहास में जहाँ तक हो सके, वे न तो श्रेयस्कर हैं।

(3) इतिहासकार का एक निजी मत होना आवश्यक है और वह मत अपने आप में आलोचनात्मक होना चाहिए।

इन समस्त निष्कर्षो से हमारा कोई विरोध नहीं है। इतिहास में सही तिथि सम्बन्धी सही सूचना का होना आवश्यक है अन्यथा इतिहास का अर्थ ही क्या रह जायेगा। इतिहासकार साहित्य को एक सांस्कृतिक चेतना के एक विराट परिवेश में परखे और तत्पश्चात् उस पर अपना आलोचनात्मक मत व्यक्त करे। प्रकरण एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध हो कि कहीं कुछ रिक्तता का अनुभव न हो। हमें इन सब के साथ यह और कहना है कि साहित्येतिहास में विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण तो रचनाओं के मूल्यांकन में रखा जा सकता है। परन्तु पेतृक सम्पत्ति और विरासत के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण अधिक उपयोगी ओर विषय को अधिक स्पष्ट करने वाला होता है, अतः इतिहास में उसी को प्रमुखता मिलनी चाहिए।

साहित्येतिहास लेखन में ये सभी बातें अपना योग देती हैं। इन तत्वों का साहित्येतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण स्थान हे परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपकरण भी होते हैं। सोन्दर्यवादी अथवा सोष्ठववादी दृष्टिकोण आलोचना क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हो सकता हे, परन्तु साहित्येतिहास के गुरुतर कार्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही अधिक उपयोगी और विषयोचित होता है। ज्ञान के क्षेत्र में नई रचना ही नई देन नहीं हे, तथ्यों और परम्पराओं को नवीन दृष्टिकोण

से देखना भी नई देन है। अविवेचित तथ्यों को उद्घाटित करना तो इतिहास का मूल कार्य है। रचनाकारों के भावों तथा विचारों का अध्ययन तो इतिहास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। उनके भावों तथा विचारों से परिचित होने पर ही इतिहास लेखन का मार्ग निश्चित किया जा सकता है। इतिहास की चरम सफलता रचनाकारों के व्यक्तित्व एवं प्रभाव का यथार्थ मूल्यांकन है।

विविध भावनाओं के साहित्येतिहास का अत्यन्त संक्षिप्त सिंहावलोकन करने पर इतिहास की विभिन्न प्रणालियों का परिचय प्राप्त होता है। संसार की सभी भाषाओं के साहित्येतिहासों की चर्चा करने की उपेक्षा उन भाषाओं के साहित्येतिहासों की चर्चा करना अधिक संगत होगा। जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को प्रभावित किया है।

आधुनिक इतिहास–दर्शन की विशेषतायें

1. "आधुनिक इतिहास तिथियां और व्यक्तियां के स्थान पर मूल चेतना एवं उपलब्धियों पर विशेष बल देता है।

2. गत शताब्दी में इतिहास का क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ है। आज इतिहास का सम्बन्ध मानव के पूर्ण अतीत से समझा जाता है।

3. आधुनिक इतिहास को स्मृति से जोड़ दिया गया है। इस दृष्टिकोण से इतिहासकार उन्हीं तथ्यों का अध्ययन करता है जो उसके भीतर प्रतिध्वनित होते हैं।

4. आधुनिक इतिहासकारों की धारणा है कि संस्कृति एक प्रकार की इकाई है जो व्यक्तियों से परे है। इतिहास का वास्तविक अध्ययन इन्हीं संस्कृतियों का अध्ययन है।

5. संस्कृति का सबसे सच्चा दर्पण कला है चिंतन की कृत्रिम पद्धति इसे दूषित नहीं कर पाती। अतः कला के माध्यम से संस्कृति का अध्ययन किया जा सकता है।

6. आधुनिक इतिहास–दर्शन की प्रवृत्ति दर्शन विश्व का एकीकरण है। इतिहासकार की दृष्टि एवं क्षितिज व्यापक हो गया है। वह सम्पूर्ण इतिहास को मानव एकता की दृष्टि से देखता है।

7. मध्यकालीन इतिहास–दर्शन, महान व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर उनके चारों ओर घूमता रहा है। अब उसके स्थान पर सामान्यजन की प्रतीक्षा की गई है।

8. आधुनिक इतिहास–दर्शन एक ओर विश्लेषणात्मक एवं तर्कपूर्ण विवेचन के छोरों को स्पर्श करता है दूसरी ओर संश्लिष्ट प्रभाव का सृजन करता है।

9. आज का इतिहास जड़ काल खण्डों में नहीं होता, वरन् वह काल को एक अविच्छिन्न धारा के रूप में देखता है। वह स्वीकार करता है कि किसी भी युग में क्रान्तियाँ अचानक नहीं होतीं।

10. मानव समाज में असंख्य घात–प्रतिघात में आधुनिक इतिहासकार ऐसे चिरन्तन नियमों का अन्वेषण करता है जिनका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष और काल विशेष से न होकर मानव सभ्यता के चिरन्तन एवं शाश्वत सत्यों से हैं।"[1]

"साहित्येतिहास"

हिन्दी साहित्य के इतिहास में, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास ही ऐसा है जिसमें सर्वप्रथम साहित्येतिहास को परिभाषित किया गया है एवं उसके लिए निश्चित पद्धतियाँ स्वीकृत की गयी हैं। उनके अनुसार – "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक

---

1. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप पृ0 सं0 90

इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।"[1] इसके पश्चात डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के विविध ग्रन्थों में इतिहास सम्बन्धी विविध धारणायें तो मिलती है, परन्तु पृथक् रूप से इतिहास की परिभाषा उन्होंने नहीं की है।

पाश्चात्य समालोचना के विकास के साथ ही साथ साहित्येतिहास को भी पुर्नपरिभाषित किया गया। हिन्दी साहित्येतिहास का विभाजन उनसे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है। नलिन विलोचन शर्मा ने अपने साहित्य के इतिहास दर्शन में उस प्रकार की परिभाषायें प्रस्तुत की हैं –

प्रतिज्ञा यह हे कि साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर युग विशेष के लेखक समूह की कृति समष्टि का इतिहास ही हो सकता है। इस पर, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुथी हुई आलोचनाओं का रूप ग्रहण करता रहता है।

ऐतिहासिक बोध राष्ट्रीय अथवा भाषागत विशेषताओं का विचार, फिर् पार्थक्य में अन्तर्निहित संपृक्तता का अभिज्ञान तथा युग की प्रवृत्तियों और विकास की चेतना जब प्रत्नतत्वानुसंधान–वृत्ति से समन्वित होते हैं और शताब्दियों में एकत्र होती हुई सामग्री का वे अपने युग की उदात्तता की दृष्टि से उपयोग करते हैं, तब साहित्येतिहास का निर्माण होता है।

यदि साहित्यिक इतिहासकार चाहता है कि स्वयं उसकी कृति तिथि मूलक सूचीपत्र से कुछ अधिक हो और भिन्न हो, तो उसे कार्य कारण–सम्बन्ध और सातथ्य का ज्ञान, सांस्कृतिक परिवेश का कुछ बोध और उस व्यवस्था में यत्किंचित प्रवेश होना ही चाहिए, जिसमें अंशीभूत कलाएं अंशीभूत सभ्यता से

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 सं0 – 1

सम्बन्ध रखती है। उसके साधन में स्थिति स्थापकता आवश्यक है।

डॉ0 राम खेलावन पाण्डेय ने अपने **हिन्दी साहित्य का नया इतिहास** में इतिहास बोध की समस्या पर विचार करते हुए लिखा है – 'इतिहास वही नहीं है जो स्मृत और सुरक्षित रह जाता है बल्कि वह है जिसके स्मरण करने की आवश्यकता का अनुभव हमें होता चलता है और इसीलिए प्रत्येक युग अपने लिए ऐतिहासिक तथ्यों और तत्वों का नवीन संगठन करता है, उसकी संरचनात्मक व्याख्या करता है, साहित्येतिहास का लेखक साहित्यकार ही नहीं, वह वैज्ञानिक है, कला पारखी है, दार्शनिक है और समाजशास्त्रीय भी। साहित्य को जीवन्त ओर प्राणवत् चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित करने का प्रयास आधुनिक काल के साहित्यकार को करना ही पड़ेगा।"

डाक्टर शम्भूनाथ सिंह ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति **हिन्दी साहित्य की सामाजिक भूमिका** में लिखा है। वर्तमान समय में इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा बहुत बदल चुकी है। उस धारणा के अनुसार इतिहास केवल घटनाओं ओर व्यक्तियों के जीवन–वृत्त का संग्रह नहीं है न तो वह विचारधाराओं का आकलन मात्र है। मानव चेतना जिन प्रत्यक्ष या परोक्ष क्रिया–प्रतिक्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती है उनके समग्र रूप का आकलन ही इतिहास है। मानव की प्रत्येक क्रिया उसके परिवेश तथा उसकी अपनी ही अन्य क्रियाओं में विविध रूपों में सम्बद्ध होती है इसी कारण वह उसकी चेतना की समग्र धारा का अंग होती है। अतः इतिहास मानव की विकास–प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। .... अतः भारतीय मानस की विविध क्रिया–प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध करके ही हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखा परखा जा सकता है।"[1]

सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार देखे जा सकते हैं :–

1. साहित्येतिहास कुछ विशिष्ट लेखकों एवं उनकी कृतियों मात्र का

---

1. डॉ0 शंभूनाथ सिंह – हिन्दी साहित्य की सामाजिक भूमिका – प्राक्कथन

अध्ययन नहीं है वरन् युग विशेष की समूहगत कृतियों का समन्वित अध्ययन है।

2. इसमें एक सुनिश्चित ऐतिहासिक बोध होता है।

3. राष्ट्रीय एवं भाषागत विशेषताओं का उल्लेख होता है।

4. विभिन्नता में अन्तर्निहित एकता के सूत्र की खोज होती है।

5. युग तथा प्रवृत्तियों के विकास की चेतना का अनुसन्धान होता है।

6. सदियों से एकत्र सामग्री का प्रयोग इतिहासकार अपने युग की दृष्टि से करता है।

7. कार्यकरण सम्बन्ध निधार्रण करता है।

8. इतिहास के सातथ्य को प्रदर्शित करता है।

9. परिवेश बोध एवं उससे अंशीभूत कलाओं का सम्बन्ध निधार्रण करता है।

10. इतिहास की विषय–वस्तु वह है जो अपनी आवश्यकता का स्मरण दिलाती रहती है।

11. प्रत्येक युग ऐतिहासिक तथ्यों का अपने युग के अनुकूल संगठन करता है एवं उसकी संरचनात्मक व्याख्या करता है।

12. साहित्य के इतिहास लेखक में वैज्ञानिक, कल्याणकारी, दार्शनिक ओर समाजशास्त्रीय समाविष्ट रहते हैं।

13. इतिहास समग्र मानव चेतना की सक्रियता का विवेचनात्मक अभिलेख है एवं साहित्येतिहास को सामान्य मानव इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जा सकता है।

इस दृष्टि से साहित्येतिहास एवं इतिहास समानधर्मी है केवल उसमें विषयवस्तु एवं क्षेत्र सम्बन्धी अन्तर है परन्तु बात वास्तव में इतनी ही नहीं

है उनमें और भी एक मूलभूत अन्तर है, भाषा के माध्यम को लेकर जिसप्रकार भाषा के माध्यम के कारण साहित्य अन्य ललित कलाओं से विशिष्ट हो जाता है। उसी प्रकार सामान्य इतिहास से भी वह अपनी सीमारेखा बना लेता है।

"ऐतिहासिक घटनाएं, जो इतिहास के लिए तथ्य हैं एक बार घटित होकर समाप्त हो जाती हैं और इतिहासकार को उन्हें प्राप्त करना पड़ता है उनका विश्लेषण करना पड़ता है फिर अपनी व्याख्या के द्वारा वह उनका पुनर्गठन करता है। बाबर का प्रथम युद्ध इतिहास की कितनी ही महत्त्वपूर्ण घटना क्यों न हो, वह घटित हो चुकी है, हम केवल तथ्यों के आधार पर उसकी कल्पना कर सकते हैं।"[1]

इस दृष्टि से डब्ल्यू0 पी0 केर का यह कथन सही है कि साहित्य की वस्तुएं सदा वर्तमान रहती हैं, उनका इतिहास होता ही नहीं है। साहित्य का इतिहास सही अर्थ में इतिहास नहीं है, क्योकि यह तो वर्तमान का सर्वव्यापी अनन्त वर्तमान का ज्ञान है। जो कुछ ऐतिहासिक और विगत है, उसमें तथा उस चीज में जो ऐतिहासिक होते हुए भी साथ ही किसी न किसी प्रकार वर्तमान है अन्तर तो हे ही। यहाँ साहित्येतिहास, ललित कलाओं के इतिहास के समकक्ष आ जाता हे परन्तु भापा का माध्यम ग्रहण करने के कारण पुनः विशिष्ट हो उठता है। ललित कलाएं अपने विकास की प्रक्रिया में परिवर्तित नहीं होती हैं। अजन्ता की कला, जो भी हे, वह अपने रूप में स्थिर है, वह मुगल कला का रूप नहीं ओढ़ सकती, ताजमहल को आधुनिक कला का रूप नहीं पहनाया जा सकता परन्तु जीवन्त, तरल, सामाजिक, भाषा को माध्यम के रूप में ग्रहण करने के कारण साहित्य में इस प्रकार के विकास स्वयंभू होते हैं। विशेषतः प्राचीन साहित्य एवं मौखिक रूप से प्रचलित साहित्य के सम्बन्ध में यह अन्तर और भी स्पप्ट हो जाता है।

---

1. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप – पृ0 सं0 93

एक और दृष्टि से भी साहित्येतिहास एवं कला के इतिहास में अन्तर किया जा सकता है। कला में उद्भावित व्यक्तित्व **वैयक्तिक** नहीं **सामूहिक** होता है। प्राचीन स्थापत्य कला के गौरव चिन्ह, अपने निर्माताओं के नाम हमें नहीं बताते। इस प्रकार की कला किसी एक व्यक्ति की रचना भी नहीं हो सकती। इसीप्रकार विभिन्न चित्रकलाओं की विभिन्न पद्धतियाँ अपने **रूप** में पहचानी जाती हैं **कर्त्ताओं** से नहीं। इसी कारण ललित कलाओं का इतिहास विशुद्ध शैलियों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। व्यक्तित्व विहीन विशिष्ट कृतियों कीहमएक सामान्य **रूप** या शैली में अन्तर्भूत कर सकते हैं, परन्तु यही बात साहित्य के लिए नहीं कही जा सकती, इसीलिए कुछ विद्वानों ने यह आरोप लगाया है कि साहित्य का कोई अपना इतिहास होता ही नहीं। इतिहास तो साहित्य लिखने वालों का होता है। इस दृष्टि से साहित्य का इतिहास भाषा एवं दर्शन के इतिहास के समकक्ष रखा जा सकता है; यद्यपि कुछ अंशों में ही।

रेनेवलक ने साहित्येतिहास की कमजोरी के कुछ कारण बताये हैं, जिनमें प्रमुख हैं –

(1) बड़े पैमाने पर एक कला के रूप में साहित्य का विकास निश्चित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। .... या तो हम पुराने शास्त्रीय मानदण्डों को लेकर सन्तोष कर लेते हैं अथवा भावुकतापूर्ण भाषा में यह बताने लगते हैं कि कृति का पाठक पर क्या प्रभाव पड़ता है।

(2) यह पूर्वाग्रह कि किसी अन्य मानवीय क्रिया–कलाप की प्रासंगिक व्याख्या किये बिना साहित्य का इतिहास लिखना सम्भव ही नहीं है।

(3) एक तीसरी कठिनाई साहित्यिक कला के विकास की सम्पूर्ण अवधारणा के कारण है। बहुत कम लोग है जो चित्रकला या संगीत के ऐसे इतिहास के पति आशंका प्रगट करें जो केवल इन्हीं

कलाओं तक सीमित रहे। यदि हम कुछ ऐसी आर्ट गैलरियों में घूम भर जायें जिनमें चित्रों को कालक्रम से या **सम्प्रदायों** के अनुसार रखा गया हो तो मात्र इतने से ही हमें पता चल जायेगा कि चित्रकारों के इतिहास या अलग-अलग चित्रकारों की सराहना अथवा गुण-दोष विचार से अलग चित्रकला का बिलकुल एक स्पष्ट इतिहास है। कोई ऐसा कन्सर्ट जिसमें संगीत रचनाओं को कालक्रमानुसार व्यवस्थित किया गया हो, सुनकर ही हमें पता चल जायेगा कि संगीत का एक ऐसा इतिहास भी है, जिसका संगीतकारों से या उन सामाजिक परिस्थितियों से जिनमें इनकी रचना हुई है, अलग-अलग रचनाओं की प्रशंसा से कोई सरोकार नहीं है।

(4) ऐसा साहित्येतिहास सम्भव ही नहीं हुआ है जो इतिहास भी हो और साहित्यिक भी हो।

(5) साहित्य में सामान्य तथ्य कथन से नितान्त सुगठित कला-कृतियों तक एक क्रमिक संक्रमण दिखायी देता है, क्योंकि साहित्य का माध्यम, भाषा, रोजमर्रा के कार्य-व्यापार की भी भाषा है और विशेष रूप से यह वैज्ञानिक विषयों का भी माध्यम है। इस प्रकार किसी साहित्यिक कलाकृति की सोन्दर्यात्मक संरचना को अलग कर पाना अधिक कठिन है।

(6) साहित्येतिहास के विभाजन, वर्गीकरण, विश्लेषण एवं व्याख्या में साहित्येतर पद्धतियों एवं अवधारणाओं का सहारा बराबर लिया जाता रहा है।

रेनेवेलक का साहित्य को स्वतन्त्र **कला** के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास ही ऐसा है, जिससे तत्सम्बन्धी कठिनाइयाँ खड़ी हो गई हैं। साहित्य के कर्त्ता, उसमें व्यक्त मानव एवं उसके परिवेश से इतिहास को नकारने की प्रवृत्ति ही आगे चलकर **परिवर्तन** से सम्बन्धित कोई विधान नहीं खोज पाती,

क्योंकि वह साहित्य के परिवर्तन और विकास का कारण स्वयं साहित्य में ही खोजना चाहती है, जो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

साहित्येतिहास निर्माण की प्रक्रिया :- "कोई भी साहित्यिक कलाकृति कल्पना का खेल नहीं है, किसी भी उत्तेजित मस्तिष्क का आलोड़न नहीं है अपितु यह समकालीन व्यवहारों, विचारों तथा किसी विशेष प्रकार के मस्तिष्क का अध्ययन **मनन** विवेचन और विश्लेषण है। शताब्दियों पूर्व के मानव को इसके माध्यम से जाना जा सकता है। इस प्रकार के प्रयास किये गये हैं और उनमें सफलता मिली है। इन भावों और विचारों पर चिन्तन कर मनुष्य ने यह अनुभव किया कि उसके भीतर जीवन के उच्चतम सत्यांकाविकास हुआ है। उसने पाया कि यह सत्य समूह किन्हीं घटनाओं से सम्बन्धित है, उन्होंने उन्हें अभिव्यक्ति दी और तत्पश्चात वे स्वयं अभिव्यक्त हुए, इसलिये उनको कोई श्रेणी, विभाग, वर्ग, अथवा पद देना आवश्यक हो गया और वह पद भी इतिहास में। इस पद प्राप्ति के साथ ही इतिहास अपनी विषय-वस्तु, प्रक्रिया कारणों और नियमों की प्रशंसात्मक अभिव्यंजना के साथ परिवर्तित हो गया। यह परिवर्तन भविष्य के लिए भी महत्त्व का है जिसका ध्यान साहित्येतिहास को रखना है।"[1]

किसी भी साहित्यिक कृति के पृष्ठ उलटने पर उसके विषय में क्या सोचा जा सकता है? एक कविता-नियमों के विश्वास की एक घोषणा। यह स्वयं निर्मित नहीं हुई। इसके निर्माण में किसी मनुष्य का हाथ है। उसका अध्ययन मनुष्य को जानने और समझने के लिए है। रचना को रचनाकार से विलग करके नहीं देखा जा सकता। ऐसा करना एक अपराध होगा। समस्त तथ्यों के मूल में मनुष्य है जो शब्दों और कल्पना को अपनी बुद्धि के अनुसार संयोजित करता है। साहित्यिक प्रांगण में वैयक्तिक मनुष्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व है ही नहीं और साहित्येतिहास निर्माण में साहित्यकार को इसी वैयक्तिक मनुष्य के सम्पर्क में आना पड़ता है। जब रूढ़ियों का संरक्षण, काव्य का

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन – पृ0 सं0 – 10

वर्गीकरण, विधान की प्रगति अथवा मुहावरों का परिवर्तन स्वीकार किया जाता है तब केवल पूर्व पीठिका प्रस्तुत होती है। वास्तविक एवं सच्चा इतिहास तब प्रारम्भ होता है जब इतिहासकार समय के अन्तराल को भेदकर उसके रीति – रिवाजों आकृति, आवाजों उसके भाव और परिधान, पूर्ण अथवा अपूर्ण जैसा कि वह वास्तविक जीवन में है; के सम्पर्क में आता है। भाषा एक अपूर्ण साधन से अधिक नहीं है, पूर्ण अथवा पूर्ण साधन तो मनुष्य स्वयं है जो कार्य करता है, क्रियारत होता है – जो खाता है पीता है, घूमता है, लड़ता है, परिश्रम करता है। झूठे ज्ञान की अपेक्षा अपूर्ण ज्ञान का होना श्रेयस्कर है। युग को अच्छी तरह समझने के लिए हमारे पास दूसरे युग के मनुष्य को देखने के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है। यह साहित्येतिहास निर्माण प्रक्रिया का प्रथम चरण है।

मनुष्य में क्या देखा जाता हे? मनुष्य का रूप जो दृष्टि से परे है, शब्द जो कानों प्रवेश करते हैं, भाव मस्तिष्क की गति, कपड़े जो वह पहनता हे दीखने वाले प्रत्येक क्रिया – कलाप, ये सब केवल मात्र अभिव्यक्ति मात्र है। इनके भीतर कहीं अधिक गहरे स्थान पर कुछ और वस्तु भी हैं और वह आत्मा हे। उसके मकान, फर्नीचर वस्त्राभूषण आदि को देखकर अनुमान लगाया जाता है कि वह मितव्ययी है अथवा अधिक व्ययी। उससे बातचीत करके उसकी स्वर – भंगिमा, दृष्टिकोण आदि के सहारे उसके विषय में किसी निर्णय पर पहुँच जाता है। उसके लेखन, कलात्मक – अभिव्यंजन, व्यापारिक सौदे अथवा राजनीतिक अभिरुचि को देखकर उसके विषय में किसी निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा की जाती है ताकि उसके द्वारा उसकी मेधा सीमा को परखा जा सके, उसके रूप को जाना जा सके जिस रूप में वह सोचता है और स्वयं को अभिव्यक्त करता है। ये सब बाह्य प्रयत्न किसी केन्द्र तक पहुँचने के उद्देश्य से किये जाते हैं और वह केन्द्र सहृदय और सदाशयी मनुष्य है अर्थात् उन भावों और विचारों का सामूहिक उत्पादन हे जो भीतरी मनुष्य की देन है वहाँ हम नूतन संसार में प्रवेश करते हैं जो अमूर्त है क्योकि प्रत्येक क्रिया जिसे हम देखते हैं

नये पुराने भावों तथा कारणों का अमूर्त रूप और भी पृथ्वी में गहरी दबी हुई चट्टान के समान अपने अन्त और स्तर को प्राप्त कर लेती है। यह अभ्यान्तरिक विश्व इतिहासकार के लिए उपयुक्त एक नवीन विषय – वस्तु है। यदि उसकी आलोचनात्मक शिक्षा संतुष्ट होती है। वह उस नाटक का दर्शक है जो लेखक की आत्मा में खेला गया था, शब्द चयन में, वाक्य के संकोच तथा विस्तार में, स्वर के आरोह – अवरोह में किसी तर्क के विकास में, प्रत्येक वस्तु उसके लिए एक संकेत है, प्रतीक हे जबकि उसकी आँखे केवल **पाठ्य** पढ़ती हैं उसकी आत्मा तथा मस्तिष्क सदा परिवर्तनशील भावनाओं और अवधारणाओं के क्रमिक विकास की ओर ध्यान देते हैं, जिससे **पाठ्य** उद्भूत हुआ है। संक्षेप में यह मनोविज्ञान का स्पष्ट करता है। यह साहित्येतिहास निर्माण प्रक्रिया का द्वितीय चरण है।

"मनुष्य के भावों और विचारों में एक व्यवस्था हे और वह व्यवस्था अपनी प्रगति अपनी प्रेरक शक्ति के लिए सामान्य रेखायें, बुद्धि अथवा मेधा में चिन्ह और किसी जाति, युग अथवा देश के मनुष्य मात्र का हृदय सामान्य है। खनिज विज्ञान में विशेष रूप कितने ही निश्चित पृथक् सामान्य प्राकृतिक रूपों से उद्धृत होती है। एक भूमिति के बुनियादी तत्त्व द्वारा स्पष्ट की जाती है और दूसरी मनोविज्ञान के मूल तथ्यों और उदाहरणों द्वारा। खनिज विज्ञान के विभाजन की पूर्णता के लिए हमें पहले नियमित और व्यापक रूप से भूमि, उसकी दिशाओं और प्रकारों में होने वाले असंख्य परिवर्तनों का ज्ञान होना चाहिए। इसलिए इतिहास की विभिन्नताओं से परिचित होने से पहले मनुष्य की आत्मा को व्यापक रूप से परखना होगा और इस प्रक्रिया से हम उन मूल रूपों को प्राप्त करेंगे जो वह प्रस्तुत करती है।"[1] अन्त में यह आदर्श मनोवैज्ञानिक चित्र मुश्किल से दुरुह है जिसमें व्यक्ति रूपरेखा की उन सीमाओं को देखता है जिनमें सभ्यता विज्ञान नहीं रहती अपितु संस्कृति का रूप धारण लेती है।

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन – पृ0 सं0 – 12

प्रथम दृष्टि में मनुष्य में क्या पाया जाता है? मूर्त अथवा अमूर्त वस्तुओं का प्रस्तुतीकरण, कोई वस्तु जो उसके भीतर आलोड़ित होती है, हलचल मचाती है, अपने अस्तित्व अथवा उपस्थिति की सूचना देती है, समय विशेष के लिए सजग रहती है, विलीन हो जाती है, पुनः लौट आती है जबकि वह वनस्पति, प्राणी अथवा किसी दूसरे विषय को देखता है यही विषय वस्तु है जहाँ काल्पनिक अथवा व्यावहारिक विकास सामान्य अथवा निश्चित भाषा सतत कर्मशील भावना के रूप में द्विगुणित हो जाता है। यहाँ हम पूर्ण मनुष्य को सूक्ष्म रूप में पाते हैं और इस सीमित परिधि में मनुष्य की विविध प्रवृत्तियों का समन्वित रूप देखते हैं। अपने मूल रूप में वे कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हों, अपने समन्वय और सम्मिश्रण में वे अगणित हैं और उनके कारणों में किंचित मात्र परिवर्तन के साथ–साथ समस्त मानव परिवर्तन प्रस्फुटित होते हैं। सामान्य रूप और विधा जिसमें वह अपना परिणाम अन्तर्निहित करती है एक शुल्क सूचनामात्र रह जाती है, भाषा एक प्रकार से बीजगणित बन जाती है, धर्म और कविता महत्वहीन होकर दर्शन, नैतिकता और व्यावहारिकता के सामान्य धरातल तक सीमित कर दिया जाता हैं तथा सारी मेधा रचनात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाती है। इसके विपरीत निश्चित परिणाम अपने रूप और प्रकार में काव्यात्मक अथवा आंकिक कृति अथवा आर्य जाति के समान एक जीवित प्रतीक है, भाषा घने और आकर्षक शव्दों का इन्द्रजाल बन जाती है जिसमें प्रत्येक शब्द की अपनी सार्थकता और महत्ता है।

तीन विभिन्न उपादान प्रारम्भिक नैतिक स्थिति को उत्पन्न करते हैं : जाति, वातावरण और क्षण। जाति से तात्पर्य उस पैतृक सम्पत्ति से है जिसे मनुष्य अपने साथ प्रकाश में लाता है और जो एक नियम के रूप में स्वभाव और शारीरिक गठन के निश्चित भेदों के साथ संयुक्त है। वे व्यक्ति से व्यक्ति में भिन्न हैं। मनुष्यों में बैल और घोड़े के समान स्वाभाविक वैभिन्य है, कुछ डरपोक और परावलम्वी, कुछ उच्च धारणाओं और रचनाओं में संचर्य, कुछ अविष्कारों में रुचि लेने वाले, कुछ विशेष कार्यो के लिए विशेष रूप से उपयुक्त कुछ

प्रवृत्तियोंमें दूसरों से अधिक सम्पन्न जैसे कि हम कुत्ते को अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक निकट स्थान देते हैं शिकार के लिए, युद्ध के लिए पीछा करने ओर घर की निगरानी रखने के लिए। जलवायु और परिस्थितियों की विभिन्नता उसकी आवश्यकता में विविधता ला देती है ओर धीरे-धीरे भिन्न क्रियायें और अधिक कहें तो आदतें और इससे भी अधिक कहें तो भिन्न रुचि और भिन्न प्रकृति हो जाती है। मनुष्य अपनी परिस्थितियों से समझोता करने को विवश है और उन्हीं के अनुसार अपने चरित्र और स्वभाव का विकास करता है। उसका चरित्र उसके स्वभाव के समान ही इतना स्थिर और गत्यात्मक है कि उसके सम्बन्ध में अनेक बार अनुभव कर लेने के पश्चात भी जो ऊपरी धारणायें बनायी जाती हैं, वे पैतृक और प्राचीन विरासत के आधार पर होती हैं। इसलिए हम मनुष्य के चरित्र को उसके पूर्ववर्ती कार्यो और भावों का संक्षिप्तीकरण कह सकते हैं। जो एक संख्या और परिणाम के समान अमूर्त नहीं है जबकि प्रकृति की प्रत्येक कृति मूर्त है परन्तु शेष के अनुपात से रहित और उठाने में असमर्थ जबकि अमूर्त मूर्त के प्रत्येक कण के उसके विस्तार में योग दिया है और अनुपात को बढ़ाने के लिए प्रत्येक को विपरीत मात्रा में कहीं अधिक गहरे कर्म और भाव देखने चाहिए। वह प्रथम और सर्वसम्पन्न उपमान है, जिससे इतिहास की घटनायें अपनी गति लेती हैं और कोई देख सकता है कि शक्तिशाली होने के कारण साधारण होता नहीं बल्कि एक झील है जिसमें शताब्दियों से दूसरे स्रोते विलीन होते आए हैं।

किसी जाति का आन्तरिक गठन देखने के पश्चात उन परिस्थितियों पर विचार करना चाहिए जिनमें वह रहती है। दुनिया में मनुष्य एकाकी नहीं है। प्रकृति और उसके सहयोगी उसके चारों ओर के वातावरण का निर्माण करते हैं। मूल प्रवृत्तियों का स्थान आकस्मिक और परवर्ती परिस्थितियाँ ग्रहण कर लेती हैं, शारीरिक और सामाजिक परिस्थितियाँ एक बड़ी सीमा तक चरित्र का निमार्ण करती हैं। जलवायु भी अपनी भूमिका अदा करती है। अलग-अलग भूमि में

बसने के कारण ही जातियों में भिन्नता पायी जाती है कभी–कभी राजनीति गतिशील होती है, इटली की दोनों सभ्यताओं में पहली विजय, सरकार, विधान सशस्त्र स्वेच्छाचारिता जिसने विजितों और अपरिचितों को सुसंगठित और नियंत्रित किया।

"कारणों की एक तीसरी श्रेणी भी है, बाह्य और आन्तरिक शक्तियाँ जिन्होंने संयुक्त रूप से कार्य को उत्पन्न किया है। यह कार्य उनका मूल उपादान है जो उसका अनुसरण करते हैं। इस स्थायी प्रेरणा और दिये हुए वातावरण के अतिरिक्त संचित अथवा विरासत में प्राप्त वस्तुएं हैं। जब राष्ट्रीय चरित्र और परिस्थितियाँ क्रियारत होती हैं, वे किसी जीवन और प्राणवान् आधार के भाव में नहीं होतीं अपितु उस भूमि पर होती हैं, जिसके संकेत पहले से दृढ़ और निश्चित होते हैं, जेसे ही कोई एक अथवा दूसरा क्षण आधार ग्रहण करता है, संकेत बदल जाते हें और यही कारण हे कि सामूहिक प्रभाव भिन्न होता है।"[1]

अब हमें यह देखना है कि कारण जब किसी राष्ट्र अथवा जाति पर लागू किये जाते हें तब क्या परिणाम उत्पन्न होते है? किसी जाति के व्यक्तियों के बोद्धिक निर्णय अथवा आत्मिक प्रभाव परिस्थितियों और युगों के द्वारा विस्तृत न होकर उन तत्वों को व्यवस्थित करते हैं जो सभ्यता का निर्माण करते हैं। यदि हम किसी देश के मानचित्र को वाटरशेड से प्रारम्भ करके देखें तो पायेंगे कि इस सामान्य बिन्दु के नीचे पाँच–छह स्रोतों में विभक्त मुख्य किंचित क्षेत्र हैं, इनमें से प्रत्येक कई सहायक क्षेत्रों में और उसी प्रकार समूचा देश अपने सहस्त्रों विस्तारों के साथ उस जल की अनेक शाखाओं में बंटा हुआ है। उसी प्रकार हम मानव सभ्यता की घटनाओं और उसके भावों का मनोवैज्ञानिक रूप सामने रखें, हम सर्वप्रथम पाँच–छह भली प्रकार से परिचित क्षेत्रों, धर्म, दर्शन, कला, राज्य परिवार उद्योग को पाते हैं। फिर इन क्षेत्रों के स्वाभाविक विभाग और इनमें से प्रत्येक की सीमायें जब तक जीवन के असंख्य विस्तारों की ओर न पहुँचे जिन्हें हम हमारे चारों ओर एक दिन में देख सकें। यदि हम इन विभिन्न विरोधी

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन पृ0 सं0 – 18

तथ्यों की तुलना करें तो हमें पता चलेगा कि उनका निर्माण कुछ भागों से हुआ है और वे सामान्य हैं। हम सर्वप्रथम मानव प्रतिभा के तीन विराट क्षेत्रों – धर्म कला और दर्शन को लें। दर्शन के मूल में इसी प्रकार की प्रकृति और कारणों का अस्तित्व पाया जाता है।

इस विन्दु पर हम मानव परिवर्तन के प्रमुख चरणों पर दृष्टिपात कर सकते हैं और उन कारणों की खोज कर सकते हैं जो साधारण नियमों, घटनाओं उनकी श्रेणियों और एकाध साहित्य को ही नहीं अपितु साहित्य और धर्म के एक समूह को संचालित करते हैं। उदाहरण के लिए यह मान लिया जाये कि धर्म एक आध्यात्मिक कविता है जो एक विश्वास पर आधारित है तो देखा जाता है कि निश्चित युग, जाति अथवा निश्चित परिस्थिति में काव्य और आध्यात्मिक धारायें एक अपूर्व उत्साह से तरंगित हो उठती हैं। यदि हम यह स्वीकार करें कि बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म महान क्षणों की उपज है और दूसरी ओर यह स्वीकार करें कि प्रारम्भिक धर्म, मानव–कल्पना के सर्वसम्पन्न विकास में तर्क के उदय के साथ अविर्भूत हुए हैं, साथ ही यह स्वीकार करें कि मुसलमान धर्म गद्य कविता के ऊषाकाल में दिखाई देने लगा और राष्ट्रीय एकता की भावना प्रतिभा के आकस्मिक विकास के क्षेत्र में विज्ञान से विहित व्यक्तियों में दिखाई दी तब हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि एक धर्म उत्पन्न हुआ, विनष्ट हुआ, परिस्थितियों के अनुसार परिष्कृत अथावा विकसित, उन्नत अथवा अवनत अपनी तीन सहज प्रवृत्तियों के आधार पर हुआ है और हमें यह समझ लेना चाहिए कि भारत में वह आज भी क्यों प्रचलित हैं, काल्पनिक, दार्शनिक और धर्मोन्माद के मध्य एक क्रियाशील संगठन के रूप में नई भाषायें और साहित्य अस्तित्व में आये, सोलहवीं शताब्दी में क्यों एक वीरत्वपूर्ण उत्साह जगा और विश्वजनीन पुनरुत्थान और जर्मन जाति के अभ्युदय काल में और वह अमेरिकन प्रजातंत्र को केन्द्रच्युत शाखाओं के बीच क्यों फूट पड़ा, रूसी सामंतवादी निरंकुशता के नीचे और यूरोप के विभिन्न भागों में वह क्या जाति और सभ्यता के भेद से

विस्तीर्ण रहा? प्रत्येक प्रकार की मानव सृष्टि साहित्य, संगीत, ललित कला, विज्ञान, उद्योग सभी के विषय में यही कहा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक की अपनी दिशा और क्षेत्र के लिए एक नैतिक आधार होता है अथवा नैतिक आधारों का समन्वय होता है। दिये हुये कारणों से वे स्पष्ट दिखायी देते हैं और कारण हटा लेने पर विनष्ट हो जाते हैं। कारण की अकुशलता अथवा सशक्तता ही उनकी असशक्तता अथवा सशक्तता का मानदण्ड है। वे अपने कारणों से उसी प्रकार संयुक्त है जिस प्रकार शारीरिक पदार्थ अपनी परिस्थितियों से।

प्रत्येक स्थिति में जो सृष्टि होती है, परिवर्तन अथवा दमन प्रथम चरण में होता है, द्वितीय में भी वही परिवर्तन, दमन और सृष्टि आवश्यक है। काव्यात्मक विचारों में जो ऊचाइयाँ आती हैं वे धर्म का भी स्पर्श करती है। इस प्रकार विज्ञानवाद की सृष्टि होती है और भविष्य में भी होती रहेगी। जैसे ही हम इन महान घटनाओं की आवश्यक और पर्याप्त स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वेसे ही भूत और भविष्य को पहचान लेते हैं। हम पूर्ण आत्म – विश्वास और दृढ़ता से कह सकते हैं कि किन परिरिस्थितियों में ये पुनर्घटित होंगी, बिना किसी शीघ्रता के इनके भावी इतिहास को देख सकते हैं और साधनों से इनके पूर्ण विकास और स्थिति को समझ सकते हैं।

इतिहास सम्भाव्य रूप से अब उस चरण पर है जहाँ से शोध पूर्ण प्रणाली के द्वारा उसे और आगे बढ़ाया जा सकता है। आज के युग में जो प्रश्न उठाया जाता है वह यही है कि साहित्य, दर्शन, कला अथवा कला समूह को किन नैतिक परिस्थितियों ने जन्म दिया? युग, जाति अथवा क्षण की वह कौन सी स्थिति थी जिसने इस नैतिक स्थिति को उत्पन्न किया। इनमें से प्रत्येक रूप के लिए एक भिन्न नैतिक परिस्थिति है, एक सामान्य और प्रत्येक कला के लिए, मूर्तिकला, वस्तुकला, चित्रकला, संगीत कला, काव्य कला, प्रत्येक के विशिष्ट तत्व मानव–मनोविज्ञान में सन्निविष्ट हैं, प्रत्येक के अपने नियम हैं और उन नियमों के कारण ही हम उन्हें उन्नत रूप में देखते हैं। मानव विकास के इन

नियमों की शोध इतिहास को करनी चाहिए, साथ ही उस विशिष्ट मनोवैज्ञानिक तत्त्व को देखना है जिससे यह रूप उद्भूत हुआ है। इन विशिष्ट परिस्थितियों की झलक पाने के लिए उसे परिश्रम करना चाहिए। कोई भी कार्य कठिन अथवा सरल नहीं है। मातस्वयू ने प्रयत्न किया था परन्तु उस समय इतिहास के लिए अपनी सफलता को स्वीकार करना अत्यन्त नवीन बात थी, उन्हें उस मार्ग का अनुमान भी न था जिस पर यात्रा की जा सके। अपने मूल रूप में इतिहास एक मनोवैज्ञानिक उलझन अथवा एक पहेली है। उसमें प्रभाव और क्रियात्मकता की एक आन्तरिक व्यवस्था है जो एक कलाकार, एक चित्रकार, एक घुमक्कड़ ओर एक आस्था का निर्माण करती हैं। जिनमें से प्रत्येक की गहराई, भावों और विचारों की स्वतंत्रता भिन्न हे, प्रत्येक का अपना नैतिक इतिहास और गठन हे जा कुछ प्रवल शासक तत्वों को लिए हुए हैं।"[1]

<u>साहित्येतिहास का क्षेत्र</u> :– सम्पूर्ण युग के मानव मन की सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति होने के कारण, साहित्येतिहास का क्षेत्र–निर्धारण भी एक जटिल एवं संश्लिष्ट प्रक्रिया है। मानवीय ज्ञान की सभी इकाइयों का थोड़ा बहुत प्रभाव इस पर अवश्य पड़ता है।

क्षेत्र की दृष्टि से साहित्येतिहास का विभाजन दो वर्गों में किया जा सकता है, सैद्धान्तिक पक्ष एवं व्यवहारिक पक्ष। सैद्धान्तिक पक्ष की मुख्य समस्या है कारण–कार्य–श्रृंखला का निर्धारण। इसके अन्तर्गत मुख्य विवेचन विन्दु निम्न हो सकते हैं –

1. काल निर्धारण एवं नामकरण।
2. युगेतिहास एवं साहित्य से उसका सम्बन्ध निर्धारण।
3. भाषा एवं भौगोलिक क्षेत्र, संस्कृति एवं जन–जीवन की परम्पराओं को साहित्येतिहास की दृष्टि से प्रत्यक्षीकरण।

---

1. जेनेपोल – ला थ्योरी द ला हिस्टोरी

व्यवहारिक पक्ष की मुख्य समस्या मूल–बोध की है। इसे दो वर्गों में रखा जा सकता है –

1. प्रवृत्ति बोध
2. साहित्य बोध

प्रवृत्ति बोध के अन्तर्गत विभिन्न धाराओं एवं युगों की सामान्य प्रवृत्तियों का निर्धारण होता है। ये प्रवृत्तियाँ युग विशेष एवं धारा विशेष की गत्यात्मक चेतना को उद्घाटित करती हैं। साहित्य बोध के अन्तर्गत रचनाकार, उसकी कृति एवं साहित्य के परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन किया जाता है तथा इतिहास के अखण्ड धारा में उसका स्थान निर्धारित होता है।

---

1. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप पृ0 सं0 – 95
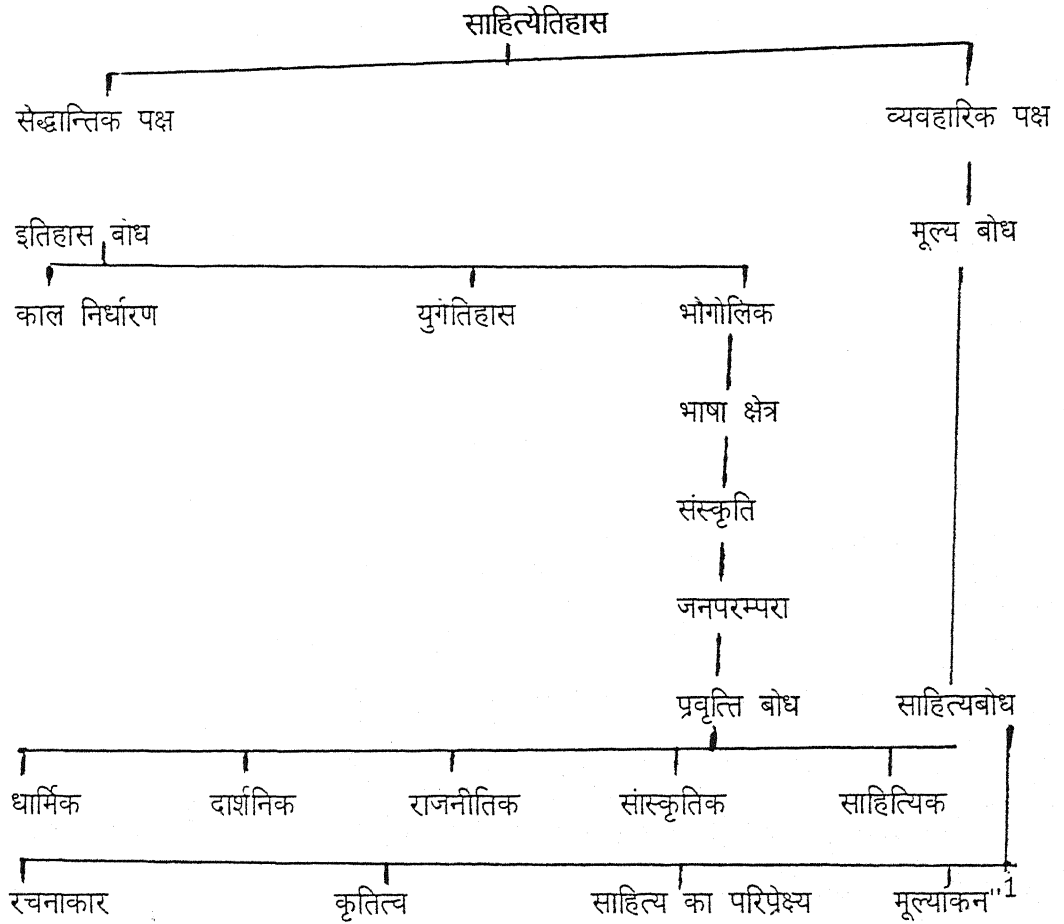
प्रत्येक युग अपनी आवश्यकता के अनुसार, साहित्येतिहास को परिभाषित करता है एवं पुनर्नवीकरण करना है। प्रारम्भिक साहित्येतिहास प्रत्येक देश में कवियों एवं लेखकों की कालक्रमानुसार नामावली ही होता है, जेसे अंग्रजी साहित्य में Bibiographies of English Literature, lelande, 1545, Bale, 1548 Tanner 1748 Mackenzie 1708-22, इटली के Murabri तथा Tiraboschi जेसे विद्वानों ने विशाल ग्रन्थ और Historie Litterire detta France जेसी पुस्तकें इतिहास वृत्त ही हैं, जेसे **शिवसिंह सरोज** अथवा **मिश्र बन्धु विनोद**।

साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में द्वितीय क्रान्तिकारी कदम था। युगेतिहास से उसे समन्वित करना। अधर में चित्रित जीवनियाँ और कृतियाँ, युग की सुपुष्ठ पृष्ठभूमि पाकर जीवन्त हो उठी है। टामस वार्टन, जिन्हें अंग्रेजी कविता का विधिवत इतिहास लिखने वाला पहला व्यक्ति माना जाता है, प्राचीन साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध में लिखते हैं "इसमें उन कालों की विशिष्टताओं का बहुत सच्चा अंकन हुआ है, और तत्कालीन रीति व्यवहार की चित्रात्मक और व्यंजना पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है और इसके बाद की पीढ़ियों को तत्कालीन जीवन का बहुत खरा चित्रण मिलता है।" हेनरी मार्ली ने साहित्य की कल्पना **राष्ट्रीय जीवन चरित्र** या अंग्रजी मानस **कहानी** के रूप में की है। लेस्ली ने उसे **समूचे समाज रूपी जीवन धारी का विशेष कार्य** सामाजिक परिवर्तन का एक तरह का उपोत्पाद माना है। अंग्रजी काव्य के विकास की एक निष्ठ अवधारणा पर आधारित इतिहास के एकमात्र लेखक हैं डब्ल्यू0 जे0 कोर्ट होप और उन्होंने लिखा है कि "अंग्रेजी कविता का अध्ययन प्रभावतः हमारे साहित्य में प्रतिविम्बित हमारी राष्ट्रीय संस्थाओं के अविच्छिन्न विकास का अध्ययन है" और अपने विषय की अन्विति के लिए उन्होंने ठीक उसी ओर दृष्टि डाली है, जिधर राजनैतिक इतिहासकार डालता है और वह है राष्ट्रीय जीवन।

टेन और सेन्टब्यूव के एेतिहासिक सिद्धांत इसी युग एवं अवधारणा की

देन हैं। हिन्दी में शुक्ल जी का इतिहास इस धारा का प्रतिनिधित्व करता है।

नवशास्त्रीयवाद के उत्थान के साथ साहित्येतिहास लेखन विधि में भी विकास हुआ। यह विकास द्विमुखी था। एक ओर तो इतिहास के लिए नये मूल्यों का निर्माण हुआ, दूसरी ओर नवीन वैज्ञानिक पद्धतियों की खोज एवं प्रयोग हुए।

उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद कला के क्षेत्र में नये–नये आन्दोलन जन्म लेते हैं जिनका प्रभाव साहित्य पर तो पड़ा ही है, साहित्येतिहास लेखन पर भी पड़ा है। एक ओर तो साहित्य को शुद्ध कला के अन्तर्गत रखने के प्रयास हुए और उस दृष्टि से **कला–कला के लिए** मूल्यांकन बिन्दु बना। दूसरी ओर बिना परिवेश की व्याख्या के साहित्येतिहास लेखन के प्रयास हुए। साहित्य का विकास साहित्य के अन्तर में ही खोजा जाने लगा।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन पर अंग्रेजी साहित्येतिहास लेखन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। प्रतिनिधि रूप से सेन्सबरी तथा लिगोइस और कजा मियाँ के विचारों को देखा जा सकता है। सेन्सबरी ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की प्रस्तावना में लिखा है –

"इस पुस्तक का उद्देश्य, जिसका लिखा जाना आज से लगभग चार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था, साहित्य के प्रत्यक्ष अध्ययन से, केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से तत्त्वों को सजाना है जो यह लेखक कर पाया है। अन्तर्दृष्टिकोण और शीघ्र निर्णय रचनात्मक ज्ञान के लिए विशेष कारण से दूर रखे गये हैं लेकिन यह आशा की जाती है कि अन्तर्प्रकरण की व्यवस्था ऐतिहासिक निष्कर्ष और व्यापक केन्द्रबिन्दु प्रस्तुत करेगी, जिनके द्वारा अंग्रेजी गद्य शैली की प्रवृत्ति और विकास का परिचय प्राप्त होगा। इस पुस्तक का कोई अध्याय व्याख्या के रूप में नहीं लिखा गया और एलिजाबेथ युग तथा उन्नीसवीं शबाब्दी से सम्बन्धित सामग्री उन विषयों पर किये गये पुराने कार्यो का ही पिष्टेपेषण नहीं है।

कोई अपरिपक्व मस्तिष्क और अत्यन्त अविवेकी भी स्वीकार करेगा क्योंकि वह दूसरे से ऐसी आशा रखे कि उसके द्वारा निर्मित इतिहास में अशुद्धियाँ न हों. परन्तु लेखक केवल तथ्य सम्बन्धी भूलों के लिए ही उत्तरदायी नहीं है जो दृष्टि से ओझल है परन्तु वह उन समस्त मतों और आलोचनात्मक निर्णयों के लिए भी उत्तरदायी है जो पुस्तक में व्यक्त हुए हैं। उसका उद्देश्य एकमात्र अपने निर्णयों को प्रचलित देखना ही नहीं है अपितु उसका ध्येय तो उस दृढ़ आधार भूमि का निर्माण करना है जिसके अभाव में समस्त आलोचनात्मक निर्णय महत्वहीन और मूल्यहीन हो जाते हैं और जिसके आधार पर ऐसे मत आसानी से स्थापित किये जाते हैं। लेखक के लिए ऐसी स्थिति में पुस्तकों का अध्ययन ही एकमात्र उचित कार्य है और उसका उद्देश्य पाठकों को पुस्तकों के अध्ययन की सुविधा प्रदान करना है।"[1]

इस कथन से स्पष्ट होता है –

1. विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण तथा अन्तर्प्रकरण की व्यवस्था ऐतिहासिक निष्कर्ष को व्यक्त कर पाती है।

2. इतिहास–लेखन में तथ्य सम्बन्धी भ्रान्तियों के सम्बन्ध में सदा सजग रहना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो, वे नहीं आने देनी चाहिए।

3. इतिहासकार का एक निजी मत होना आवश्यक है और वह अपने आप में आलोचनात्मक होना चहिए।

4. इतिहास का उद्देश्य पाठकों को वास्तविक एवं मौलिक साहित्य पढ़ने की प्रेरणा देना है।

5. लिगोरस और कजामियां ने अपनी इतिहास विषयक धारणाओं को इस पकार प्रस्तुत किया है –

"अतीत कई वर्षो से विद्वानों के विवेचन का विषय रहा है। उसके साहित्यिक कीर्तिमान अधिक निकटता से एक दूसरे का अनुकरण करते हैं और अपने परिमाण में वे कम विस्तृत हैं, परन्तु वे व्याख्या द्वारा पूर्ण रूप से मापे नहीं जा सकते. महान कार्यो से वे घिरे हुए होते हैं जो कभी–कभी विशेष रूप से महान

चौसर, शेक्सपियर, मिल्टन के विषय में विराट अनुपात ग्रहण करते हैं। यहाँ नये कारणों को खोजने की आवश्यकता नहीं है। इतिहासकार का कार्य सभी प्रकार की आलोचना प्रत्यालोचना के बीच मार्ग निकालना है जो अपेक्षाकृत उपस्थित न होकर मूल रचनाओं से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं यह उसे उसके पूर्ववर्तियों से श्रेष्ठतम निर्णय को, उनकी सफलता को दुहराने की अपेक्षा प्रयोग में लाने में अधिक सहायक सिद्ध होता है, क्योंकि एक नई पुस्तक का प्रकाशन तभी न्याय संगत सिद्ध किया जा सकता है जबकि वह ज्ञान के क्षेत्र में कुछ नया योगदान दे।"

इन दोनों इतिहासग्रन्थों में जो बात छोड़ी नहीं गई है अपितु जिसे बाद में स्थान दिया गया है वह उसके सोन्दर्य का पक्ष है और हम इस विषय में उनमें पृथक्ता के द्वारा एक आवश्यक कार्य सिद्ध करवा सकते हैं। यह न तो अनुपयुक्त हे ओर न असामयिक, दूसरे साहित्येतिहास में प्रारम्भिक चिन्ह दिखाने, प्रारम्भिक मार्ग, गति पुनर्गमन और कलात्मक भाव की विजय चेष्ट करता है। इस उद्‌देश्य के लिए रूप अथवा आधार का अध्ययन करना उतना ही आवश्यक है जितना कि विचारों और भावों का। इतिहास के मोड़ द्वारा भाषा का विचार कभी शीघ्र, कभी मन्थर, छन्द का गठन अथवा विघटन परिश्रम से प्राप्त गद्य के लाभ, इसके मूलभूत उद्‌देश्य सहजता और सुगमता से लेकर सौन्दर्य और माप तक ये समस्त विषय साहित्येतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह देखा जा सकेगा कि पुस्तक का प्रथम खण्ड भावों और अवसरोपयुक्त ऐतिहासिक निर्णयों का विवेचन करता है, परन्तु वह इन्हें अपने विवेचन का मूल विषय नहीं बनाता। यह न तो उसकी आवश्यकता का अनुभव करता है और न ही दीर्घकाल तक उनके द्वारा रोके जाने की बाधा का सामना करता है तथा मुक्त अथवा अविवेचित रचनाओं के प्रत्यक्ष विश्लेषण का स्थान उनके विषय और विश्लेषण का स्थान उनके विषय ओर शेली का वर्णन करने में सुरक्षित करना है। अतः यह आशा की जाती हे कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों का उचित पूरक हे।"

निष्कर्ष :–

1. साहित्येतिहास लेखन में सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण उपयोगी होता है।

2. इतिहासकार को पाठक का सम्बन्ध मूल रचनाओं से स्थापित करना चाहिए।

3. नये इतिहास की सार्थकता तभी है जब कि वह ज्ञान के क्षेत्र में नई देन देता है।

4. अविवेचित तथ्यों और भावों का विवेचन इतिहासकार का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

5. इतिहास लेखन में लेखन प्रणाली तथा भावों और विचारों का अध्ययन आवश्यक है।

साहित्येतिहास का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

साहित्येतिहास पर ज्ञान की अन्य इकाइयों का भी प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक वस्तु दूसरे से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित होती है अतः उसका अध्ययन सर्वथा स्वतंत्र इकाई के रूप में नहीं किया जा सकता। साहित्येतिहास से सम्बन्धित कुछ प्रमुख नाम निम्न हैं –

साहित्येतिहास एवं भाषा विज्ञान सम्बन्ध :– भाषा विज्ञान – भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है और साहित्य भाषा के माध्यम से ही अस्तित्व में आती है। कुछ भाषा वैज्ञानिक तो कविता को भी भाषा की एक विशिष्ट भंगिमा स्वीकार कर, उसका अध्ययन शैली विज्ञान के अन्तर्गत करते हैं।

साहित्य और भाषा का विकास प्रायः समानान्तर ही होता है। भाषा में परिवर्तन हो और साहित्य में न हो यह सम्भव ही नहीं है। नई भाषा नये मनोभाव लेकर उदित होती है इसीलिए प्रायः भाषिक युग और साहित्यिक युग

समानान्तर होते हैं। प्राचीन भाषा एवं साहित्य के सम्बन्ध में यह कथन अधिक सत्य उतरता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन भाषाओं को हम उनके साहित्य के माध्यम से पहचानते हैं।

साहित्येतिहासकार के लिए भाषाओं का अध्ययन एक और दृष्टि से भी आवश्यक है। प्राचीन परम्परा को हम भाषा के माध्यम से ही उपलब्ध करते हैं। हिन्दी साहित्येतिहास की परम्पराओं के ज्ञान के लिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परम्पराओं का अध्ययन एवं अन्वेषण आवश्यक है। भाषा की प्राकृत एवं स्वरूप भी इस तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है।"[1]

दूसरी ओर भाषा विज्ञान भी साहित्येतिहास से सहायता प्राप्त करता हे भाषा के अध्ययन की ऐतिहासिक पद्धति साहित्येतिहास के बहुत कुछ समकक्ष है।

साहित्येतिहास और धर्म तथा दर्शन :– साहित्य की पृष्ठभूमि का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के साथ–साथ साहित्य में व्यक्त विचारधाराओं का अनुशीलन करना भी साहित्येतिहास का अनिवार्य अंग है। साहित्य मानवीय मनोरोगों की भावात्मक अभिव्यक्ति है जो अपने स्थायित्व के लिए विविध तात्विक तथ्यों का आकलन करता है। जो साहित्य विचारोत्तेजक नहीं, अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग और सतर्क नहीं, उसका अस्तित्व समाज को स्वीकार्य नहीं। विचार साहित्य दो क्षेत्रों से ग्रहण करता है और वे दो क्षेत्र हैं धर्म ओर दर्शन। धर्म समाज को अनुशासित और व्यवस्थित करता है। सामान्य जनताकी चित्तवृत्ति पर जितना प्रभाव धर्म और धार्मिक प्रवचनों का पड़ता है उतना किसी अन्य विषय का नहीं। धार्मिक नेता जिस सरलता से जन – मानस को आलोड़ित कर सकते हैं, उतनी आसानी से और कोई जनमानस को प्रभावित नहीं कर पाता। राजनीति परिवर्तनशील है और धर्म अपेक्षाकृत स्थायी। परिवर्तन धर्म में भी होता है परन्तु शीघ्र नहीं। धर्म का महत्त्व उसके स्थायित्व में हैं इसलिए उसका प्रभाव व्यापक होता है। दर्शन, धर्म को वैज्ञानिक आधार देता है। उसके विचारों को पुष्ट करता है, उन्हें तर्क सम्मत बनाता है। उसकी भावना

---

1. साहित्येतिहासः संरचना और स्वरूप, पृ0 सं0 101

पर बुद्धि का रंग चढ़ाता है। दर्शन, धर्म तत्व का वैज्ञानिक एवं बौद्धिक परिशीलन कर उसे समाज के लिए अधिक उपयोगी और व्यवस्थित बनाता है। साहित्य का अधिकाँश सम्बन्ध धर्म से सम्बद्ध होता है। उसका वैचारिक अंश बहुत बड़ी मात्रा में धर्म पर अवलम्बित है। धार्मिक आन्दोलनों में साहित्येतिहास में अनके कवियों को गरिमा और महत्ता प्रदान की है। वह अनेक काव्य धाराओं का उद्गम स्थल रहा है। साहित्य के वैचारिक पक्ष से परिचित होने के लिए धर्म तथा दर्शन का ज्ञान आवश्यक है। साहित्येतिहासकार, साहित्य और साहित्यकार पर पड़ने वाले प्रभावों और उनसे प्रस्फुटित विचारों का सूक्ष्म परीक्षण करता है। वह हृदय तथा मस्तिष्क की देय सामग्री पर गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। धर्म तथा दर्शन का परिचय साहित्यकार की आत्मा को समझने के लिए आवश्यक है।

"साहित्येतिहासकार, साहित्येतिहास में युग की गतिविधियों, आन्दोलनों तथा हलचलों का परिचय देता है। धार्मिक सम्प्रदायों तथा उनके पर्वतक दार्शनिकों ने उस युग को जहाँ तक प्रभावित कियाहै उसका स्पष्टीकरण साहित्येतिहास ही करता है। आन्दोलनों का स्पष्टीकरण सतही ज्ञान के आधार पर नहीं किया जा सकता। रचनाकारों का दर्शन जन–मानस और जन–रुचि दोनों को प्रभावित करता है।"[1]

<u>साहित्येतिहास और अर्थशास्त्र</u> :– समाज की आर्थिक स्थिति समाज के इतिहास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। समाज की आर्थिक दशा का उसकी उन्नति या अवनति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। समाज जितना समृद्ध होगा सभ्यता उतनी ही विकसित होगी और साहित्य उसी मात्रा में पुष्ट होगा। विकास के वाँछित साधन प्राप्त होने पर ही अभिव्यक्ति अपना पथ प्रशस्त कर पाती है। सम्पन्न साहित्य ही समृद्ध समाज का परिचायक है। वाल्मीकि तथा

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहासग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन – पृ0 सं0 8

व्यास, कालिदास ओर बाण सम्पन्न युग के संवेदशील कलाकार हैं। साहित्येतिहास में समाज की आर्थिक स्थिति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक एडवर्ड अपवर्ड के मतानुसार ..... साहित्य मानव समाज और प्रकृति – समन्वित सतत् परिवर्तनशील पदार्थ जगत् से उद्भूत वस्तु है और प्रतिबिम्बित करता है। कवि की उपमा, उत्प्रेक्षाएं और औपान्यासिक पात्र उसके निरे दिमाग की उपज नहीं होती, बल्कि उसके चारों ओर के संसार के निर्दिष्ट होते हैं।[1] मार्क्सवादी सम्प्रदाय ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का ही विशेष आर्थिक नीति और दर्शन के आधार पर विकसित रूप है।

साहित्येतिहास और आलोचना

साहित्येतिहास के आलोचना घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हे यहाँ तक कि साहित्येतिहास को आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति स्वीकार किया जाता रहा हे। रेनेवेलक का यह कथन सर्वथा उचित ही है "ये भेद रेखायें बिलकुल स्पष्ट हें और इन्हें अधिकाँशतः लोग स्वीकार भी करते हैं परन्तु यह बोध बहुत कम लोगों में पाया जाता है कि इन पद्धतियों का प्रयोग एक दूसरे से अछूता रख कर नहीं किया जा सकता और इनमें से एक दूसरे को इस तरह समेटे हुए है कि बिना आलोचना और इतिहास के साहित्य सिद्धांत की या बिना साहित्य सिद्धांत और आलोचना के इतिहास की या बिना इतिहास और साहित्य सिद्धांत के आलोचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती।"[2]

घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में अन्तर भी है। इतिहास का लक्ष्य अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकास क्रम को स्पष्ट करना है जबकि आलोचना का उद्देश्य वस्तु के गुण दोषों को स्पष्ट करना है।

---

1. हंस (प्रगति अंक) साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या : फरवरी मार्च 1943
2. अथर्ववेद – 15, 6, 41

एफ0 डब्ल्यू0 वॅट्सन का कथन है कि साहित्य के इतिहास में यह दिखाया जाता है कि **क** की उत्पत्ति **ख** से हुई है जबकि आलोचना **क** को **ख** से अच्छा ठहराती है। इस मत के अनुसार, इतिहास का सम्बन्ध **मत राय** या विश्वास से है, परन्तु साहित्येतिहास में ही नहीं सामान्य इतिहास में भी तटस्थता सम्भव नहीं है। अतः इस आधार पर उसे आलोचना से पृथक् नहीं किया जा सकता।

विभेद का एक दूसरा कारण युग विशेष की दृष्टि बताया जाता है। आलोचना समकालीन होती है जबकि साहित्येतिहास का कार्य अतीत में पेठक को अन्वेषित करना है पिछले दिनों विद्या के क्षेत्र में जो सबसे नया और अच्छा दौर आया है वह है "चिन्तन में काल दोष से बचने की प्रवृत्ति।" इस आधार पर साहित्येतिहास का मुख्य उद्देश्य यह पता लगाना है कि लेखक ने किस आशय से किसी कृति की रचना की थी, परन्तु यह धारणा भी तर्कसंगत नहीं है। इतिहास के निर्माण की आवश्यकता तभी महसूस होती है जब हम अतीत का पुनर्मूल्यांकन करना चाहते हैं। किसी कलाकृति की अर्थवत्ता उसके आशय के साथ ही नहीं चुक जाती, और न केवल आशय को कलाकृति का अर्थ माना जा सकता है। एक मूल्य प्रणाली के रूप में कलाकृति का अपना एक स्वतंत्र जीवन होता है जो ऐतिहासिक उत्तराधिकार के रूप में सदेव वर्तमान रहता है।

अस्तु इतिहास और आलोचना का अन्तर केवल सापेक्षिक रूप से ही ज्ञात किया जा सकता है। देश और काल के महत्वपूर्ण आयामों से, आलोचक देश या स्थान को दृष्टि में रखता हुआ शाश्वत् तत्त्वों के अनुसंधान पर बल देता है वहाँ इतिहासकार कालक्रम और युगीन सन्दर्भ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान कर, परिवर्तनशील तत्त्वों के विवेचन में प्रवृत्त होता है। आलोचक यदि चाहे तो यद्यपि यह एक काल्पनिक स्थिति ही होगी – अपने को काल से पृथक् कर सकता है पर साहित्येतिहासकार को सदेव काल के सन्दर्भ में ही विचार करना है।

"आलोचक एवं इतिहासकार की चुनाव पद्धति में भी थोड़ा अन्तर होता है आलोचक रचना की कलात्मक श्रेष्ठता के आधार पर भी अपनी विषय वस्तु चुन सकता है, परन्तु इतिहासकार के लिए अन्य तत्व भी उतने ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विकास की प्रक्रिया स्पष्ट करने वाले सभी तथ्य, साहित्येतिहास में स्वीकृत किये जाने चाहिए। आलोचक चाहे तो वैयक्तिक हो सकता है, परन्तु साहित्येतिहासकार के लिए सामाजिक दृष्टि आवश्यक है। वस्तुतः आलोचक एवं इतिहासकार के दृष्टिकोण विरोध न होकर एक दूसरे के पूरक होते हैं।"[1]

---

1. साहित्येतिहासः संरचना और स्वरूप – पृ0 सं0 101

****

*****

***

अध्याय – 2

साहित्येतिहास के विकास का स्वरूप

ज्ञान किसी न किसी दृष्टि से सापेक्ष्य होता है। व्यक्ति निरपेक्ष इतिहास एवं इतिहास दर्शन की कल्पना नहीं की जा सकती है। कार्ल पियर्सन का यह सुझाव है कि विज्ञान को पद्धति की दृष्टि से परिभाषित करना चाहिए, न कि परिणामों के आधार पर। इस सम्वन्ध में डॉ0 सुमन राजे का कथन है कि, "वैज्ञानिक निष्पक्षता किसी वैज्ञानिक की व्यक्तिगत देन नहीं है, वरन् वैज्ञानिक पद्धति की सामाजिक विशेषता का परिणाम है, इसका अर्थ है कि वैज्ञानिक पद्धति को निष्पक्ष मानकर हम मूल्य विहीनता की अवधारणा को सामाजिक विज्ञानों में ला सकते हैं। xxx इतिहास को हम मात्र अतीत का अध्ययन नहीं कह सकते। यह अध्ययन सदैव वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है और उसी के द्वारा अतीत की परम्पराओं का मूल्यांकन होता है। महान इतिहास वे ही हैं जो वर्तमान के सन्दर्भ में लिखे गये हैं और भविष्य के लिए संकेत प्रस्तुत करते हैं।"[1]

इस प्रकार साहित्य के उपकरण तो अनुसंधान और अनुशीलन के विषय हैं, तथा उसका विन्यास और नियोजन यथा सम्भव तटस्थ और वैज्ञानिक पद्धति की अपेक्षा रखता है परन्तु इस क्रम में उसकी व्याख्या और परिभाषा के नये दृष्टिकोण की प्राप्ति के बिना नया इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

"साहित्य के इतिहास का वही दृष्टिकोण सार्थक हो सकता है जो जीवन के स्थायी मूल्यों के द्वारा समर्थित हो और उन मूल्यों को युगानुकूल रूप और जीवन देने की क्षमता हो। मानव की अनुभूति, चिन्ता और यदि कह सकें तो साधना से सम्बन्धित विविध क्षेत्रों के ज्ञान–विज्ञान की नवीनतम प्रगति के संघात के द्वारा निर्धारित होती है, अतः इतिहासकार के लिए उस प्रगति तथा उन मूल्यों के निहितार्थ को समझना आवश्यक है। परन्तु साहित्य के सही ऐतिहासिक दृष्टिकोण के निर्माण में उसके साथ–साथ साहित्य के उन नवीकृत शाश्वत सिद्धान्तों का भी महत्त्वपूर्ण योग होना

---

1. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप पृ0 सं0 105

चाहिए, जिन्हें प्राचीन सिद्धान्तों ओर साहित्य की नवीन आवश्यकताओं के सम्बन्ध द्वारा विकसित गया हो।"[1]

"साहित्य के इतिहास में चाक्रिक और रेखिक सिद्धान्त"

विकास एवं परिवर्तन सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों में गति के दो स्वरूप ध्वनित होते है। रेखाकृत एवं चाक्रिक। साहित्य के इतिहास में भी इन दोनोंका रूप परिलक्षित किया जा सकता है। रेखावाद मानव जाति की एक निश्चित गन्तव्य अथवा प्राप्तव्य की प्राप्ति की चेष्टा में उत्तरोत्तर सफलता की कल्पना करता है। कान्ट ओर हर्डर के अनुसार मानवता के विकास की गति हिंसा से शान्ति की ओर, काम्टे के अनुसार पोराणिकता एवं पारलौकिकता से वेज्ञानिकता एवं लोकिकता की ओर।

चक्रवादी धारणाओं के अनुसार मानवता एक ही अथवा समान अवस्था या अवस्थाओं को बार–बार प्राप्त होती है। विकास क्षेत्र की व्यापकता अथवा विकास धाराओं की संख्या की दृष्टि से चक्रवाद के दो रूप हो जाते हैं। एक चक्रवाद ओर एक बहुचक्रवाद। एक चक्रचाद का अर्थ है सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक ही विकास चक्र की कल्पना। बहु चक्रवाद के अनुसार, मानव जाति वस्तुत: एक जाति न होकर अनेक जातियों, संस्कृतियों अथवा सभ्यताओं का एक संघ है। समूची मानवता का कोई विकास मार्ग नहीं है। चक्रवाद का मूल मानव ने प्रकृति में खोजा है

There were learned as well as simple men is many climes and times who belived they could discern a plot, a conflict, a recurrent rhythmic movement, not only in life, but in the pulse, the swing of the appetites, the succession of the seasons, the

processes of organic growth and decline the even mighter cyles of the outer universe. Might not these rhythms have their counter past in social phenomena.[1]

चक्रवाद के अनुसार मानव जाति एक महा जाति है, जो संस्कृतियों अथवा सभ्यताओं रूपी उपजातियों में विभक्त है। यह विभाग देशिक तथा कालिक द्विविध है अर्थात् सभ्यताओं में सहस्थिति तथा पूर्वापर–क्रम दोनों प्रकार के सम्बन्ध देखने को मिलते हैं। प्रत्येक सभ्यता एक सजीव प्राणी के समान जन्म लेती है, संवर्द्धित होती है, परिपक्व होती है एवं मृत्यु को प्राप्त होती है।

विक्टर ह्यूगो के अनुसार प्रत्येक जाति का साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओं से गुजरता है– प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक एवं नाटकीय।" कविता की तीन अवस्थाएं होती हैं। आदिम युग प्रगीतात्मक होते हैं, प्राचीन युग की वीरगाथात्मक, जबकि आधुनिक युग नाटकीय हैं। ओड अनन्तता का गान करती है, वीरकाव्य इतिहास का समारोह करता है और नाटक जीवन के चित्र खींचता है।"[2]

चक्रवादियों ने रेखावादियों का विरोध किया। सबसे अधिक विरोध सोरोकिन ने किया। उसका कथन है कि रेखाकार विकास तभी सम्भव होगा जब या तो परिवर्तनशील वस्तु पूर्ण शून्य में स्थित हो, जिससे वाह्य शक्तियाँ उसकी गति की दिशा में कोई भेद उत्पन्न न कर सकें लेकिन बाह्य शक्तियों के हस्तक्षेप से विकास रेखा थोड़ी दूर तक चलकर अवश्य टूट जायेगी।

रेखावाद की परिभाषा इस प्रकार की गयी है –

---

1. Sociology and History P. 22.

"A Comulative process is one which never returns in any regular way to previous but which has certain constency in its pattern of change."[1]

रेखावाद के अनुसार कालक्रम से मानवता की अनुभव-राशि में निरन्तर वृद्धि होती है, जिसके कारण उसके लिए पुरान जीवन मार्ग का परित्यागऔर नये जीवन मार्ग का अनुसन्धान एवं अनुसरण आवश्यक हो जाता है। सोरोकिन का यह सिद्धान्त कि मानवता बार-बार उसी मार्ग का अनुसरण करती है, इसलिए भ्रमपूर्ण है कि अतीत के अनुभव हमारे पास इतिहास के रूप में सुरक्षित हैं, उनके परिणाम भुलाए नहीं जाते, अतः उन्हीं को बार-बार दोहराने का सवाल नहीं उठता। कभी-कभी ऐसा लगता है कि हम अतीत को दोहरा रहे हैं, परन्तु वह सत्य नहीं होता। "रेखावाद, मनुष्य के निरन्तर श्रेष्ठतर प्रयास में विश्वास रखता है। वह मानता है कि साधनों की संख्या असीमित है, एवं सदेव नए-नए परीक्षण किए जा सकते हैं। इस दृष्टि से सोरोकिन का वर्णन संकुचित है। एक ही काल में दो विपरीत स्थितियाँ पाई जाती हैं।"[2]

कोबर के अनुसार कला, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि के क्षेत्रों में प्रतिभाओं का उद्गम प्रायः इक्का-दुक्का न होकर झुंड के रूप में होता है। समाज के लम्बे जीवन में प्रतिभा समूहों की दो चार आवृत्तियाँ हो जाती हैं। इसका अर्थ है कि संस्कृति के भिन्न-भिन्न उत्कर्ष काल रहे हैं।

सोरोकिन का कथन है - "कोई अन्वेषण मोलिक रूप से महत्त्वपूर्ण तब समझा जाता है जब वह आगे के विकास के लिए नये क्षेत्रों एवं नई सम्भावनाओं का उद्घाटन करता है। जब इस प्रकार का मार्ग-प्रदर्शक अन्वेषण हो जाता है तब उसके पीछे ऐसे अन्वेषण का जमघट लग जाता है, जो उसी से निःसृत होते

---

1. Social and Cultural Dynamics P.15.

2. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप पृ0 सं0 - 123

हैं। इसके विपरीत, अपेक्षाकृत महत्त्वहीन अन्वेषण (इस प्रकार) फलोन्मुख नहीं होता। वह आगे के अन्वेषणों के लिए किसी अथवा कम से कम कई नई सम्भावनाओं का उद्घाटन नहीं करता और इसलिए उसके पीछे बहुत सी नई वैज्ञानिक विजयों (सफलताओं) की सम्भावना नहीं रहती। (यही कारण है कि) महान अन्वेषणों के बड़ी संख्या के युग भी होते हैं।"[1]

"पेराल्ट का कथन है कि विज्ञान और कलाएं सरिताओं के समान हैं, जो थोड़ी दूर तक भूमि के भीतर होकर बहती हैं, और जब कोई छिद्र पा जाती हैं तब उसी प्राचुर्य के साथ निकल पड़ती हैं, जिसके साथ वे कभी भूमि के भीतर लुप्त हुई थीं।"[2]

इन मान्यताओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साहित्य के विकास में सदैव न तो चाक्रिक और न ही रेखिक सिद्धांत लागू होते हैं। यदि रेखिक सिद्धांत के अनुसार देखें तो, साहित्य में प्रगति एवं पतन के युग बराबर आए हैं। भक्तिकाल के बाद रीतिकाल एवं रीतिकाल के बाद छायावादी कविता इस सिद्धान्त का खण्डन करती है।

प्रायः देखा गया है कि अधिकाँश संस्कृतियों का सर्वश्रेष्ठ साहित्य उनके प्राचीन या मध्यकाल तक लिखा जा चुका था। यूनानी साहित्य में होमर के इलियड और ओडेसी, फिनलैंड के साहित्य में कालरेला असीरिर्याड बेबिलीनियाई साहित्य में गिलगभेरा, हिब्रू साहित्य में बाइबिल का कुछ भाग, भारतीय साहित्य में बाल्मीकि,

---

1. Social and Cultural Dynamics - P. 128, II

2. वेरी दि इण्डिया ऑव प्रोग्रेस – पृ0 सं0 – 85–8 से

व्यास, कालिदास आदि की रचनाएं इसी तथ्य को सिद्ध करती हैं। रेखावाद के अनुसार उसके बाद का साहित्य इससे भी श्रेष्ठ होना चाहिए था और चक्रवाद के अनुसार इसकी आवृत्ति होनी चाहिए थी। दोनों ही तथ्य घटित नहीं हुए। आज की परिस्थितियाँ, उस समय से श्रेष्ठतर हैं, तो श्रेष्ठतर परिस्थितियाँ श्रेष्ठतर साहित्य को जन्म क्यों नहीं दे पा रही हैं? यहाँ रेखावादियों का सुझाव है कि काव्य का सौष्ठव बौद्धिक उहापोह पर नहीं अपितु कल्पना शक्ति की उर्वरता पर निर्भर है जो बिना वैज्ञानिक विकास के ही पूर्णता प्राप्त कर लेती हैं। अतः प्रथम कोटि के कवियों के लिए बहुत अधिक समय की आवश्यकता नहीं है। जबकि विज्ञान के लिए है। परन्तु यहाँ सवाल ज्यों का त्यों है। विज्ञान के विकास के पहले कल्पनाशक्ति पूर्णता को पहुँच गयी थी, यह सत्य हो सकता है परन्तु उसके विघटित या पुनर्घटित न होने के क्या कारण हैं?

सोरोकिन ने चक्रवाद के अनुसार साहित्य में वृत्त की रचना इस प्रकार की है –

परोक्षवादी साहित्य	अध्यात्मवादी साहित्य	प्रत्यक्षवादी साहित्य
1. देवी देवता, मरणोत्तर जीवन आदि पारलौकिक एवं धर्म विषय	1. इहलोकोन्मुख परलोकवादी एवं वीरगाथात्मक विषय	1. विश्रय लौकिक सर्व साधारण का चित्रण रुग्ण एवं कुण्ठा–ग्रस्त व्यक्तियों में रुचि।
2. वैराग्य प्रधान, विषयसुखों से निरपेक्ष, सेक्स की ओर से उदासीन, नग्न–प्रियता का अभाव	2. आदर्शवादी संसार में सत् की प्रतिष्ठा, लोक पर–लोक दोनों में अभिरुचि सेक्स का उन्नयन कुछ नग्नता	2. भोग प्रधान, वासना प्रधान सेक्स प्रधान नग्नता में रुचि

3. श्रद्धावादी	3. श्रद्धोन्मुखी बुद्धिवादी	3. इन्द्रिय मूलक प्रत्यक्षवादी ।
4. परिस्थिति चित्रण ऐतिहासिक विवरण आदि का अभाव, मनुष्य के ऐहिक जीवन की ओर से उदासीनता	4. व्यक्ति के बदलते टाइप का चित्रण, आदर्श टाइप इतिहास का महत्व, आदर्श की प्रतिष्ठा, तिथि और वृत्त पर अधिक बल नहीं	4. व्यक्ति के जीवन में रुचि, इतिहास का चरित्र–चित्रण और परिस्थिति चित्रण का महत्व
5. उपदेश प्रधान हास्य उपालम्भ एवं कटाक्ष का अभाव। ट्रेजिडी का प्राधान्य	5. आदर्श प्रधान, थोड़ा बहुत हास्य, लेकिन तीखापन नहीं।	5. विश्लेषण प्रधान हास्य कटाक्ष आदि का महत्व कामेडी का बोल–बाला।
6. प्रतीकात्मक परम्परारक्षक	6. रूपात्मक टाइप मूलक	6. चाक्षुष, यथार्थ–मूलक
7. सरल टेकनीक	7. जटिलोन्मुख टेकनीक	7. जटिल टेकनीक
8. पेशेवर साहित्यकारों का अभाव	8. पेशेवर साहित्यकारों का उदय किन्तु अनादर	8. पेशेवर साहित्यकारों की बाढ़ एवं उनका आदर
9. आधुनिक ढंग की साहित्य समीक्षा का अभाव। साहित्य शिक्षा की विशेष व्यवस्था का अभाव।	9. साहित्य समीक्षा का उदय साहित्य शिक्षा की व्यवस्था का प्रारम्भ।	9. साहित्य समीक्षा एवं साहित्य शिक्षा की जटिल व्यवस्थाएं।

सोरोकिन का साहित्य का यह विभाजन तथ्यों पर बहुत कम आधारित है। उसका विचार है कि भारतीय साहित्य प्रायः सदा से परोक्षोन्मुख रहा है, परन्तु जो लक्षण इस साहित्य के निर्धारित किए हैं वे पूरी तरह नहीं घटते हैं। यही बात अन्य श्रेणियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस प्रकार का विभाजन साहित्य

के अटूट विकास क्रम को खण्डित करता है। वस्तुतः निरपेक्ष रेखिक या चाक्रिक विकास साहित्य में सम्भव नहीं ही है। साहित्य के विकास को सर्वत्र संस्कृति के विकास का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। छायावादी कविता और द्विवेदी युगीन कविता को एक साथ देखने से स्पष्ट हो जाता है। कभी-कभी साहित्यकार का विकास चक्राकार होते हुए भी समाज का विकास रेखिक हो सकता है।

वस्तुतः ये दोनों ही सापेक्ष स्थितियाँ हैं। कोई रेखा ऐसी नहीं हो सकती जो टूटी न हो, उलझी न हो, विच्छिन्न न हो, वर्तुलाकार झुकी न हो। इसी प्रकार कोई चक्र ऐसा नहीं हो सकता जो केवल अपने ही स्थान पर घूमता हो आगे न बढ़ता हो स्वयं सोरोकिन का कथन है, "इतिहास अपने को दोहराता है, लेकिन उसके विषयों की सदा नये-नये रूपों में पुनरावृति होती है ......। इतिहास एक महान कलाकार के समान सृजनात्मक रूप भेद प्रस्तुत किया करता है, एक सुरे यांत्रिक रूपभेद नहीं।" इसका अर्थ हुआ कि अगला चक्र पिछले चक्र से विकसित होता है। रथ के चक्र की तरह जो अपने स्थान पर तो घूमता ही है, निरन्तर आगे भी बढ़ता है।

विकास की गति रेखिक या चाक्रिक है, इस बात पर भी निर्भर करता है कि हमारे मानदण्ड क्या हैं? यदि हम काव्य में संगीतात्मकता की दृष्टि से मूल्यांकन करें तो हमें ह्रास के लक्षण दिखेंगे, परन्तु यदि हमारा मानदण्ड गद्य का विकास हो तो रेखा ऊर्ध्वगामी बनेगी। यदि महाकाव्यात्मक चेतना की दृष्टि से परखा जाए तो निरन्तर क्षीणता लक्षित होगी और विभिन्न विधाओं की प्रमुखता की दृष्टि से देखें तो विकास की रेखा, स्पष्ट परिलक्षित होगी। इसीलिए भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में चाक्रिक एवं रेखिक सिद्धान्तों के विभिन्न मिश्रण पाये जाते हैं। एक को दूसरे में आरोपित नहीं किया जा सकता। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

1. **सरल रेखा –**

मानव की सम्पर्ण उपलब्धियों की दृष्टि से
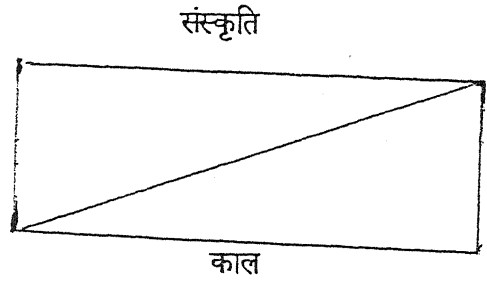
2. **प्रगति का सीढ़ीदार –**

विकास सिद्धान्त। उत्पादन के साधनों एवं आर्थिक अवस्था के आधार पर। जैसे – पुरातन पाषाण काल, कास्य काल, लोह काल अथवा खाद्य संचयन एवं शिकार युग, चारागाह युग, कृषि युग, ओद्योगिक युग आदि।
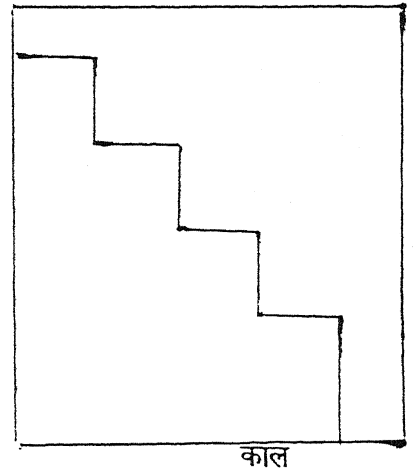
3. **असमान विकास के स्तर –**

जेसे – विभिन्न ऐतिहासिक युग ग्रीक रोमन सभ्यता पुनर्जागरण, ओद्योगिक क्रान्ति।
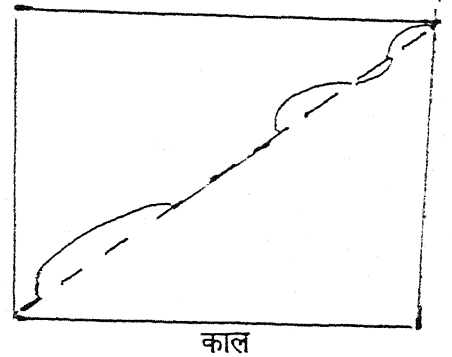
4. **अल्पकालीन चक्र एवं रेखिक सिद्धांत–**

जेसे – पूँजीवादी समाज में परम्परागत ओद्योगिक चक्र, उत्पादन एवम् आय आदि।

{विकास के स्तर} {
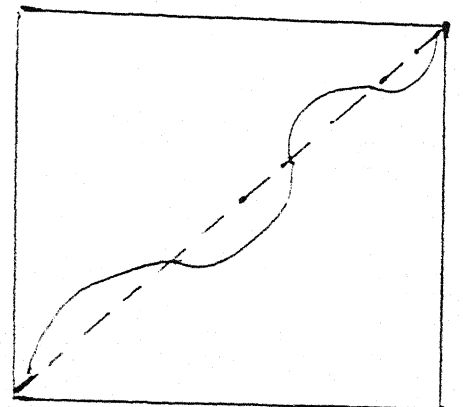
5. शाखा – प्रशाखाओं में विकास, प्रगति एवं ह्रास, परन्तु मूलरेखा अग्रगामी।

प्राचीन से वर्तमान तक की विकास रेखा
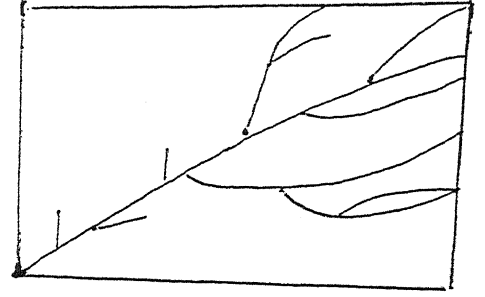
6. प्रवृत्तिहीन गति
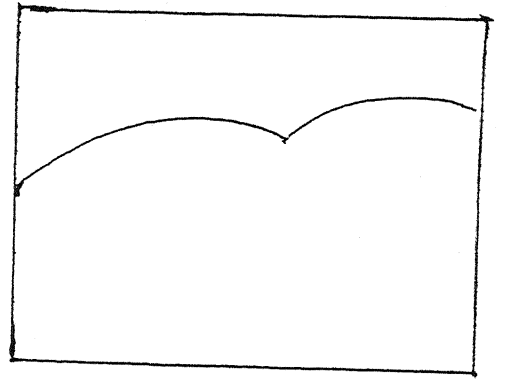
7. निरन्तर प्रगति

जैसे – जनसंख्या की वृद्धि
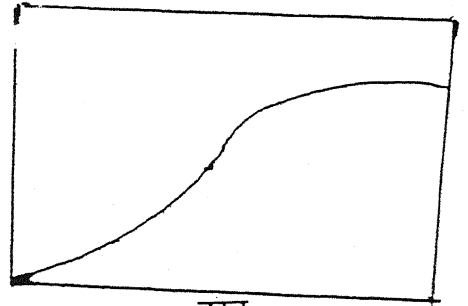
8. अधोमुखी रेखा

जैसे – मृत्युदर पौराणिकता आदि।
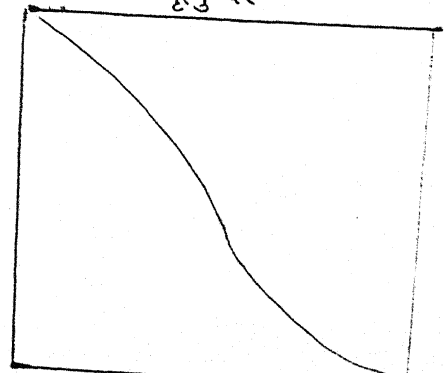
9. निरन्तर उर्ध्वगामी रेखा

जेसे – अविष्कार एवं

टेक्नोलॉजी में

(काल)
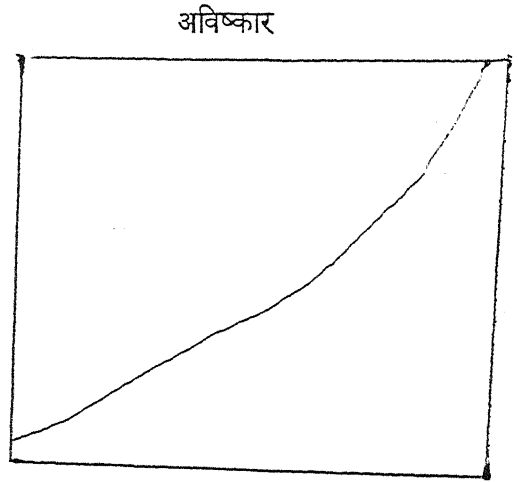
अस्तु, विकास की यह रेखा सरल नहीं जटिल प्रक्रिया है ओर अन्ततः मानव मूल्यों से संयुक्त करके इसे हम उर्ध्वगामी मान सकते हैं। यदि चक्र है, तो मानव जययात्रा का प्रगतिगामी चक्र है, स्थिर नहीं।

<u>विकास</u> :– अर्थ – मीमांसा – शब्द कोष के अनुसार **विकास** का अर्थ है – खुलना, प्रकट होना, क्रमिक विस्तार, प्रकटित वस्तुओं का क्रम आदि। इसी प्रकार इसके आंग्ल पर्याय **ऍवुल्यूशन** (EVOLUTION) के भी लगभग में ही अर्थ हैं। इन अर्थो का विश्लेषण करने पर **विकास** के मूल में चार धारणायें आधारभूत रूप में दृष्टिगोचर होती हैं – (1) प्राकृतिक क्रिया – **विकास** में **करने** का भाव नहीं है अपितु **होने** का भाव है अर्थात विकास किया नहीं जाता अपितु होता है। विकास प्राकृतिक प्रक्रिया है, मनुष्य के द्वारा स्वेच्छापूर्वक किया गया सचेष्ट कार्य नहीं। (2) पूर्व विद्यमानता – विकास क विभिन्न अर्थों से यह भी स्पष्ट है कि जिस वस्तु का विकास होता है वह पहले से विद्यमान होती है, सर्वथा नूतन नहीं। इस दृष्टि से विकास नूतन सृष्टि का विपरीतार्थक भी कहा जा सकता है। (3) परिवर्तनशीता – विकास में वस्तु की स्थिति, अवस्था या उसके रूप में कोई न कोई परिवर्तन अपेक्षित होता है; अतः परिवर्तनशीलता या गतिशीलता को विकास की आधारभूत धारणा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। (4) क्रमबद्धता – पदार्थो का विकास एकाएक या विना किसी क्रम के नहीं होता अपितु क्रमशः होता है। उदाहरण के लिए वृक्ष में पत्ते, फूल और फल एक निश्चित क्रस से आते हैं या जीवधारियों का विकास शिशु, तरुण एवं वृद्ध के रूप में क्रमशः होता है; अतः

क्रमबद्धता को भी विकास का आवश्यक लक्षण माना जा सकता है।

उपर्युक्त चारों धारणाओं का समन्वय करते हुए विकास की सामान्य परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है – विकास वह प्राकृतिक प्रक्रिया है जिससे पूर्व विद्यमान पदार्थ या वस्तु का रूप क्रमशः विभिन्न रूपों में परिवर्तित होता रहता है।

विकास के सिद्धान्त :– सृष्टि के विभिन्न रूपों के विकास की व्याख्या करते हुए विभिन्न चिरकों ने विकास के विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की है, जिन्हें हम मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं –

(1) **अध्यात्मपरक सिद्धान्त** और (2) **विज्ञान परक सिद्धान्त।** प्रथम वर्ग में प्राचीन युग के उन विद्वानों के सिद्धान्त आते हैं जिन्होंने आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर सृष्टि के विकास की व्याख्या की जबकि दूसरे वर्ग में इन शोधकर्त्ताओं के सिद्धान्त रखे जा सकते हैं जिन्होंने आधुनिक विज्ञान की गवेषणाओं के आधार पर अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन में दूसरे वर्ग के ही सिद्धान्तों का अधिक महत्त्व है; अतः हम यहाँ इसी वर्ग के सिद्धान्तों की चर्चा कर सकते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से विकास की व्याख्या करने वाले विद्वानों में भी परस्पर गहरा मतभेद मिलता है। इसका कारण यह है कि विभिन्न विद्वानों ने सृष्टि के विभिन्न क्षेत्रों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है। उदाहरण के लिए डारविन का विकासवाद जीव–सृष्टि की क्रियाओं पर आधारित है तो स्पेन्सर का सिद्धान्त भौतिक पिण्डों के संघटन एवं विघटन की प्रक्रियाओं के आधार पर स्थापित है। इसी प्रकार स्पेंग्लर, ट्वायवबी, सोरोकिन आदि ने समाज एवं संस्कृति के विकास की दृष्टि से विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। ऐसी स्थिति में हमोरे सामने यह प्रश्न है कि हम साहित्य के

व्याख्या के लिए किस सिद्धान्त को अपनावे? साहित्य का सम्बन्ध रचयिता के व्यक्तित्व उसकी मानसिक प्रक्रियाओं, सामाजिक वातावरण एवं सांस्कृतिक उपलब्धियाँ इन सभी से है। ऐसी स्थिति में हम किसी एक सिद्धान्त का अनुगमन नहीं कर सकते। साथ ही यह भी निश्चित है कि ये सभी सिद्धान्त क्षेत्रीय सीमाओं से आबद्ध होने के कारण सीमित है। फिर भी ये सर्वथा अनुपयोगी नहीं हैं। जिस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनकी सामान्य प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं उसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के सिद्धान्तों की तुलना से उपलब्ध सामान्य तत्वों के आधार पर किसी ऐसे सामान्य सिद्धान्त की स्थापना की जा सकती है जो सभी क्षेत्रों पर सामान्य रूप से लागू हो सके। हम भी आगे ऐसा ही करते हुए, विभिन्न क्षेत्रीय सिद्धान्तों के आधार पर विकास का एक सामान्य या यूनिवर्सल सिद्धान्त खोजने का प्रयास करेंगे।

<u>विकास के क्षेत्रीय सिद्धान्त</u> :- सृष्टि के विभिन्न क्षेत्रों में विकासवाद के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं जिनमें प्रमुख डारविन, स्पेन्सर, मार्क्स, बर्गसां ट्वायनबी, सोरोकिन आदि के हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

(1) <u>डारविन का सिद्धान्त</u> :- चार्ल्स डारविन (1809-1882) ने अपने ग्रन्थ **दि ऑरिजन आफ स्पेसीज** (1859) में जीवन विज्ञान के आधार पर विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए बताया है कि सृष्टि के प्राणियों में नव-सर्जन की अपार क्षमता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति सभी उत्पादित प्राणियों को संरक्षण प्रदान नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप विभिन्न प्राणियों में अपने-अपने अस्तित्व एवं पोषण के लिए संघर्ष होता है। जो प्राणी परिस्थितियों का सामना करने में जितने अधिक उपयुक्त हैं वे ही प्रकृति का संरक्षण प्राप्त कर पाते हैं, शेष प्राणी नष्ट हो जाते हैं। परिस्थितियों या वातावरण के अनुसार ढलने के लिए विभिन्न प्राणी अपने आप में तदनुकूल परिवर्तन की कामना करते हैं जिससे उनमें तथा उनकी संततियों

में वैसा परिवर्तन या विकास हो जाता है। यदि यह परिवर्तन वस्तुतः उपयोगी हुआ तो इसे प्रकृति स्थायी रूप से स्वीकार कर लेती है। प्रकृति की इसी स्वीकृति को डारविन ने प्राकृतिक चुनाव (NATURAL SELECTION) की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः डारविन परिस्थिति एवं वातावरण जन्य तथा प्रकृति द्वारा स्वीकृति इसी परिवर्तन को विकास का आधारभूत कारण मानते हुए इसे प्राकृतिक चयन के सिद्धान्त को नाम दिया है।

डारविन का यह सिद्धान्त अपूर्ण है। परवर्ती शोधकर्त्ताओं ने इसे परिवर्द्धित एवं संशोधित करते हुए इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि जीवों के विकास में सबसे अधिक योगदान माता-पिता के उन अंशों पर निर्भर है जिनके मेल से सन्तानोत्पत्ति होती है। मेंडले ने यह प्रमाणित किया कि माता और पिता प्रकृति भेद एवं उनके क्षरित अंशों के अनुपात भेद के कारण ही उनकी संतानों में परस्पर गहरा साम्य होते हुए भी अनेक बातों में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। किन्तु इस अन्तर का मूल कारण माता-पिता की ही प्रकृति में निहित है। अतः विकास का श्रेय सबसे अधिक वंश परम्परा को ही दिया जाना चाहिए पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वातावरणजन्य परिवर्तन एवं प्राकृतिक चयन का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। वंश परम्परा के साथ-साथ इनका भी महत्त्व है। इस प्रकार जीव-विज्ञान के क्षेत्र में वंश-परम्परा वातावरण एवं प्राकृतिक चुनाव - इन तीनों की ही क्रिया-प्रतिक्रिया को विकास की प्रक्रिया के मूलाधार के रूप में स्वीकार किया जाता है। अतः हमें भी डारविन के सिद्धान्त को इस संशोधित रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

(2) <u>स्पेन्सर का सिद्धान्त</u> :- "हरबर्ट स्पेन्सन (1820 - 1903 ई0) ने विकास के सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए बताया कि समस्त विश्व का सार तत्व शक्ति है, जिसके मुख्यतः दो पक्ष हैं द्रव्य (MATTER) एवं गति। द्रव्यशक्ति का स्थिर भौतिक रूप है जबकि गति उसी का गत्यात्मक - सूक्ष्म रूप है। द्रव्य ओर गति की ही प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप सृष्टि का विकास एवं ह्रास होता है। जब शक्ति द्रव्य के रूप में संघटित होती हुयी निश्चित स्पष्ट एवं विशिष्ट आकार ग्रहण कर लेती है तो उसे हम विकास कहते हैं, जबकि उसका

विघटन हो जाने पर उसका रूप अनिश्चित अस्पष्ट एवं सामान्य हो जाता है, यही उसका ह्रास है। द्रव्य के संघटन के साथ–साथ गति या क्रिया का फैलाव होता रहता है जबकि उसका विघटन हो जाने पर गति में भी संकोच आ जाता है।"[1]

इस प्रकार स्पेन्सर के शब्दों में, "विकास द्रव्य की वह संघटनात्मकता एवं गति का व्यय (या बिखराव) है जिसमें द्रव्य अनिश्चितता, असंश्लिष्टता एवं समरूपता की स्थिति से अपेक्षाकृत निश्चितता, संश्लिष्टता एवं बहुरूपता की स्थिति की ओर अग्रसर होता है तथा साथ–साथ है जिसकी अन्तर्निहित गति में भी समान्तर रूप में परिवर्तन आता है। स्पेन्सर से इस फार्मूले को यदि और संक्षेप में कहें तो द्रव्य का संघटन शक्ति या गति की अभिव्यक्ति एवं रूपों का विस्तार ही विकास का सूचक है जबकि इसके विरोधी लक्षण ह्रास से सम्बन्धित हैं।

स्पेन्सर के विचार से विभिन्न पदार्थो के विकास एवं ह्रास का यह चक्र बराबर चलता रहता है तथा इसका मूल कारण विभिन्न शक्तियों का पारस्परिक प्रभाव है। स्पेन्सर ने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि भौतिक, जैविक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों के आधार पर की है तथा उनका यह दावा है कि यह सिद्धान्त सृष्टि के सभी क्षेत्रों पर समान रूप से लागू होता है। कला और साहित्य पर भी उन्होंने इसे लागू कर दिखाया है।

(3) <u>मार्क्सवादी सिद्धान्त</u> :– कार्ल मार्क्स (1818 – 83) तथा उसके परवर्ती अनुयायियों ने विकासवाद की व्याख्या द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर की है। उनके विचार से प्रकृति के सभी उपादानों एवं कार्य व्यापारों में परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान है, जिनके पारस्परिक द्वन्द्व से ही सृष्टि का विकास होता है। दूसरे प्रकृति की प्रत्येक क्रिया सम्बन्ध वातावरण एवं परिस्थितियों से प्रभावित होती है – अतः विकास की प्रक्रिया को भी इन्हीं के आधार पर समझा जा सकता है। सभी प्राकृतिक कार्य – व्यापारों की केन्द्रीय – शक्ति उत्पादन – शक्ति है जो सभी क्षेत्रों को प्रभावित करती है। इस प्रकार मार्क्सवाद के अनुसार विकास

---

1. Herbert Spencer - First Principal

का रहस्य प्रकृति, वातावरण द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया एवं उत्पादन शक्ति – इन चार सूत्रों में निहित है।

(4) <u>हेनरी वर्गसां का सर्जनात्मक विकासवाद</u> :– हेनरी वर्ग सां (1895 – 1941) ने समस्त सृस्टि को मूलतः दो तत्वों में विभाजित किया – जड़ और चेतन या द्रव्य और जीवन। उनके विचार से सृष्टि का समस्त विकास इन्हीं दो सन्ताओं के पारस्परिक संघर्ष पर आधारित है। चेतना अपने – आप में एक बहुत बड़ी सर्जनात्मक शक्ति है जो भौतिक दृष्टि से निरन्तर संघर्ष करती हुई आगे बढ़ती रहती है। यह नव सर्जन शक्ति ही विकास की आधारभूत शक्ति है। जीवन धारियों के विकास की सबसे बड़ी मंजिल मानसिक विकास है। यह मानसिक विकास भी आगे चलकर दो धाराओं में – प्रातिभ ज्ञान (INTITUTION) और बुद्धि (INTELLIGENCE) में विभक्त हो जाता है; जहाँ पशु – पक्षियों का विकास प्रतिभज्ञान के ही स्तर तक रह जाता है वहाँ मनुष्य का विकास बोद्धिक विकास के रूप में होता है। इस प्रकार वर्ग सां के विकास वाद का मुख्य क्षेत्र मानसिक क्षेत्र ही हे तथा विकास का मूल आधार जड़ ओर चेतन के द्वन्द्व एवं शक्ति की सर्जन–प्रेरणा में ही निहित है।

(5) <u>आर्नल्ड ट्वायनबी</u> :– ट्वायनबी (1889 ई0) ने अपने ग्रन्थ **ए स्टडी** आफ **हिस्ट्री** में विश्व की विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की व्याख्या करते हुए सामाजिक विकास की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण जाति (RACE) वातावरण एवं सर्जनात्मक व्यक्तित्व के आधार पर किया हे। उनके विचार से प्रत्येक समाज के अपने परम्परागत जातीय गुण होते हैं। जिनमें उसके विकास की क्षमताएं निहित होती हैं, परन्तु किसी भी समाज में सक्रियता बाह्य वातावरण या परिस्थितियों के दबाव के कारण आती है। परिस्थितियों के इसी दबाव को ट्यानबी ने चुनोती (CHALLANGE) एवं प्रत्युत्तर (RESPONSE) की प्रक्रिया का रूप दिया है। समाज के सामने किसी भी प्रकार का – भोगोलिक,

आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि संकट (या चुनौती) उपस्थित होने पर वह उसका निराकरण या समाधान (प्रत्युत्तर) खोजता है। समाधान का यह कार्य समाज के विशिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न होता है। ये सर्जनात्मक (प्रतिभाशाली) व्यक्ति ही ऐसे अवसरों पर समाज का नेतृत्व करते हुए उसे आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार जब तक इन विशिष्टि व्यक्तियों की प्रतिभा समाज के लोगों को आकर्षित करती रहती है। जब तक उसका विकास होता रहता है किन्तु आगे चलकर जब परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो उनका आकर्षण भी न्यून हो जाता है और पुनः समाज में जड़ता आ जाती है। इस प्रकार ट्वानबी के विचार से सर्जनात्मक व्यक्तियों के द्वारा दिये गये चुनौतियों के प्रत्युत्तर तथा समाज के द्वारा उनके अनुकरण के बल पर ही विभिन्न जातियों और सभ्यताओं का उत्थान् – पतन या विकास एवं ह्रास होता है। ट्वायनबी के इस सिद्धान्त को यदि और भी संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहें तो इसे इन चार सूत्रों में रखा जा सकता है – (1) जातीय परम्परा (2) परिस्थितियों का दबाव (3) सर्जनात्मक व्यक्तियों का नेतृत्व एवं (4) समाज के द्वारा अनुकरण। ट्वायनबी ने उपर्युक्त सूत्रों के आधार पर विश्व की प्रमुख सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के विकास की व्याख्या सफलता पूर्वक की है।

<u>विकास का सामान्य सिद्धान्त</u> :– विकास के विभिन्न क्षेत्रीय सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन से हमें पांच ऐसे सामान्य सूत्रों की उपलब्धि होती है, जिन्हें इन सभी सिद्धान्तों में किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। वे सूत्र ये हैं – (1) प्राकृतिक सर्जन – शक्ति (2) परम्परा (3) वातावरण (4) द्वन्द्व या आकर्षण – विकर्षण और (5) संतुलन – स्थाना इन सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या यहाँ क्रमशः की जाती है –

(1) <u>सर्जन शक्ति</u> :– "विकासवाद के प्रायः सभी सिद्धान्तों में विकास के पीछे एक ऐसी शक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया गया है जिसमें अपार सर्जन – क्षमता है। इस शक्ति को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नाम दिये हैं किन्तु

उसके सामान्य लक्षण के रूप में सभी ने नैसर्गिक सर्जन – क्षमता को माना है। उदाहरण के लिए डारविन ने इसे प्रकृति की अपार प्रजनन क्षमता कहा है तो स्पेन्सर, मार्क्स, वर्गसां, ट्रावयनबी आदि ने इसे क्रमशः प्राकृतिक शक्ति, उन्मादन शक्ति, सर्जनात्मक शक्ति, सर्जनात्मक व्यक्तित्व आदि की संज्ञा दी है।[1] वस्तुतः नामकरण का यह अन्तर क्षेत्र एवं भाषा के भेद पर आधारित है अन्यथा ये सभी संज्ञायें इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि सृष्टि के प्रत्येक क्षेत्र का विकास उस क्षेत्र की किसी न किसी सर्जन – शक्ति पर आधारित होता है। उसके अभाव में विकास की प्रक्रिया का होना असम्भव है।

(2) <u>परम्परा</u> :– विकासवाद के प्रायः सभी व्याख्याताओं ने एक ऐसे तत्व का उल्लेख किया है जो शक्ति का केन्द्र होता है तथा उसी के गर्भ से नये तत्वों का आविर्भाव होता है; इसे डारविन ने **वंश परम्परा** का नाम दिया है तो ट्यानबी ने **जाति** या (RACE) की संज्ञा दी है। स्पेन्सर ने इसे **द्रव्य** तथा मार्क्स ने इसे **विधेयात्मक** तत्व कहा है। ऊपरी दृष्टि से ये सब तत्व अलग – अलग प्रतीत होते हैं किन्तु वस्तुतः ये सभी उस आधार तत्व के द्योतक हैं जिस पर भावी विकास आधारित होता है। जिस प्रकार भौतिक जगत में आधारभूत या परम्परा द्रव्य के अभाव में कोई भी नई वस्तु निर्मित नहीं की जा सकती उसी प्रकार जैविक क्षेत्र में वंश – परम्परा तथा सामाजिक क्षेत्र में जातीय परम्परा के अभाव में नया विकास सम्भव नहीं। इस तत्व को एक सामान्य नाम **परम्परा** देते हुए कहा जा सकता है कि यही वह बीज है जिस पर सृष्टि रूपी वृक्ष का विकास सम्भव है यह दूसरी बात है कि इसका स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार का हो। प्रत्येक क्षेत्र में परम्परा से कुछ न कुछ लेकर ही आगे बढ़ा जा सकता है, सर्वथा नूतन द्रव्य, वस्तु या जीव का निर्माण किसी के द्वारा भी सम्भव नहीं। सामान्य भाषा में हम जिसे **नूतन** कहते हैं वह वस्तुतः प्रयोग शैथिल्य का परिणाम है अन्यथा उसमें बहुत कुछ पुरातन होता है या यों कहिये कि वह पुरातन का ही परिवर्द्धित, परिवर्तित या विकसित रूप होता है। अतः यह विकास का सार्वभौम नियम है

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – पृ० सं० 11

कि प्रत्येक नयी वस्तु के मूल में परम्परा का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है।

(3) **वातावरण** :– जहाँ परम्परा विकास के आधारभूत एवं स्थायी तत्वों की सूचक है वहाँ वातावरण परिवर्तनशील पक्ष को प्रस्तुत करता है। जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, विकासवाद प्रत्येक वस्तु की परिवर्तनशीलता को स्वीकार करता है जबकि परम्परा परिवर्तनशीलता परम्परा की बाधक है। फिर भी परम्परागत तत्वों या परम्पराओं को परिवर्तित होना पड़ता है, अन्यथा उनके विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है इस परिवर्तन का मूल कारण है वातावरण। वातावरण जन्य परिवर्तन को या बाह्य परिस्थितियों या शक्तियों के प्रभाव को डारविन, स्पेन्सर, मार्क्स, ट्वानवी आदि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि **वातावरण** की व्याख्या हमें प्रसंग के अनुसार करनी चाहिए। इसमें न केवल भौतिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीति, सांस्कृतिक आदि सभी परिस्थितियों का समावेश किया जाना चाहिए अपितु उन सब समसामयिक तथ्यों, घटनाओं एवं क्रियाओं को लिया जाना चाहिए जो अन्य किसी सत्ता को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रकार के बाह्य प्रभाव को वातावरण के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

(4) **द्वन्द्व या आकर्षण–विकर्षण की प्रक्रिया** :– उपर्युक्त तीनों तथ्य क्रमशः विकास की प्रक्रिया के सूत्रधार, उनकी आधारभूत शक्ति एवं उसके प्रेरक या उद्दीपक कारण की व्याख्या करते है, किन्तु इनमें स्वयं विकास की प्रक्रिया के रूप का आख्यान नहीं किया गया। इसके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। डारविन इस प्रक्रिया को **प्राकृतिक चुनाव** के रूप में स्वीकार करता है तो मार्क्सवादी इसे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के नाम से पुकारते हैं। दूसरी ओर स्पेन्सर ने इसे आकर्षण–विकर्षण की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया है तो ट्वानबी ने इसी को**चुनौती और जबरन** की प्रक्रिया माना है। ऐसी स्थिति में यह समस्या है कि इनमें से किसे स्वीकार किया जाए? विश्लेषण से हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

इन सभी के मूल में आकर्षण–विकर्षण की ही प्रक्रिया विद्यमान है, अन्य सभी प्रक्रियाएं उसी की प्रतिरूप हैं। उदाहरण के लिए डारविन के **प्राकृतिक चुनाव** सिद्धान्त को लिया जा सकता। प्रकृति कोई साकार प्राणी नहीं है और न ही वह नाप–जोख कर वस्तुओं का चुनाव करती है। "प्रकृति के अन्तर्गत भौतिक जगत् के वे सभी जड़ चेतन पदार्थ एवं व्यक्ति आ जाते हैं जो किसी न किसी प्रकार की क्रिया करते हैं। किन्तु यह क्रिया क्या है। भौतिक, जैविक एवं मानसिक आदि सभी क्षेत्रों में मूल क्रिया एक है– आकर्षण और विकर्षण। एक ओर भौतिक पिंड इस क्रिया के बल पर सृष्टि में चक्कर काटते हैं तो दूसरी ओर जीवधारी इसी से प्रेरित होकर सर्जन पालन ओर संहार में प्रवृत्त होते हैं।"[1]

डारविन ने **यौवनाकर्षण** चुनाव जैसी बौद्धिक क्रिया न होकर **आकर्षण** ही सहज क्रिया है। इसी प्रकार हमारे समस्त मानसिक जगत् के कार्य व्यापार एक ओर भावात्मक आकर्षण–विकर्षण(या राग द्वेष तथा उनके व्युत्पन्न असंख्य भावों एवं प्रवृत्तियों) से संचालित होते है तो दूसरी ओर बौद्धिक आकर्षण विकर्षण (जिन्हें दूसरा नाम जिज्ञासा = आकर्षण एवं तर्क = विकर्षण का दिया जा सकता है) द्वारा हमारे समस्त बोद्धिक कार्य–व्यापार गठित होते हैं, इसी प्रकार हमारी सभी शारीरिक चेष्टाएं एवं जातियों – श्वासोच्छवास एवं रक्त–प्रसार से लेकर बड़े–बड़े कार्यो तक आकर्षण–विकर्षण की प्रक्रिया के रूप में सम्पन्न होती है। जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं विश्व की सभी जड़ चेतन शक्तियां (गुरुत्वाकर्षण चुम्बक, विद्युत, परमाणु, जीवनी, मानसिक आदि) आकर्षण–विकर्षण की प्रक्रिया के रूप में ही कार्य करती हैं तथा चुनाव और बहिष्कार, चुनौती और जवाब, प्रेम ओर संघर्ष के मूल में यही प्रक्रिया विद्यमान है, अतः उपर्युक्त सभी विद्वानों की मान्यताओं का इसमें समन्वय करते हुए आकर्षण–विकर्षण को विकास–प्रक्रिया के सामान्य नियम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः आकर्षण–विकर्षण की प्रक्रिया एक यूनीवर्सल प्रक्रिया है जो प्रत्येक प्रकार की गति प्रगति एवं विकास–प्रक्रिया में दृष्टिगोचर होती है।

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास– पृ0 सं0 13

{5} <u>सन्तुलन</u> :–विकास–प्रक्रिया का चरम लक्ष्य क्या है? इसके उत्तर में साम्य संतुलन, समन्वय शान्ति आदि की बात विभिन्न विद्वानों ने कही है। जब कोई तत्व या शक्ति अपने चरम विकास को प्राप्त कर लेती है तो वह शान्ति व निष्क्रिय हो जाती है। इस शान्ति या निष्क्रियता का वास्तविक कारण यह है कि शक्ति के घटक तत्व में परस्पर संतुलन स्थापित हो जाता है– जिस अभाव या वैषम्य की प्रेरणा से शक्ति गतिशील होती है, उसकी पूर्ति हो जाती है: फलतः वह चरम लक्ष्य को पाकर शान्त हो जाती है। यह बात न केवल चिन्तनशील प्राणियों में अपितु जड़ पदार्थों में भी पाई जाती है। किसी भी भौतिक पदार्थों में प्रोटीन एवं इलेक्ट्रोन के तत्वों की संख्या विषम होती है तो वह क्रियाशील रहता है जब तक कि इस संख्या में साम्य या संतुलन स्थापित नहीं हो जाता। इसी प्रकार चुम्बक शक्ति में उत्तरी छोर व दक्षिणी छोर में पूर्ण सामंजस्य हो जाने पर उसकी आकर्षण – विकर्षण शक्ति शान्ति या लुप्त हो जाती है किन्तु ज्यों ही किसी कारण से यह सामंजस्य भंग हुआ कि वह पुनः उद्दीप्त एवं क्रियाशील हो जाती है। वस्तुतः यह बात सभी क्षेत्रों में पाई जाती है, कहना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक क्षेत्र में विकास प्रक्रिया का लक्ष्य विरोधी परिस्थितियों व प्रवृत्तियों के के सामंजस्य एवं संतुलन स्थापित करना होता है, इस लक्ष्य की प्राप्ति के साथ ही विकास प्रक्रिया शान्त एवं निश्चेष्ट हो जाती है।

जैसा कि उपर स्पष्ट किया जा चुका है सन्तुलन स्थापना के अनन्तर सम्बन्धित वस्तु की अन्तः शक्ति तो शान्त एवं निष्क्रिय हो जाती है किन्तु साथ ही उसके स्थूल द्रव्य एवं बाह्य रूप का क्रमशः विघटन आरम्भ हो जाता है, जिसे हम ह्रास का भी नाम दे सकते है। यह विघटन तथा ह्रास तब तक चलता रहता है जब तक कि उसका अवसान नहीं हो जाता। उदाहरण के लिए जब एक पौधा अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है– पुष्पों एवं फलों से आच्छादित हो जाता है– तो इसके अनन्तर क्रमशः उसके फूल पत्ते झड़ने लगते है और अन्त में उसका पूर्ण अवसान हो जाता है। अतः उसका पूर्वोक्त पाँच सूत्रों के अतिरिक्त ह्रास के तत्वों विघटन और अवसान की भी चर्चा उनके साथ कर सकते है।

साहित्य की विकास – प्रक्रिया

"विकास की प्रक्रिया के सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। इनके आधार पर साहित्य की विकास प्रक्रिया को भी समझा जा सकता है। किन्तु इसके पूर्व हमें कतिपय परम्परागत सिद्धान्तों पर विचार कर लेना चाहिए। पाश्चात्य साहित्य के क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने साहित्य की विकास प्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयास किया है, जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रयास फ्रेंच इतिहासकार तेन का है। उसने साहित्य के विकास की व्याख्या के तीन आधारभूत सूत्र बताये हैं :–

(1) जाति (2) वातावरण (3) क्षण

वस्तुतः ये तीनो सूत्र जातीय परम्परा, राष्ट्रीय–वातावरण तथा समय – विशेष की परिस्थितियों के सूचक हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने इन तीनों सूत्रों के स्थान पर किसर एक ही पर विशेष बल दिया है। उदाहरण के लिए कुछ जर्मन इतिहासकारों ने युग–चेतना को साहित्यिक–विकास का आधार माना तो कुछ अंग्रेज विचारकों ने इस सम्बन्ध में परम्परा का अधिक महत्व दिया है। हड्सन जेसे चिन्तकों ने इन दोनों के बीच समन्वय स्थंपित करते हुए युग–चेतना ओर परम्परा के साथ– साथ साहित्यकार के विशिष्ट व्यक्तित्व को भी विकास का आधार बताया। इसके विपरीत मार्क्सवादी चिन्तकों ने व्यक्ति के स्थान पर समाज की आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग संघर्ष के आधार पर साहित्य की व्याख्या की। उधर फ्रायडवादी विचारक केवल मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को ही साहित्यिक विकास का मूल कारण मानते हैं। कुछ लोग व्यक्ति और समाज दोनों की महत्ता को स्वीकार करते हुए दोनों की पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रिया को ही इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्व देते हैं। हमारे विचार से ये सभी दृष्टिकोण एकांगी हैं, इन सभी में जहाँ आंशिक सत्य हे वहाँ इनमें न्यूनता एवं आंशिक असत्य भी है। यदि हम इन सभी दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुए इनकी उपलब्धियों को स्वीकार कर लें तो एक परिपूर्ण सिद्धान्त की रूप–रेखा तैयार हो सकती हे। उदाहरण

के लिए उपर्युक्त सभी विचारों एवं सिद्धान्तों को विकास-प्रक्रिया के पाँच सामान्य सूत्रों जिनकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है- के अन्तर्गत इस प्रकार समन्वित किया जा सकता है-

(1) प्राकृतिक सर्जन शक्ति = विशिष्ट व्यक्तित्व या साहित्यकार की विशिष्ट प्रतिमा

(2) परम्परा = जाति परम्परा

(3) वातावरण = वातावरण, युग चेतना, क्षण विशेष परिस्थितियां समाज की विभिन्न परिस्थितियां आर्थिक परिस्थितियां आदि।

(4) द्वन्द्व या आकर्षण-विकर्षण सामाजिक द्वन्द्व, व्यक्ति का आन्तरिक या मानसिक द्वन्द्व।

(5) सन्तुलन = xxxxxxxxxxxxxxxx

उपर्युक्त वर्गीकरण को देखने से स्पष्ट होता है कि बहुसंख्यक विद्वानों ने परम्परा, वातावरण एवं द्वन्द्व पर अधिक बल दिया है, शेष दो तत्वों की प्रायः उपेक्षा हुई है। वैसे सर्जन शक्ति के रूप में साहित्यकार के व्यक्तित्व का संकेत अवश्य कुछ विचारकों ने किया है, किन्तु संतुलन का उल्लेख प्रायः नहीं हुआ। किन्तु जहाँ द्वन्द्व है वहाँ सन्तुलन की भी स्वीकृति अप्रत्यक्ष रूप में रहती है, क्योंकि प्रत्येक प्रकार के द्वन्द्व का अन्तिम लक्ष्य संतुलन स्थापित करना ही होता है। अस्तु हम कह सकते है कि विकास प्रक्रिया को जिन पाँच सामान्य सूत्रों की स्थापना पीछे की गई है, उन्हें साहित्य चिन्तकों की परोक्ष स्वीकृति पहले से ही प्राप्त है, यह दूसरी बात है कि वे अपने एकांगी दृष्टिकोण के कारण अलग-अलग किसी एक को मान्यता देते हैं। वस्तुतः विकास की प्रक्रिया इनमें से किसी एक ही सूत्र पर आधारित नहीं हो सकती, अतः हमें इन पाँच सूत्रों को संश्लिष्ट रूप में स्वीकार करते हुए इन सभी के आधार पर साहित्य की विकास प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों को समझने का प्रयास करना चाहिए। यहाँ हम प्रत्येक सूत्र की व्याख्या साहित्य की दृष्टि से क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : पृ0 सं0 16

प्राकृतिक सर्जन – शक्ति :– साहित्य के विकास में सबसे अधिक योगदान प्राकृतिक सर्जन शक्ति का रहता है। जो व्यक्ति के माध्यम से कार्य करती है। प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य–शास्त्रियों ने इस विशेष शक्ति को प्रतिमा, सर्जन क्षमता, कल्पनाशक्ति, सहजानुभूति आदि नामों से पुकारा है। इनमें से कौन सा नाम अधिक उपयुक्त है– इसका निर्णय करना यहाँ कठिन है क्योंकि यह एक स्वतन्त्र शोध का विषय है, किन्तु हम इतना अवश्य कह सकते हें कि प्रायः सभी वर्गो के चिन्तकों ने साहित्यकार में एक विशेष शक्ति का अस्तित्व अवश्य माना है, जिसके बल पर साहित्य रचना की जाती है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि यह शक्ति न्यून मात्रा में तो सभी व्यक्तियों में होती है किन्तु साहित्यकार के पास अधिक मात्रा में होती है जिससे वह साहित्य सर्जन में सफल हो पाता है। इस शक्ति की न्यूनाधिक मात्रा सब व्यक्तियों में हो न हो, पर यह स्पष्ट है कि साहित्य का सर्जन एक विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा होता हे जो विभिन्न व्यक्तियों विभिन्न मात्रा में नैसर्गिक रूप में प्राप्त होती हे। हमारे विचार से केवल यही नही, साहित्य कार के अन्य मानसिक साधन भी जिन्हें वह साहित्य सर्जन में प्रयुक्त करता हे बहुत कुछ प्राकृतिक शक्तियों पर आधारित होते हे। उदाहरणतः साहित्यकार की सर्जन–क्षमता विचारों, भावों, अनुभूतियों संस्कारों आदि का सहयोग प्राप्त करती है तथा विचार भाव अनुभूति आदि की क्षमता भी उसे प्रकृति से प्राप्त होती है। इन क्षमताओं समिति रूप में मानसिक शक्ति का नाम दे सकते है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक शक्तियों में मात्रा एवं स्तर की दृष्टि से पारस्परिक अन्तर होता है, किन्तु मनोविज्ञान के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि मानसिक शक्ति की सभी प्रक्रियाएं प्राकृतिक नियमों के अनुसार संचालित होती हे, अतः व्यापक रूप में हम साहित्य सर्जन की मूल शक्ति को मानसिक शक्ति का ही एक अंग या अंश मानते हुए उसे प्राकृतिक या नेसर्गिक शक्ति के रूप में स्वीकार कर सकते हे।

साहित्यकार की नैसर्गिक सर्जन शक्ति भी अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है, वह साहित्यकार के माध्यम से कार्य करती हे तथा मान्सिक शक्तियों से भी सहायता लेती है।

अतः ऐसी स्थिति में उसका साहित्यकार की रुचियों, प्रवृत्तियों, धारणाओं एवं उसकी अनुभूतियों से प्रभावित हो जाना स्वाभाविक है। जिस प्रकार किसी ट्रेन में चलने का कार्य उसके इंजन के द्वारा होता है, किन्तु उसे विशेष दिशा एवं एवं विशेष पथ पर अग्रसर करने का कार्य ड्राइवर करता है वैसे ही साहित्यकार की सर्जन शक्ति साहित्यकार की रुचियों एवं प्रवृत्तियों के अनुसार ही विशेष क्षेत्र में आगे बढ़ाती है। इतना अवश्य है कि ट्रेन की भाँति सर्जन शक्ति यॉंत्रिक शक्ति नहीं है जो जब चाहे तब सक्रिय हो सके, वह विशेष समय एवं विशेष अवस्था की अपेक्षा रखती है। अस्तु कहने का तात्पर्य यह है कि सर्जन-शक्ति पर विचार करते समय साहित्यकार को रुचियों, प्रवृत्तियों, धारणाओं, अनुभूतियों आदि पर भी ध्यान देना आवश्यक है, अन्यथा हम उसकी प्रक्रिया को भली-भांति समझने में सफल न हो सकेंगे।

<u>परम्परा</u> :- साहित्य की विकास-प्रक्रिया का दूसरा मूलाधार तत्त्व परम्परा है। जिस प्रकार कोई भूमि कितनी ही सर्जन क्षमता से युक्त क्यों न हो फिर भी वह बीज के अभाव में पोधे का सर्जन व विकास नहीं कर सकती, उसी प्रकार कोई भी साहित्य अपनी अपार सृजन-क्षमता के होते हुए भी परम्परा से कुछ न कुछ ग्रहण किये बिना साहित्य के विकास में योग नहीं दे सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि परम्परा के अभाव में साहित्य-सर्जन सम्भव नहीं तो सर्वप्रथम परम्परा का उद्‌भव कैसे हुआ, यह प्रश्न वैसा ही है जैसा कि पहले-पहल बीज कहाँ से आया? वस्तुतः हर क्षेत्र के मूल बीज का रहस्य अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया, इसका अस्पष्ट सा उत्तर यही है कि सृष्टि की मूलाधार शक्ति अपनी विकास प्रक्रिया की विशिष्ट मंजिलों में समय-समय पर नये बीजों का उद्‌भव या विकास करती रहती है, पर ऐसा वह कब और क्यों करती है इसका पता लगाना अभी कठिन है।

फिर भी यह तथ्य है कि बीज के अभाव में वृक्ष का उद्भव संभव नहीं, भले ही हम उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर न दे सकें। अस्तु साहित्यक की आदि परम्परा के स्रोत का रहस्य न जानते हुए भी हम यह निश्चितता के साथ कह सकते हैं कि साहित्यकार की मानस-भूमि में किसी पूर्व परम्परा का भी बीज वपित होकर नये पोधे या नयी रचनाओं का रूप धारण करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि नयी रचना बिल्कुल पूर्व परम्परा से पृथक् किया जा सके। इसका कारण यह है कि परम्परागत तत्त्वों के साथ – साथ वातावरण से सम्बन्धित तत्त्वों का भी मिश्रण हो जाता है – अतः नयी रचना में परम्परा और वातावरण दोनों का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है, यह दूसरी बात है कि एक को दूसरे की अपेक्षा प्रमुखता प्राप्त हो जाय। अस्तु साहित्यिक परम्परा में वातावरण के प्रभाव से ही विभिन्न परम्पराओं में विभक्त एवं विकसित हो जाती है। अतः परम्परा के साथ-साथ वातावरण का भी महत्त्व है।

"एक साहित्यकार के सामने अनेक परम्पराएं विद्यमान रहती हैं, फिर भी वह उन सबको न अपनाकर किसी एक को या कुछ को ही अपनाता है। इसका कारण स्वयं साहित्यकार की रुचि, संस्कार, परिस्थिति, धारणा, दृष्टिकोण आदि में निहित हैं। कुछ साहित्यकार अपने युग की बहुमान्य परम्पराओं को छोड़कर किसी अन्य युग या अन्य देश की परम्पराओं को अपनाते हैं – इसके पीछे भी उपर्युक्त तत्त्व कार्य करते हैं। साथ ही साहित्यकार को नया रूप भी प्रदान करते हैं – अतः परम्पराओं का अध्ययन करते समय हमें साहित्यकार की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखना चाहिए, वस्तुतः ये सब प्रवृत्तियाँ विकास – प्रक्रिया के प्रथम सूत्र के अन्तर्गत आ जाती हैं, जिन्हें हम पहला स्थान दे चुके हैं। अतः परम्परा का स्थान उसके बाद ही आ जाता है।"[1]

<u>वातावरण</u> :– साहित्य के विकास – प्रक्रिया से सम्बन्धित तीसरा तत्त्व वातावरण है। परम्परा रूपी बीज सर्जनात्मक व्यक्तित्व की उर्वर भूमि में वपित होकर नये

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – पृ0 सं0 – 18

पौधों के रूप में विकसित होता है। किन्तु इसके लिए उसे कुछ तत्त्वों की और अपेक्षा होती है, वे तत्त्व हैं – जल, वायु, प्रकाश आदि। इन्हीं के समूह को हम यहाँ **वातावरण** की संज्ञा दे सकते हैं। साहित्य की दृष्टि से इस वातावरण के चार पक्ष निर्धारित किये जा सकते हैं – (1) युग – विशेष सामान्य परिस्थितियाँ (2) साहित्यकार की सामान्य परिस्थितियाँ (3) साहित्यकार के आश्रयदाताओं या पाठकों को रुचि एवं प्रवृत्ति (4) विशिष्ट रचना से सम्बन्धित विशेष प्रेरणा स्रोत। कोई भी साहित्यकार अपने युग के वातावरण, वैयक्तिक परिस्थितियों से सम्बन्धिंत पाठकों या आश्रयदाताओं की रुचि एवं प्रवृत्तियों तथा विभिन्न प्रेरणा स्रोतों से न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। वस्तुतः इन सबका सम्मिलित प्रभाव ही साहित्यकार की सर्जन शक्ति के उद्दीपन, पोषण एवं संरक्षण का कार्य करता है। जिस प्रकार एक नया अंकुर प्रस्फुटित होने के बाद भी एक अपेक्षित जलवायु के अभाव में अविकसित रह सकता है वैसे ही वातावरण की सर्वथा उपेक्षा करने वाला साहित्यकार भी अपनी क्षमता का पूर्ण विकास करने में असफल रहता हे पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं हे कि साहित्यकार को युगीन परिस्थितियों एवं वातावरण का अन्धानुकरण करना चाहिए। वस्तुतः उसका कार्य परम्परा के बीजों को वातावरण के जल से सींच कर उन्हें नया रूप देने का होता है। प्रत्येक युग की अपनी समस्यायें, अपनी आवश्यकताएं और अपनी इच्छाएं होती हैं। साहित्यकार इन समस्याओं, आवश्यकताओं और इच्छाओं को समझ कर उनके अनुरूप समाधान प्रस्तुत करता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने युग की हर बात का समर्थन करे, वह उनका विरोध भी कर सकता है। किन्तु उसे अपने युग का यथार्थ बोध अवश्य होना चाहिए। इसके लिए विशेष चेष्टा की आवश्यकता नहीं, जिसे अपने समय की सच्ची अनुभूति प्राप्त है, उसकी वाणी में स्वतः ही युंग का स्वर ध्वनित होने लगता है। अस्तु साहित्य के विकास में युगीन वातावरण के विभिन्न पक्षों का योगदान भी विभिन्न रूपों में रहता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

द्वन्द्व :– विकास प्रक्रिया योग देने वाले चौथे तत्त्व को द्वन्द्व की संज्ञा दी गयी है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है – द्वन्द्व दो वस्तुओं के पारस्परिक आकर्षण – विकर्षण या विरोध की प्रक्रिया का नाम है। सृष्टि के विभिन्न क्रिया – कलापों के मूल में द्वन्द्व की ही प्रक्रिया या प्रतिक्रिया रहती है। विकास के क्षेत्र में सर्जन – शक्ति द्वन्द्व से ही प्रेरित होकर सक्रिय होती है। साहित्यकार की भी सर्जन शक्ति किसी न किसी प्रकार के द्वन्द्व से प्रेरित होकर परम्परा एवं वातावरण के सहयोग से कार्य करती है। अस्तु सर्जन – शक्ति को प्रेरित, उद्दीप्त एवं सक्रिय करते हुए उसे विकास की ओर अग्रसर करने में किसी न किसी प्रकार के द्वन्द्व का योग रहता है। अन्यथा वह शक्ति निष्क्रिय व निश्चेष्ट हो जाती है।

साहित्य के क्षेत्र में परिस्थिति

भेद से द्वन्द्व के अनेक रूप एवं स्तर हो सकते हैं, जिन्हें मुख्यतः पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है –

1. **भौतिक द्वन्द्व** (क) प्रकृति के एक पक्ष एवं अन्य पक्ष के मध्य द्वन्द्व।

   (ख) मनुष्य और प्रकृति के बीच द्वन्द्व।

2. **सामाजिक द्वन्द्व** (क) व्यक्ति, परिवार एवं समाज के एक वर्ग एवं अन्य वर्ग के मध्य द्वन्द्व।

   (ख) राष्ट्र के एक वर्ग एवं अन्य वर्ग के मध्य द्वन्द्व।

3. **राजनीतिक द्वन्द्व** :– विभिन्न राष्ट्रों एवं राजनीतिक सत्ताओं के मध्य द्वन्द्व।

5. **मानसिक द्वन्द्व** :– एक ही व्यक्ति की विभिन्न मनोवृत्तियों के बीच द्वन्द्व।

सामान्यतः साहित्य की प्रत्येक परम्परा उपर्युक्त द्वन्द्वों में से किसी एक प्रकार के द्वन्द्व की प्रक्रिया से प्रेरित एवं चालित होती है अतः ज्यों – ज्यों उस द्वन्द्व की प्रक्रिया तीव्र एवं गम्भीर होती जाती है, त्यों – त्यों तत्सम्बन्धी साहित्य परम्परा भी तीव्रता एवं गम्भीरता से विकसित होती चलती है तथा अन्त में द्वन्द्व की प्रक्रिया के शान्त एवं संतुलित हो जाने पर सम्बन्धित परम्परा के विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है तथा उस स्थिति में वह या तो पुनः ह्रासोन्मुखी होकर विघटित हो जाती है अथवा किसी अन्य परम्परा में विलीन होकर समाप्त हो जाती है या निर्जीव एवं प्रभाव शून्य होकर रूढ़ि रूप में आगे बढ़ती रहती है, जब तक कि कोई अन्य सशक्त परम्परा उसे बलात् अवरुद्ध नहीं कर देती। सामान्यतः परम्पराओं की चरम परिषिति पाँच रूपों में होती है –

"1. **संयोजन :–** एक परम्परा अन्य परम्परा में मिल जाती है।

2. **विघटन :–** परम्परा अपने आधारभूत तत्वों का विघटन करती हुई क्रमशः निःशेष हो जाती है।

3. **विस्थापन :–** कोई अन्य परम्परा उसे पदच्युत करके उसका स्थान ग्रहण कर लेती है।

4. **विनिमय :–** नई परम्पराओं से विभिन्न तत्वों का आदान – प्रदान करके नये रूप विकसित हो जाते हैं।

5. **समवायी परिवर्तन :–** बाह्य तत्वों एवं लक्षणों की दृष्टि से जीवित प्रतीत होती हुयी भी आन्तरिक चेतना की दृष्टि से निर्जीव हो जाती है अर्थात् केवल रूढ़ि रूप में आगे बढ़ती रहती है।"[1]

<u>सन्तुलन</u> :– विकास प्रक्रिया के पाँचवे तत्व को संतुलन या सामंजस्य का नाम दिया गया है जो कि द्वन्द्व की चरम परिणिति या समाप्ति का सूचक है। जैसा कि पूर्व

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – 20

स्पष्ट किया जा चुका है, सर्जन शक्ति को सक्रिय एवं गतिशील बनाये रखने वाला तत्व द्वन्द्व ही है जिसके मूल में प्रायः किसी अभाव की पूर्ति या बाह्य दबाव, संघर्ष या विरोध से मुक्ति अथवा आन्तरिक आकर्षण – विकर्षण से उत्पन्न प्रवृत्तियों से निवृत्ति का लक्ष्य रहता है किन्तु जब इस लक्ष्य की पूर्ति हो जाती है तो तत्सम्बन्धी द्वन्द्व भी समाप्त या शान्त हो जाता है – इस स्थिति को सन्तुलन की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः संन्तुलन विकास प्रक्रिया की चरम् परिणित का सूचक है।

साहित्य परम्पराएं अपने चरम् विकास की स्थिति को प्राप्त कर लेने के लिए अनन्तर भी रूढ़ि रूप में कुछ समय तक प्रचलित रहती है यह दूसरी बात है कि मूल शक्ति या चेतना के निःस्पन्द यह निष्क्रिय हो जाने के कारण निर्जीव वा प्रभावशून्य हो जाती है तथा उनके विभिन्न तत्वों एवं रूपों का क्रमशः विघटन होता रहता है और अन्त में वे अवसान की स्थिति को प्राप्त कर लेती हैं।

इस प्रकार साहित्य की किसी भी कृति, प्रवृत्ति धारा या परम्परा के विकास को स्पष्ट करने के लिए हमें उपर्युक्त पाँचों तत्वों को ध्यान में रखते हुए क्रमशः वैशिष्ट्य (सर्जन – शक्ति) आधार भूत परम्परागत तत्वों, तद्‌युगीन वातावरण या परिवेश के प्रभाव स्रोतो तथा प्रेरक द्वन्द्व एवं सन्तुलन की स्थितियों पर विचार करना चाहिए, अन्यथा हमारे निष्कर्ष एवं निर्णय एकांगी या एकपक्षीय हो सकते हैं।

साहित्य के विकास की रूपात्मक व्याख्या

साहित्य की विकास – प्रक्रिया में योग देने वाले विभिन्न तत्वों की विवेचना की जा चुकी है, इनके आधार पर विकास प्रक्रिया के मूल कारणों या स्रोतों का अनुसन्धान सम्यक् रूप में किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे लक्षण भी निर्धारित किये जा सकते हैं, जिनके आधार पर साहित्य की रूपगत विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए उसके विकास या ह्रास की स्थिति का बोध प्राप्त किया जा सकता हे। जिस प्रकार व्यक्ति की रूपाकृति एवं उसके विभिन्न

लक्षणों के आधार पर उसके आन्तरिक स्वास्थ्य का अनुमान किया जा सकता है, उसी प्रकार साहित्य की भी रूपात्मक विशेषताओं के आधार पर उसके विकास की स्थिति को समझा जा सकता है।

स्पेन्सर ने तो सम्पूर्ण सृष्टि के ही विकास की व्याख्या रूपात्मक लक्षणों के आधार पर प्रस्तुत करते हुए प्रतिपादित किया था – विकास द्रव्य का एक ऐसा संघटन या केन्द्रीयकरण तथा उसकी सहचारी गति का अभिव्यंजन है जिसमें द्रव्य अनिश्चित असम्बद्ध एवं समरूपता की स्थिति से अपेक्षाकृत निश्चित, सुसम्बद्ध एवं बहुरूपता की स्थिति की ओर अग्रसर होता है तथा साथ ही जिसकी अन्तर्निहित गति (शक्ति) उसी के अनुकूल रूपान्तरित हो जाती है। यह सिद्धान्त मुख्यतः द्रव्य गति एवं रूप पर आधारित है जिन्हें साहित्य की दृष्टि से क्रमशः विषय वस्तु (द्रव्य), प्रवृत्ति (गति) एवं काव्य रूप या शैली रूप के अर्थ में ग्रहण करते हुए रूपात्मक दृष्टि से साहित्य के विकास के निम्नांकित लक्षण किये जा सकते हैं –

1. साहित्य की विकासोन्मुख अवस्था में उसकी विषय वस्तु के अन्तर्गत क्रमशः अधिकाधिक तत्व संघटित एवं केन्द्रीकृत होते रहते हैं।

2. उसमें विषय वस्तु की सहचारी गति अर्थात आन्तरिक प्रवृत्ति का प्रकाशन (अभिव्यंजना या अपव्यय) भी साथ – साथ (अधिक गम्भीर रूप में) होता चलता है।

3. उसमें साहित्य के बाह्य रूप भेद (जैसे – कविता, उपन्यास, कहानी आदि) क्रमशः अधिकाधिक निश्चित या स्पष्ट एवं व्यवस्थित होते जाते हैं तथा उनके भेदों की संख्या में वृद्धि होती रहती है।

4. इसके साथ–साथ उसकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति या मूल प्रवृत्ति भी अधिक निश्चित, स्पष्ट, सुसम्बद्ध व्यस्थित बहुरूपी व बहुमुखी होती चलती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए स्पेन्सर ने विकासोन्मुखता के सूचक और भी कई लक्षणों का निर्देश किया है, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं –

1. द्रव्य के विभिन्न तत्वों का अधिकाधिक संघटित एवं सुसम्बद्ध होना।
2. द्रव्य की पारस्परिक भिन्नता अर्थात साहित्य की विषय वस्तु में वैवध्य का होना।
3. वस्तु की प्रत्येक इकाई का आन्तरिक रूप में सुसम्बद्ध एवं सुगठित होना अर्थात् साहित्य की कथा – वस्तु का आन्तरिक दृष्टि से सुगठित होना।
4. रूपों का आकार – प्रकार अधिकाधिक स्पष्ट एवं निश्चित हो जाना।
5. रूपों में सरलता की अपेक्षा जटिलता का प्रादुर्भाव।
6. अव्यवस्था एवं अराजकता के स्थान पर नियमबद्धता।
7. अनिश्चितता की अपेक्षा निश्चितता।

जहाँ उपर्युक्त लक्षण विकासोन्मुखता के सूचक हैं वहाँ इनके प्रतिकूल लक्षण उसकी ह्रासोन्मुखता के व्यंजक माने गये हैं। यहाँ दोनों प्रकार के लक्षणों को सहित्य की दृष्टि से तालिका रूप में प्रस्तुत किया जाता है –

साहित्य के विकास की रूपात्मक व्याख्या

क्षेत्र	विकासोन्मुखता के लक्षण	ह्रासोन्मुखता के लक्षण
1	2	3
1. विषय – वस्तु	(क) तत्त्वों का संघटन (ख) तत्त्वों की सम्बद्धता	(क) तत्त्वों का विघटन एवं क्षय (ख) तत्त्वों की असम्बद्धता

1	2	3
	(ग) तत्त्वों की विविधता	(ग) तत्त्वों की न्यूनता
	(घ) तत्वों की आन्तरिक सुगठितता	(घ) तत्त्वों का अन्तरिकसम्बन्ध शिथिल
	(ड.) केन्द्रिय तत्त्व की सुदृढ़ता	(ड.) केन्द्रीय तत्त्व दुर्बल एवं प्रभाव शून्य
2. आन्तरिक प्रवृत्तियाँ	(च) भावात्मक प्रवृत्तियों का विषयवस्तु के अनुरूप विस्तार वैविध्य एवं सुसम्बद्धता	(च) भावात्मक प्रवृत्तियों का संकुचित एवं सीमित हो जाना
3. रूप भेद	(छ) साहित्य के रूप भेदों का निश्चित एवं सुस्पष्ट होना।	(छ) रूप भेदों का अनिश्चित एवं अस्पष्ट हो जाना
	(ज) रूपों का वैविध्य एवं विस्तार	(ज) रूपों का संकोच
4. शैली	(झ) शैली परिष्कृत सुसंस्कृत प्रौढ़ लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक	(झ) शैली रूढ़, विशृंखलित अभिधात्मक कृत्रिम एवं दुरूह।
5. साहित्य का आदर्श एवं प्रयोजन	(ज) साहित्य के मानदण्ड एवं आदर्श सुव्यवस्थित व निश्चित।	(ज) मानदण्ड का आदर्श अव्यवस्थित एवं अनिश्चित

1	2	3
	(ट) साहित्य का प्रयोजन सुस्पष्ट।"[1]	(ट) प्रयोजन अस्पष्ट

साहित्य की प्रवृत्त्यात्मक व्याख्या

साहित्य के समय – समय पर विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का उत्थान – पतन होता रहता है, जिनके विकास की व्याख्या सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर की जा सकती है। आधुनिक युग के अनेक समाजशास्त्रियों विशेषतः ओस्वाल्ड, स्पेंगलर, ए.जे. ट्वायनवी, सोरोकिन, प्रभृति ने विश्व सभ्यता के इतिहास का अध्ययन करते हुए प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक जाति (या राष्ट्र) के सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शो, प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति उसके साहित्य में होती है। अतः किसी भी संस्कृति का अध्ययन उसके साहित्य के आधार पर किया जा सकता है। दूसरी ओर इस निष्कर्ष के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि साहित्य की प्रवृत्तियों के मूल में उससे सम्बन्धित संस्कृति की प्रवृत्तियाँ रहती हैं, अतः उनके उद्‌भव एवं विकास को सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

<u>सांस्कृतिक आधार</u> :– पी. सोरोकिन ने विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्हें तीन प्रारूपों में विभक्त किया है– (1) तत्त्वपरक संस्कृति (2) इन्द्रियपरक संस्कृति (3) आदर्शपरक संस्कृति। उनका विचार है कि प्रत्येक प्रकार की संस्कृति से सम्बन्ध साहित्य में धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों, दिव्य पात्रों, अलोकिक घटनाओं एवं निवृत्तिमूलक प्रवृत्तियों की प्रधानता रहती है वहाँ इन्द्रियपरक संस्कृति के साहित्य में इहलोकिक सांसारिक एवं ऐन्द्रियक विषयों की प्रमुखता रहती है। उसके पात्र कामुक, विलासी, दुष्ट एवं पतित होते हैं तथा उसमें दैनिक जीवन की सामान्य घटनाओं

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – 22

की प्रमुखता रहती है। इसी प्रकार आदर्श परक संस्कृति के साहित्य में वीरता सम्बन्धी विषयों, वीर एवं महान पात्रों, वीरतापूर्ण क्रिया कलापों एवं उदान्त भावनाओं की प्रमुखता रहती है। तीनों के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण के अन्तर को भी स्पष्ट करते हुए सोरोकिन ने बताया है कि जहाँ तत्त्वपरक संस्कृति में कला धर्म की पर्याय बन जाती है वहाँ इन्द्रियपरक में यह ऐन्द्रिय सुख सुविधा प्राप्ति की साधन बन जाती है तथा आदर्शपरक में वह समाज के अभ्युत्थान की साधक मानी जाती है।

यद्यपि सोरोकिन के निष्कर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा उन्होंने विश्व – संस्कृति के विभिन्न प्रारूपों के आधार पर अपने निष्कर्षो को सम्यक् रूप में पुष्ट भी किया है फिर भी इनमें किंचित संशोधन – परिष्कार किया जा सकता है। एक तो सोरोकिन ने संस्कृति के तीनों रूपों में क्रमशः विचार ऐन्द्रियकता एवं भाव की प्रमुखता मानी है – इस दृष्टि से उन्हें आदर्शपरक यथार्थपरक एवं स्वच्छन्दता कहना अधिक उचित होगा। सोरोकिन के तत्त्वपरक एवं आदर्शपरक भेद मिलते – जुलते हैं अतः उनके नामकरण में परिवर्तन अपेक्षित हे। दूसरे प्रत्येक संस्कृति में भी समय – समय पर विभिन्न प्रवृत्तियों का उत्थान – पतन होता रहता है परिस्थिति भेद के अनुसार उसकी प्रवृत्ति कभी आदर्शोन्मुखता की ओर हो जाती है, तो कभी यथार्थोन्मुखता की ओर। अतः साहित्य की इन प्रवृत्तियों पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सम्बन्धित युग विशेष में संस्कृति एवं सभ्यता का झुकाव किस ओर था। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि एक ही संस्कृति के इतिहास में कभी आदर्श परक कभी स्वच्छन्दता परक और कभी यथार्थ परक प्रवृत्तियों का उन्मीलन एवं विकास होता रहता है।

<u>मनोवैज्ञानिक आधारः</u>– मनोविज्ञान के अनुसार मानव – मन की समस्त प्रवृत्तियाँ मूलतः तीन प्रक्रियाओं में विभक्त की जा सकती हैं – (1) जनता (2) अनुभूति

प्राप्त करना (3) चेष्टा या कार्य करना। क्रमशः इन्हीं के आधार पर हमारे जीवन को समस्त ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक प्रवृत्तियों का संचालन एवं नियन्त्रण होता है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ मूलतः सभी चेतन प्राणियों में विद्यमान हैं, किन्तु इनकी मात्रा, अनुपात एवं विकास की अवस्था की दृष्टि से विभिन्न प्राणियों एवं व्यक्तियों में परस्पर अन्तर रहता है। विभिन्न व्यक्तियों में उनके पैतृक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय संस्कारों के भेद के अनुसार इन प्रवृत्तियों की व्यापकता एवं गम्भीरता में अन्तर रहता है। जहाँ उपनिषद् काल में ऋषियों – मुनियों की ज्ञानात्मक प्रवृत्तियों की प्रधानता रही होगी, वहाँ आधुनिक युग के इंग्लैण्ड एवं जापान के लोगों में क्रियात्मक या व्यावसायिक प्रवृत्तियों की प्रमुखता मानी जा सकती है। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति एवं समाज में भी अलग –अलग समय तथा अलग – अलग परिस्थितियों में अलग – अलग प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। अस्तु, कारण एवं परिस्थितियाँ चाहे जो हों, हम समाज के एवं साहित्यकारों के विभिन्न वर्गो को मुख्यतः तीन प्ररूपों में विभक्त कर सकते हैं – (1) ज्ञान प्रधान (2) भावना प्रधान (3) क्रिया प्रधान। साहित्य की प्रचलित शब्दावली में इन्हें क्रमशः इन नामों से पुकारा जा सकता है। शास्त्रवादी, स्वच्छन्दतावादी एवं यथार्थवादी। शास्त्रवादिता के मूल में प्रायः ज्ञानात्मकता की प्रवृत्ति ही प्रमुख होती है, उसी से उसकी प्रवृत्ति, सूक्ष्म – तत्त्वों, दार्शनिक आधारों, आदर्शवादिता एवं मर्यादावादिता की ओर होती है, अतः कुछ अपवादों को छोड़कर ज्ञान प्रधान या तत्त्व परक साहित्यिक प्ररूप को सामान्यतः शास्त्रवादी या आदर्शवादी कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वच्छन्दतावादिता के मूल में भावात्मक की तथा यथार्थवादिता के मूल में क्रियात्मकता की प्रवृत्ति प्रमुख होती है, जिससे उनमें तत्सम्बन्धी अन्य प्रवृत्तियों का भी विकास हो जाता है। पाश्चात्य क्षेत्रों में कुछ लोग **शास्त्रवाद** को आदर्शवाद से पृथक् मानते हैं, लेकिन वास्तव में इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। शास्त्रों के आधार पर ही शास्त्र का निर्णय होता है या आदर्श की स्थापना शास्त्रीय आधार पर होती है। निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट करने

का प्रयास किया जा रहा है –

	क्षेत्र	आदर्शपरक प्ररूप	स्वच्छन्दापरक प्ररूप	यथार्थपरक प्ररूप
1.	मनोवैज्ञानिक दृष्टि से	ज्ञानात्मक	भावात्मक	क्रियात्मक
2.	दार्शनिक दृष्टि से	आध्यात्मवादी	आध्यात्मिक भौतिक	भौतिकतावादी
3.	सांस्कृतिक दृष्टि से	तत्त्वपरक	आदर्शपरक	इन्द्रियपरक
4.	साहित्यिक तत्त्व	बोद्धिक तत्त्व प्रधान	भावात्मक तत्त्वों की प्रधानता	कल्पना की प्रधानता
5.	विषयवस्तु	धार्मिक, दर्शनिक एवं नैतिक	साहसिक एवं शृंगारिक	सांसारिक, ऐन्द्रियक राजनीतिक, लोकोपयं
6.	पात्र	दिव्य एवं आदर्श	वीर एवं प्रेमी	सामान्य
7.	घटनाएं	अलोकिक एवं महान कार्य	युद्ध एवं विवाह	दैनिक जीवन के क्रिया–कलाप
8.	रस एवं भावात्मक प्रवृत्तियाँ	शान्त, भक्ति रहस्यवाद	वीर एवं उच्च कोटि का शृंगार रस	रसिकता, कामुकत प्रधान शृंगार, वीभत्स
9.	कला का प्रयोजन	धर्म या दर्शन की स्थापना	कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करना	अर्थ प्राप्ति, आत्म विज्ञापन

आश्रय के प्रभाव से प्ररूपों का विकास :-

कोई भी सांस्कृतिक, साहित्यिक प्ररूप सदा एक ही रूप एवं अवस्था में स्थिर नहीं रह सकता अपितु वातावरण के प्रभाव से उसमें विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास होता रहता है। सामान्यतः साहित्य के वातावरण का अध्ययन इस तथ्य के आधार पर किया जा सकता है कि उसकी रचना किन परिस्थितियों में या किस प्रकार के आश्रय में हुई है। (1) धर्माश्रय (2) राज्याश्रय (3) लोकाश्रय (4) पूंजीपत्याश्रय।" धर्माश्रय में किसी धर्म - सम्प्रदाय के सिद्धान्त के प्रचार करने, विधि - निषेध की व्याख्या करने तथा धार्मिक अनुभूतियों के प्रकाशन का लक्ष्य रहता है। धर्माश्रय वातावरण में परिवर्तन से साहित्य में परिवर्तन हो जाता है। राज्याश्रय में आदर्शवादी दृष्टिकोण की प्रधानता होने पर उच्च स्तर का राष्ट्रीय काव्य, वीर काव्य एवं शास्त्रीय काव्य रचित होता है, यथार्थवादिता की स्थिति में ऐतिहासिक, नीतिपरक, प्रशंसात्मक काव्य की तथा स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से उन्मीलित होने पर श्रृंगारी काव्य की रचना होती है। लोकाश्रित काव्य में भी लोक समाज के तत्कालीन दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का विकास होता है - यथा - आदर्शवादी दृष्टिकोण से देवी - देवताओं एवं महापुरुषों से सम्बन्धित भक्तिभाव पूर्ण काव्यों का, यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रधानता होने पर दाम्पत्य - जीवन एवं श्रृंगारिक विषयों से सम्बन्धित रचनाओं की तथा स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से रोमांटिक कथाओं की रचना होती है। पूंजीपत्याश्रय में आदर्शपरक साहित्य में परम्परागत सभ्यता एवं संस्कृति के आधार पर उच्चवर्ग के उदान्त प्रेम, करुणा, त्याग एवं उदारता के भावों की व्यंजना सुसंस्कृत शैली में प्रबन्धात्मक काव्यों में होती है जबकि यथार्थपरक साहित्य में मनोविज्ञान, यौन विज्ञान के आधार पर विलासिता, नग्नता एवं अश्लीलता का चित्रण प्रायः साहित्य में किया जाता है। इसी प्रकार इसी वर्ग के स्व्च्छन्दता परक साहित्य में काम को ही जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करते हुए उसकी अभिव्यंजना स्व्च्छन्द रूप में करने के साथ-साथ आश्चर्यपर्ण वृत्तान्तों एवं चौंकाने वाले क्रिया - कलापों का चित्रण भी मनोरंजन की

दृष्टि से किया जाता है।"[1]

द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया कुण्डलाकार अग्रगामी भी है। वह चक्रिक प्रतीत होती है, कुछ अंशो में परन्तु होती नहीं है। प्रकृति और समाज के विकास की सर्वाधिक स्पष्ट तस्वीर प्राप्त करने के लिए उसकी तुलना कुण्डलियों से की जा सकती है। उसमें वृत्त बनते हैं, परन्तु एक ही स्थल पर नहीं। वे एक ही स्थान पर पुनरावर्तन नहीं करते। यदि कोई कुण्डलाकार सीढ़ियों पर चढ़े तो उसे ऐसा प्रतीत होगा मानों वह वृत्ताकार घूम रहा है। जबकि वास्तव में वह उच्च से उच्च्तर की ओर बढ़ रहा है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की पहली अवधारणा यह है कि वस्तु जगत के तत्वों का अध्ययन पृथक् – पृथक् इकाई के रूप में नहीं किया जा सकता। उनका सम्यक् अध्ययन तभी सम्भव है जब हम अन्य उपकरणों तथा तत्त्वों की सापेक्षता में उसे रखें। मार्क्स का विचार है कि वस्तु जगत की कार्य – प्रक्रिया में एक निश्चित क्रम के दर्शन होते हैं, जिनका मूल कारण कार्य कारण सम्बन्ध है। कारण के अभाव में कार्य की उद्भावना सम्भव नहीं है। ऐसा सम्भव है कि कारण के होते हुए भी कार्य प्रत्यक्ष न हो, परन्तु ऐसा तब होता है जब दूसरे कारण मार्ग में व्यवधान बन जाएं। इस प्रकार वस्तु जगत की समस्त कार्य – कारण सम्बद्धता से चालित होती है। वस्तु जगत का प्रत्येक उपकरण निरपेक्ष न होकर किसी कारण का परिणाम होता है, जो स्वयं किसी अन्य घटना का कारण हो सकता है। जैसे वाष्पीकरण की प्रक्रिया से बादलों का निर्माण होता है, बादल यहाँ परिणाम हैं, वहीं बादल पानी बरसाते हैं, यहाँ वे कारण हैं। सामाजिक जीवन में भी इस प्रकार की घटनाएं दिखाई पड़ती हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति और समाज की परस्पर सम्बद्धता कार्य–कारण सम्बंध से अधिक व्यापक तथा संश्लिष्ट व्यापार है। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कार्य कारण सम्बन्ध निर्धारण के समय यह निर्णय कर लेना चाहिए कि कौन सा पक्ष नियामक है। क्रिया – प्रतिक्रिया में किस का प्रभाव प्रमुख है। इस तथ्य की खोज करने के बाद ही हम अन्तर्सम्बन्ध के स्रोतों का तथा उनके अन्तर्गत सन्निहित तत्त्वों का ठीक–ठीक आकलन कर सकते हैं एवं मुख्य विकास रेखा को पहचान सकते हैं।

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – पृ0 सं0 26–27

साहित्य के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को स्पष्ट परिलक्षित किया जा सकता है। साहित्यतिहास की सही व्याख्या तो इस निष्पत्ति के बिना की ही नहीं जा सकती है। हिन्दी साहित्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, न ही वह अन्य इकाइयों से विच्छिन्न है। हिन्दी साहित्य भी अन्य विचार प्रणालियों, साहित्यों और परिस्थितियों से परस्पर सम्बद्ध है। यह सम्बन्ध सजीव है।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्येतिहास का सम्बन्ध स्मरण नहीं रखा, इसलिए निष्कर्ष सही नही उतरे हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास दर्शन में इस सम्बन्ध को प्रमुखता दी गयी है। हिन्दी साहित्य के पूर्ववर्ती, संस्कृत – प्राकृत अपभ्रंश एवं समकालीन विविध साहित्य उसका सही परवेश स्थापित करते हैं।" इसी प्रकार साहित्यिक प्रवृत्ति, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए भी पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का सजीव सम्बन्ध नहीं दिखलाया। ये सभी भूलें आध्यात्मिक प्रणाली के कारण हुई।"[2]

---

1. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप पृ0 सं0 – 131
2. आलोचना – इतिहास विशेषांक – पृ0 14

अध्याय – 3

हिन्दी साहित्येतिहास का विकास

पूर्व शुक्ल युग :–

प्रारम्भ में अथवा प्रारम्भ काल में कवि वृत्त संग्रह का कार्य हुआ। इस युग में भी यह कार्य बन्द नहीं हुआ और ऐसे प्रयत्न आधुनिक काल में भी हुए हैं। श्याम सुन्दर दास की **हिन्दी कोविन्द ग्रन्थमाला** और रामनरेश त्रिपाठी की **कविता कुमौदी** इसी प्रकार के प्रयत्न हैं।" **सरोज** का संग्रह पूर्व शुक्ल युग में रखने का कारण यह है कि शुक्ल जी के पूर्व डॉ0 ग्रियर्सन और मिश्रबन्धुओं ने उसका पूर्ण उपयोग किया।"[1]

अतएव उनके साथ सरोज की चर्चा करना विषय की एकरूपता में अधिक बाधक नहीं होगा। प्रस्तुत अध्याय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व लिखे गये साहित्येतिहासों का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन करना हमारा प्रमुख उद्देश्य है।

हिन्दी के साहित्येतिहास सर्वप्रथम पुस्तककार रूप में नहीं लिखे गये। छोटे-छोटे निबन्धों में भाषा और साहित्य, दोनों के विकास की रूप – रेखा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया। सर्वप्रथम राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने भाषा के इतिहास पर निवन्ध लिखा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने एक – दो निबन्धों में हिन्दी साहित्य के विकास पर सरसरी दृष्टि डाली है।"[2] हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास **गार्सा द तासी** द्वारा लिखा गया, यह मत प्रायः सर्वमान्य और समर्थित है। उनका ग्रन्थ **इस्तवार दलितवरेत्यूर ए दुई ए ऐंदुस्तानी"** फ्रेंच भाषा में लिखा गया था। इसमें मुख्यतः हिन्दी – उर्दू के कवियों का विवरण है। इसके प्रथम संस्करण प्रथम भाग 1839 ई0 में प्रकाशित हुआ और दूसरा 1847 ई0 में। पुस्तक का दूसरा परिवर्द्धित संस्करण 1870 – 71 ई0 में प्रकाशित हुआ था। डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने दोनों संस्करणों की भूमिका आदि के साथ इस पुस्तक के हिंदुई वाले अंश का अनुवाद 1953 ई0 में एकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित करवाया था। अनुवादक की धारणा है कि "प्रस्तुत अनुवाद उनके ग्रन्थ में से हिंदुई से सम्वन्धित

---

1. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास – आचार्य चतुरसेन शास्त्री– (भूमिका से)
2. कवि वचन सुधा में प्रकाशित 'हिन्दी कविता' नामक लेख

अंश का सर्वप्रथम अनुवाद है। उनके इस ग्रन्थ का पूर्ण या आशिंक अनुवाद न तो अंग्रेजी में है और न किसी अन्य भारतीय भाषा में है।"[1]

डॉ0 वार्ष्णेय की इस धारणा का खंडन महादेव साहा तथा श्री नारायण पाण्डेय ने किया है। उनके अनुसार, "फैलन और करीमुद्दीन ने 1848 ई0 में ही तासी की पुस्तक के प्रथम संस्करण का उर्दू में अनुवाद किया था और तासी ने पुस्तक के दूसरे संस्करण में उक्त अनुवाद से अपना परिचित होना भी बतलाया है।"[2]

<u>हिन्दुस्तानी साहित्य सम्बन्धी तासी का मत</u> :- तासी हिन्दुस्तानी साहित्य के महत्व को स्वीकार करते हैं और कहते हैं - "हिन्दुस्तानी साहित्य का एक काव्यात्मक महत्व है जो न तो किसी दूसरी भाषा में हीन है, और न जो वास्तव में क्रम है। सच तो यह हे कि प्रत्येक साहित्य में एक अपनापन रहता है जो आकर्षण पूर्ण बनाता है।"[3]

<u>अभाव</u> :- तासी ने अपने ग्रन्थ में प्रत्येक कवि अथवा रचयिता के सम्बन्ध में जो सूचना दी है वह कहाँ तक प्रामाणिक है? यह अपने आप में एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। सामान्य रूप में तासी के ग्रन्थ में जो अशुद्धियाँ पायी जाती हैं उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है -

(1) तिथि सम्बन्धी अशुद्धियाँ
(2) कवि नाम सम्बन्धी अशुद्धियाँ
(3) ग्रन्थ विवरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ
(4) तथ्य सम्वन्धी अशुद्धियाँ
(5) भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ

---

1. हिंदुई साहित्य इतिहास लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
2. कल्पना, अक्टूबर 1956 में प्रकाशित (हिन्दी साहित्य का एक प्राचीन इतिहास)
3. हिन्दुई साहित्य का इतिहास - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

1. <u>तिथि सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u> :- तासी ने अपने इतिहास में सर्वत्र ईस्वी सन् का ही व्यवहार नहीं किया है। उन्होंने ईस्वी, हिजरी, सन् और संवत् चारों प्रकार की तिथियों को उपयोग अलग - अलग रचनाकारों के सन्दर्भ में किया है। कवि अथवा लेखक की जो जन्म अथवा मृत्यु तिथि है, वह शुद्ध सिद्ध नहीं होती। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

कबीर की जन्म तिथि - संवत् 1205[1] और मृत्यु तिथि 1505 दी गयी है जो सब प्रकार से अशुद्ध है।[2]

तुलसीदास के सम्बन्ध में सूचित किया गया है कि उन्होंने संवत् 1631 में इकतीस वर्ष की अवस्था में रामायण लिखी है।[3] इस प्रकार तुलसीदास की जन्म तिथि संवत् 1680 तासी के अनुसार सिद्ध होती है जो प्रामाणिक नहीं है।[4]

सूरदास जी की जन्म तिथि संवत् 1450 (1528 ई0)[5] दी गयी है जो परवर्ती साहित्येतिहासकारों एवं सूर - साहित्य पर अनुसंधान करने वाले विद्वानों द्वारा अशुद्ध सिद्ध हो चुकी है।[6]

तासी में तिथि विषयक अशुद्धता के जहाँ तक मेरा अनुमान है, निम्नांकित दो कारण समझे जा सकते हैं -

1. किंवदन्तियों पर निर्भर रहना।
2. जो सामग्री उन्हें इतिहास रचना के लिए अल्प सूत्रों एवं साधनों से मिली उसका परीक्षण उन्होंने नहीं किया।

---

1. हिन्दुई साहित्य का इतिहास - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय पृ0 - 22
2. विशेष विवरण के लिए - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य
3. हिन्दुई साहित्य का इतिहास - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
5. हिन्दुई साहित्य का इतिहास - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ0 सं0 - 321
6. विशेष विवरण के लिए - दीन दयाल गुप्त

2. **कवि नाम सम्बन्धी अशुद्धियाँ** :- तासी स्वयं कुछ नामें के विषय में पूर्ण आश्वस्त नहीं थे। कुछ नामों को देखकर यह आसानी से समझा जा सकता है –

1. कर्ण याकर्णिधन[1]
2. चंद या कवि चंद और चन्दरभट्ट[2]
3. ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वर[3]
4. मीरा या मीराबाई[4]
5. राजा (महाराज बलवंत या बलवंत सिंह बहादुर)

तासी यह निश्चित नहीं कर पाये कि रचनाकार का मूल नाम क्या है।

3. **ग्रन्थ विवरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ** :- तासी द्वारा दिये गये ग्रन्थ विवरण में भी पर्याप्त अशुद्धियाँ देखने को मिलती हैं। तासी ने रचनाकारों की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता का रचना के सन्दर्भ में उल्लेख नहीं किया है। किसी रचनाकार की रचनाओं के सम्बन्ध में उन्हें जो सूचना मिली, उस पर विचार किये विना उन्होंने उसे त्यों का त्यों संकलित कर लिया। तुलसीदास की निम्नांकित रचनाओं का उल्लेख तासी करते हैं –

1. रामायण
2. सतसई
3. रामगानावली
4. गीतावली
5. विनय पत्रिका
6. अनेक प्रकार के भजन
7. रामजंय
8. रामशलाका
9. जानकी मंगल
10. पंचरत्न
11. रुक्मणि स्वयंवर टीका[5]

---

1. हिन्दुई साहित्य का इतिहास – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – पृ0 सं0 31
2. हिन्दुई साहित्य का इतिहास – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – पृ0 सं0 68
3. हिन्दुई साहित्य का इतिहास – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – पृ0 सं0 88
4. हिन्दुई साहित्य का इतिहास – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – पृ0 सं0 – 212
5. हिन्दुई साहित्य का इतिहास – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इस तालिका में तुलसीदास की कुछ और प्रसिद्ध रचनाओं का उल्लेख नहीं हुआ और ये सब तुलसीदास द्वारा रचित हैं संदेहास्पद हैं।[1]

4. <u>तथ्य – सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u> :– उचित प्रमाण के अभाव में अनेक रचनाकारों के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों का उल्लेख कर गये, जिन्हें उचित नहीं कहा जा सकता –

1. इनके अनुसार मीरा राजा खुम्भ अथवा कुम्भा की पत्नी है। मीरा के पति का नाम भोजराज था।
2. इनके अनुसार सूरदास की विष्णु के प्रति अगाध भक्ति थी और उन्होंने विष्णु की स्तुति के पद लिखे थे। सूरदास की कृष्ण के प्रति अगाध भक्ति थी, विष्णु के प्रति नहीं और उन्होंने कृष्ण की भक्ति के पद रचे थे, विष्णु की भक्ति के नहीं।

5. <u>भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u> :– तासी के वाक्यों का गठन कुछ इस प्रकार मिलता है कि उनके द्वारा उनका पूरा आशय स्पष्ट नहीं होता है। उसे पूर्ण करने के लिए अपनी ओर से कुछ जोड़ना पड़ता है, जैसे –

सूरदास विशन – पद (या विष्णु पद) के अविष्कर्त्ता हैं विष्णु – जिनके प्रति उनकी अगाध भक्ति थी – के उपलक्ष्य में एक प्रकार का पद।[2]

<u>तासी का महत्त्व</u> :– तासी का प्रयास प्रथम प्रयास था। किसी विदेशी का भारतीय साहित्य में रुचि लेना और इतिहास लिखना, कम श्रम साध्य नहीं था। फ्रांस में रहकर उन्होंने हिन्दुई साहित्य लिखने की चेष्टा की जो इतिहास कम बनकर कविवृत्त संग्रह ही अधिक बन गया और ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

---

1. विशेष विवरण के लिए दृष्टव्य – डॉ0 माता प्रसाद गुप्त
2. हिन्दुई साहित्य का इतिहास लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय पृ0 सं0 – 212

डॉ0 रूपचन्द्र पारीक का मत है, "साहित्य को सांस्कृतिक चेतना के विराट रूप में देखने की दृष्टि तासी के पास नहीं थी। युगीन परिस्थितियों का विश्लेषण उन्होंने किया साहित्य लेखन का जो क्षीणतम प्रयास उन्होंने किया और जिसका उपयोग परवर्ती साहित्येतिहासकारों ने साहित्येतिहास लेखन में किया, वह हिन्दी रचनाकारों के सम्बन्ध में सूचना देने की परम्परा का श्री गणेश तो करता ही है।[1]

"वर्गीकरण के इस प्रयत्न के पीछे फ्रेन्च वैदुष्य स्पष्ट की अनुनय है। यह दूसरी बात है कि हिन्दी कृतियों के कामचलाऊ विवरण तक के अभाव में वर्गीकरण का कोई सम्यक् प्रयास सम्भव नहीं था और तासी को वर्णन क्रमानुसार विवरण से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा।"[2]

<u>शिव सिंह सेंगर – **'शिवसिंह सरोज'**</u>:– तासी के पश्चात् सन् 1883 में शिवसिंह सेंगर ने **शिवसिंह सरोज** नामक हिन्दी कवियों का वृहद संग्रह प्रकाशित किया उनके पहले पंडित महेश दत्त शुक्ल **भाषा काव्य संग्रह** और पंडित मातादीन मिश्र **कवित्त रत्नाकर** की रचना कर चुके थे। इस लिए सरोज को हिन्दी का पहला कविवृत्त संग्रह नहीं कहा जा सकता लेकिन उसका महत्त्व उसके विस्तार के कारण हे अनेक वर्षों तक यह ग्रन्थ दुष्प्राप्य था परन्तु हाल में ही डॉ0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित के संपादकत्व में उसका आठवाँ संस्करण प्रकाशित हुआ।

1. <u>वर्णानुक्रम की अशुद्धियाँ</u> :– शिवसिंह सेंगर ने **सरोज** में कवियों की रचनाओं के उदाहरण देते समय और उन पर परिचयात्मक टिप्पणी लिखते समय वर्णानुकम का पूरा ध्यान नहीं रखा है। सेंगर वर्णनानुक्रम से ही परिचित थे और **सरोज** जैसी रचना के लिए वही लेखन पद्धति समीचीन थी, परन्तु उसका वैज्ञानिक

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन पृ0 सं0 – 84
2. साहित्य का इतिहास दर्शन – नलिन विलोचन शर्मा – पृ0 सं0 – 76

प्रतिपादन नहीं कर पाये। अ. के अन्तर्गत ही अ, आ, ओ, और से प्रारम्भ होने सभी कवियों को सम्मिलित कर लिया गया है। पृष्ठ – 7 पर औद्य कवि का उदाहरण है और फिर उसके पश्चात् अयोध्याप्रसाद शुक्ल गोलावाले की रचना का उदाहरण है, इस प्रकार के उदाहरण **सरोज** में अनेक जगह हैं। वर्णानुक्रम की यह अव्यवस्था कवियों के सम्वन्ध में भ्रम उत्पन्न कर देती है।

2. <u>संख्या एवं पृष्ठ निर्देशन सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u> :– **'सरोज'** में पृष्ठ निर्देशन सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ मिलती हैं। उदाहरण खण्ड तथा परिचय खण्ड में एक ही कवि संख्या अथवा पृष्ठ संख्या में साम्य नहीं है। एक ही नाम के अनेक कवियों का उल्लेख हुआ है परन्तु उनकी संख्या उदाहरण खण्ड तथा परिचय खण्ड में समान नहीं है इतना ही नहीं उदाहरण खण्ड तथा परिचय खण्ड के कवि संख्या में साम्य नहीं है उदाहरण खण्ड में पृष्ठ संख्या 175 पर ऊधोराम कवि की रचना का उदाहरण है ऊधोराम की कवि संख्या 47 दी गई है परिचय खण्ड में 47 अजीत सिंह राठोर की दी गयी है **सरोज** के सप्तम संस्करण में इस प्रकार की कुल भूलें 36 थीं।[1]

3. <u>एजन सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u> :– **'सरोज'** में एजन की अनेक भूलें मिलती हैं। कवियों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखने के साथ – साथ एजन लिख दिया गया है अधिकाँश एजन का प्रयोग अनावश्यक रूप से हुआ है उदाहरण के लिए कमाल कवि, कलानिधि कवि, कार्वेय, कवीर आदि इस प्रकार के प्रयोग अनेक कवियों के सम्वन्ध में अनेक बार मिलते हैं।

एजन का प्रयोग कवि के नाम के साथ ही नहीं बल्कि काव्य विवेचन के पश्चात ही हुआ है शिवसिंह सेंगर को किसी रचनाकार की रचना अच्छी लगी और उसके पश्चात् किसी अन्य रचनाकार की रचना से उन्हें संतोष हुआ तो एजन लिख दिया गया।

---

1. शिवसिंह सरोज – सम्पा0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृ0 सं0 383

4. **<u>मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u>** :– **'सरोज'** में अनेक मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ होने से कुछ रचनायें उनके वास्तविक रचयिताओं के साथ संयुक्त न होकर किसी अन्य कृतिकार से सम्बद्ध हो गयी है, उदाहरण के लिए पृ0 – 134 पर भिखारी दास की कविता का उदाहरण दिया गया है जो **प्रेम रत्नाकर** से दिया गया है। वास्तव में **प्रेम रत्नाकर, देवीदास** की रचना है उसका उदाहरण मुद्रण सम्बन्धी भूल के कारण भिखारी दास के साथ हो गया है।

5. **<u>सन – संवत् सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u>** :–

सरोज में सन् – संवत् सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ मिलती हैं। इन भ्रन्तियों पर विचार करने के पूर्व सरोजकार का निम्नांकित वक्तव्य विचारणीय है –

"प्रथम हमने अपने संस्कृत, अरबी, फारसी भाषा और अंग्रेजी के ग्रन्थों से पूर्ण अपने पुस्तकालय को छः महीने तक यथावत् अवलोकन किया फिर कवियों का एक सूचीपत्र बनाकर उनके ग्रन्थ, उनके विद्यमान होने के सन् – संवत् और उनके जीवन चरित्र जहाँ तक प्रकट हुये, सब लिखे। ...... जिन कवियों के ग्रन्थ मैंने पाये, उनके सन् – संवत् ठीक – ठीक लिखे हैं, और जिनके ग्रन्थ नहीं मिले, उनके सन् – संवत् अटकल से लिख दिये हैं जो कहीं एक कवि का नाम दुबारा लिखा गया हो, अथवा एक कवि का कवित्त दूसरे कवि के नाम से लिखा हो, तो विद्वज्जन इसे सुधार लें और मेरी भूल को क्षमा करें क्योंकि मुझे काव्य का कुछ भी बोध नहीं है। कवि लोग इस ग्रन्थ में प्रशंसा के बहुत कवित्त देखकर कहेंगे कि इतने कवित्त वीर – पद्य के क्यों लिखे? मैंने सन् – संवत् और उस कवि के समय निर्माण करने को ऐसा किया है, क्योंकि इस संग्रह के बनाने का कारण केवल कवियों के समय, देश, सन् – संवत् बताना है।"[1]

सेंगर जी के कथन से तीन तथ्य स्पष्ट होते हैं –

1. सरोज में दिये गये सन्–संवत् रचनाकारों का जन्म काल न होकर, उनका उपस्थित काल है।

---

1. शिवसिंह सरोज पृ0 134

2. जिन रचनाकारों की रचनाएं उपलब्ध नहीं हुईं, उनका समय अनुमान से लिखा गया है।

3. सरोज निर्माण का प्रमुख उद्देश्य रचनाकारों का समय निश्चित करना है।

6. <u>कवियों के नाम एवं व्यक्तित्व सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u> :– **'सरोज'** में एक ही कवि का उल्लेख विभिन्न या अनेक कवियों के रूप में भी हो गया है। यद्यपि अपनी भूमिका में सेंगर जी ने स्वयं इस त्रुटि की ओर संकेत कर दिया है, तथापि इससे भ्रम तो अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है। अयोध्या प्रसाद बाजपेयी औध, सोमदेव, सुखदेव, हरिनाथ आदि कवियों को इसके उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है।

7. <u>तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ</u> :– रचनाकारों के सम्बन्ध में अनेक अशुद्ध अपूर्ण एवं भ्रामक सूचनाएं देता है। एक उदाहरण देख लेना पर्याप्त होगा – कुम्भ – कर्ण राजा चित्तौड़ मीराबाई के पति सं0 1475 के लगभग मीराबाई के पति का नाम भोजराज या कुम्भकर्ण नहीं। राणा कुम्भा और मीरां के समय में पर्याप्त अन्तर है।

<u>ऐतिहासिक महत्त्व</u> :– त्रुटियों का इतना विशाल पर होते हुए भी **सरोज** का ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं है। साहित्येतिहास में रुचि रखने वाले और कार्य करने वाले प्रत्येक विद्वान को उसने प्रभावित किया है। ग्रियर्सन के 951 कवियों में से 886 का आधार **सरोज** ही रहा है।

मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और अन्य परिवर्ती साहित्येतिहासकार भी **सरोज** के कम ऋणी नहीं हैं। प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में सूचना का वह बहुत बड़ा आधार है। आधुनिक अर्थ में **सरोज** चाहे इतिहास न हो, फिर भी हिन्दी के कवियों पर विचार करने की प्रेरणा तो वह देता ही है। प्रथम बार लगभग एक हजार कवियों की रचनाओं और उनके जीवन चरित्र को इकट्ठे करने के प्रयास को नगण्य नहीं समझा जा सकता। साहित्येतिहासकारों के लिए वह कल्पतरु के समान अजय सामग्री का स्रोत रहा है। उसके पहले भाषा – काव्य संग्रह का

---

1. शिवसिंह सरोज – सं. डॉ0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृ0 397

अस्तित्व अवश्य था, परन्तु उसकी पृष्ठभूमि इतनी विशाल नहीं थी। सरोज का महत्त्व परिणाम की दृष्टि से है, प्राचीनता की दृष्टि से नहीं।

मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर (ग्रियर्सन)

प्रकाशन तिथि –

1889 में ग्रियर्सन का "द मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान" प्रकाशित हुआ। इसके एक वर्ष पहले 1888 ई0 में यह सम्पूर्ण ग्रन्थ **रायल एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल** के जर्नल में प्रकाशित हुआ था। आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है। इसका हिन्दी अनुवाद किशोरी लाल गुप्त ने प्रस्तुत किया है। हमारे अध्ययन का आधार यह अनुवाद ग्रन्थ ही है। **ग्रियर्सन** भारतीय विद्या – विशारद थे। 1886 ई0 में वियना में प्राच्य – विद्या विशारदों की अन्तर्राष्ट्रीय सभा हुई। इस सभा के अधिवेशन में ग्रियर्सन ने भारतवर्ष के मध्यकालीन भाषा – साहित्य पर एक निबन्ध पढ़ा। यद्यपि उस निबन्ध का अधिकाँश तुलसीदास से सम्वन्ध था, परन्तु सूत्र रूप में उत्तरी भारतवर्ष के समस्त भाषा – साहित्य पर ग्रियर्सन ने संक्षेप में अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये थे। उस निबन्ध को जिस दत्तचित्तता के साथ सुना गया उससे प्रोत्साहित होकर ग्रियर्सन ने भारतवर्ष के समस्त भाषा – साहित्य पर लिखने का प्रयास किया।

काल विभाजन :– ग्रियर्सन ने सम्भवतः हिन्दी साहित्य को सर्वप्रथम कालों में विभाजित करने की चेष्टा की है और उसके द्वारा किया गया विभाजन इस प्रकार है –

1. चारण काल (700 – 1300 ई0)
2. पन्द्रहवीं शताब्दी का धार्मिक पुनर्जागरण
3. मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम कविता
4. ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय (1580–1592ई0)
5. तुलसीदास के अन्य परवर्ती (1600–1700 ई0)
6. अठारवीं शताब्दी
7. कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान
8. महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान

चारण काल और रीतिकाव्य :— ये दो नाम सम्भवतः सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने ही दिये हैं जिनका उपयोग परवर्ती साहित्येतिहासकारों ने भी किया है और आज भी जिनमी चर्चा सुनाई देती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रियर्सन के काल — विभाजन को ही अधिक सुव्यवस्थित कर अपना प्रसिद्ध काल — विभाजन किया जो अब तक सर्वमान्य है —

वीरगाथा काल

1. पूर्व–मध्यकाल (भक्ति काल)
2. निर्गुण धारा (ज्ञानाश्रयी शाखा)
3. निर्गुण धारा (प्रेम मार्गी सूफी शाखा)
4. सगुण धारा (रामभक्ति — शाखा)
5. सगुण धारा (कृष्णभक्ति — शाखा)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल)

आधुनिक काल :—

गद्य :—

आधुनिक काल के पूर्व गद्य का रूप —

गद्य साहित्य का अविर्भाव —

आधुनिक गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्त्तन —

गद्य साहित्य का प्रसार —

काव्य :—

पुरानी धारा —

नई धारा —

वर्तमान काव्य धारायें —

ग्रियर्सन ने प्रत्येक नहीं तो कुछ कालों की सामान्य साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनके द्वारा दिया गया यह विवरण अत्यन्त संक्षिप्त है —

"सोलहवीं शती के अन्तिम काल एवं सम्पूर्ण सत्रहवी शती ने, जो मुगल साम्राज्य के आधिपत्य काल का प्रायः संगती है, काव्य प्रतिभा की एक असाधारण श्रेणी ही प्रस्तुत कर दी है। इस युग के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि जिनका विवरण पहले नहीं आया है – केशवदास चिन्तामणि त्रिपाठी और बिहारी लाल हैं। केशव और चिन्तामणि काव्य शास्त्र लिखने वाले उस कवि – सम्प्रदाय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि है जिनकी स्थापना केशव ने की और जो काव्य कला के शास्त्रीय पक्ष का ही निरन्तर विवेचन करता रहा है।[1]

<u>**ग्रियर्सन की अशुद्धियाँ**</u> :– "ग्रियर्सन में तथ्य सम्बन्धी, सन् संवत् व नाम सम्बन्धी तथा अनुवाद सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ मिलती हैं। ग्रियर्सन के अनुवादक ने अपनी टिप्पणियों में उन पर विस्तार पूर्वक विचार किया है अतः उनको यहाँ दुहराना पिष्टपेषण मात्र होगा। ग्रियर्सन ने स्थान – स्थान पर **सरोज** का अंग्रेजी अनुवाद किया है। अनुवाद में ग्रियर्सन मूल के आशय को समझने में असमर्थ रहे हैं।"[2] कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं – गुमान मिश्र ने प्रसिद्ध नैषध चरित का हिन्दी अनुवाद **काव्य कलानिधि** नाम से किया था। इस अनुवाद की प्रशंसा में शिवसिंह सेंगर ने लिखा है – "**पंचनली**" जो नैषध में एक कठिन स्थान है, उसको भी सलिल कर दिया।" ग्रियर्सन ने इस वाक्य का जो अंग्रेजी अनुवाद किया है, उसका हिन्दी रूपान्तर कुछ इस प्रकार से होगा –

"इन्होंने पंचनलीय पर, जो नैषध का एक अत्यन्त कठिन अंश हैं, सलिल नाम की एक विशेष टीका लिखी।"

ग्रियर्सन को इस विषय में शंका थी। अतः उन्होंने इस सलिल पर यह पाद – टिप्पणी दे दी है –

"अथवा शिवसिंह का, जिनसे मैंने यह लिया है, यह अभिप्राय है कि उन्होंने पंचलीय को बिलकुल पानी की तरह स्पष्ट कर दिया है।"

---

1. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास – अनु0 किशोरी लाल गुप्त पृ0 – 151
2. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन – पृ0 सं0 – 109

चतुर सिंह राना के सम्बन्ध में शिवसिंह ने लिखा है –

"सीधी बोली में कवित्त है।"

शिवसिंह का अभिप्राय **सीधी बोली** से खड़ी बोली का है। ग्रियर्सन ने **सीधी बोली** का अनुवाद **सिम्पुल स्टाइल** कर दिया है।

ग्रियर्सन की अशुद्धियों के लिए उनके अनुवादक द्वारा दी गयी टिप्पणियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। अनुवादक ने उनकी टिप्पणियों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है। विशेष विवरण के लिए उन्हें देखना आवश्यक है।

<u>ग्रियर्सन का महत्त्व</u> :– ग्रियर्सन का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि उनमें पहली बार इतिहास के कुछ तत्त्व मिलते हैं –

1. ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम कवियों का विवेचन काल – क्रमानुसार किया। उनके पहले तासी और शिवसिंह सेंगर ने वर्णानुक्रम की प्रणाली को अपनाया था।

2. ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम समूचे हिन्दी साहित्य को कालों में विभाजित करने की चेष्टा की। चारण काल और रीतिकाव्य – इन नामों का सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रयोग किया।

3. कुछ कालों की सामान्य प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विश्लेषण करने का प्रयत्न ग्रियर्सन ने ही सर्वप्रथम किया।

4. प्रत्येक कवि को एक – एक अंक दिया गया है। बड़ी आसानी से किसी कवि को उसके नियत अंक पर देखा जा सकता है। आगे चलकर मिश्रबन्धुओं ने **विनोद** ने यही पद्धति अपनायी।

5. निम्नांकित प्रमुख रचनाकारों का विवरण पर्याप्त विस्तार से दिया गया है –

1.	चन्द्र बरदाई	2.	जगनिक	3.	सारंगधर
4.	कबीर दास	5.	विद्यापति ठाकुर	6.	मलिक मुहम्मद जायसी
7.	वल्लभाचार्य	8.	विट्ठल नाथ	9.	सूरदास
10.	नाभादास	11.	बीरबल	12.	तुलसीदास
13.	बिहारी लाल	14.	सरदार	15.	हरिश्चन्द्र
16.	लल्लू जी लाल	17.	कृष्णानंद व्यास देव	18.	राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द

6. कवियो के व्यक्तित्व एवं प्रभाव का वर्णन।

7. कवियों पर टिप्पणियों के साथ सुन्दर, सरस और साहित्यिक शैली में उनके महत्त्व – प्रतिपादन की चेष्टा, जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रमुख विशेषता हे।

8. मुगल दरबार तथा साहित्य रचना के अन्य केन्द्र स्थानों की चर्चा।

9. हिन्दी साहित्य की स्थान – स्थान पर अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत साहित्य से तुलना।

ग्रियर्सन की इन मोलिक विशेषताओं के कारण उनके अनुवादक ने किंचित गोरवपूर्ण शब्दों में उनके महत्त्व की घोषणा करते हुए लिखा है –

"यह हिन्दी साहित्य की नींव का पत्थर हे जिस पर आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास का भव्य भवन निर्मित किया। इस इतिहास ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व हे। इसने प्रारम्भिक खोज रिर्पोटों एवं मिश्र वन्धु विनोद को पूर्णतः प्रभावित किया है। शुक्ल जी के इतिहास के प्रकाश में आने से पूर्व एक युग था; जब वह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था।"

<u>खोज रिर्पोट और मिश्रबन्धु – विनोद</u> :– सन् 1900 ई0 में **नागरी प्रचारिणी सभा** काशी मं देश के विभिन्न भागों में लिखी हुई हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज

का काम अपने हाथों में लिया। 11 वर्षो तक वह खोज जारी रही और 1911 तक आठ भागों में यह खोज रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस खोज में रहस्यों, ज्ञात – अज्ञात एवं अल्प ज्ञात रचनाकारों की अनेक रचनाओं का पता लगाया गया। मिश्रबन्धुओं में से श्याम बिहारी मिश्र इसके निरीक्षक थे। अपने प्रकाण्ड संग्रह **विनोद** में मिश्रबन्धुओं ने सारी खोज रिपोर्ट की सामग्री का उपयोग किया।

1913 ई0 में गणेश बिहारी मिश्र और सुखदेव बिहारी मिश्र ने मिश्रबन्धु के नाम से मिश्रबन्धु विनोद के तीन भाग प्रकाशित करवाये। **विनोद** का चोथा भाग कुछ वर्षो के उपरान्त निकला। **विनोद** के चारों भागों में 4591 कवि संग्रहीत हुए हैं जो खण्डानुसार निम्नलिखित हैं –

प्रथम भाग : 1– 277

द्वितीय भाग : 278 – 1321

तृतीय भाग : 1322 – 2556

चतुर्थ भाग : 2557 – 4591

अनेक कवियों की संख्या बटों में है और इस प्रकार विनोद की कुल कवि संख्या 5000 के ऊपर पहुँचती है।

<u>विनोद रचना का उद्देश्य –</u> ''हमने भाषा के उत्मोत्तम शत नवीन और प्राचीन कवियों की कविता पर समालोचना करने का निश्चय किया है और उन समालोचनात्मक लेखों के आधार पर हिन्दी का जन्म और गोरव या किसी ऐसे ही नाम की पुस्तिका निमार्ण करने का भी विचार है। इसमें हिन्दी में उसके जन्म से अद्यावधि क्या – क्या उन्नति तथा अवनति हुई है और उसके स्वरूप में क्या – क्या हेर–फेर हुए हैं, इनका वर्णन किया जाना चाहते हैं। यह कार्य समालोचक सम्बन्धी ग्रन्थों के बहुतायत के प्रस्तुत हुए बिना और किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसी हेतु हमने समालोचना

करने का प्रारम्भ किया है और जब शंकर की कृपा से एक सौ उत्तमोत्तम कवियों की समालोचना लिख जायगी, तब उक्त ग्रन्थ के बनाने का प्रयत्न करेंगे। अपने इस अभिप्राय को हमने इस कारण विस्तारपूर्वक बतलाया है कि कदाचित कोई सुलेखक हमारे विचार को उत्तम समझ कृपा करके समालोचनाओं द्वारा हमारी सहायता करें, अथवा स्वयं उस ग्रन्थ के निर्माण करने का प्रयत्न करें। यदि कतिपय विद्वजन हमारी सहायता करेंगे, तो हम भी अपने अभीष्ट साधन में बहुत शीघ्र सफल मनोरथ होंगे, नहीं तो कई वर्ष इस कार्य में लगने सम्भव हैं।"[1]

नाम :

मिश्रबन्धु साहित्य का इतिहास लिखने के लिए अत्यन्त इच्छुक थे परन्तु वे अपनी सीमायें भी समझते थे। ग्रन्थ के नाम की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है –

"पहले हम इस ग्रन्थ का नाम "हिन्दी साहित्य का इतिहास" रखने वाले थे, परन्तु इतिहास की गम्भीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि हममें साहित्य का इतिहास लिखने की पात्रता नहीं है। फिर भी इतिहास ग्रन्थ में सभी छोटे – बड़े कवियों अथवा लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता। उसमें भाषा सम्बन्धी गुणों एवं परिवर्तनों पर तो मुख्य रूप से ध्यान देना पड़ेगा, कवियों पर गौण रूप से, परन्तु हमने कवियों पर भी पूरा ध्यान रखा है। इस कारण यह ग्रन्थ इतिहास से, इतर बातों का भी कथन करता है। हमने इसमें साहित्य सम्बन्धी सभी विषयों एवं गुणों के लाने का यथासाध्य पूर्ण प्रयत्न किया, परन्तु जिन बातों का इतिहास में होना अनावश्यक है, उन्हें भी ग्रन्थ से नहीं हटाया। हमारे विचार में प्रायः सभी मुख्य एवं अमुख्य कवियों के नाम तथा उनके ग्रन्थों के कथन से एक तो इतिहास में पूर्णता आती है और दूसरे हिन्दी भण्डार का गौरव प्रकट होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी कवि के विषय में कुछ जानना चाहे, तो उसे भी उस विषय की सामग्री प्रचुरता से मिल सकती है। इन्ही कारणों से साधारण कवियों एवं ग्रन्थों के नाम छोड़कर

---

1. मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग : भूमिका पृष्ठ – 1

इतिहास का शुद्ध स्वरूप स्थिर रखना आवश्यक समझ पड़ा फिर भी इतिहास का क्रम रखने को हमने कवियों का काल समयानुसार लिखा है और ग्रन्थ के आदि में एक संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया है। इन कारणों से हमने इसका नाम इतिहास न रखकर **मिश्रबन्धु विनोद** रखा है, परन्तु इसमें इतिहास ही का क्रम एवं इतिहास सम्बन्धी सामग्री सन्निविष्ट रहने के कारण हमने उसका उपनाम **हिन्दी साहित्य का** इतिहास तथा **कवि कीर्तन** भी रखा है।" **(मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग पृ0 सं0 3–4)**

उनके इस वक्त पर टिप्पणी करते हुए स्व0 श्री नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है:

"मिश्रबन्धुओं ने साहित्यिक इतिहास – दर्शन के परिणित रूप को पूर्वाशित कर लिया हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः वे साहित्यिक इतिहास दर्शन पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर भी नहीं रहे थ। किन्तु अनजाने ही जैसे उन्हें उसकी एक झलक मिल गयी हो। साहित्यिक इतिहास क्या हो सकता है, इसके विषय में उनका कथन विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु विनोद **साहित्यिक इतिहास** क्यों नहीं है, यह वे समझ पा सके हैं। उन्होंने जो नहीं लिखा, वह नहीं, बल्कि उनका वह विवेक विचारणीय है कि वे क्या नहीं कर पा रहे थे।"[1]

श्री रमाशंकर शुक्ल **रसाल** मिश्रबन्धुओं को साहित्य के इतिहास का प्रवर्तक मानते हैं। उनके मतानुसार – "वास्तव में हिन्दी साहित्य का जन्म श्रद्धेय मिश्रबन्धुओं के द्वारा ही हुआ है और इसके लिए हिन्दी संसार तथा हिन्दी साहित्य उनका शाश्वत ऋणी तथा आभारी है। मिश्र बन्धुओं ने ही साहित्य के इतिहास का नया मार्ग दिखलाया है।"[2]

स्वयं मिश्रबन्धुओ को अपने ग्रन्थ के इतिहास होने में संदेह है। अतः **श्री रसाल** का उन्हें साहित्येतिहास का युग – प्रवर्तक कहना विचित्र और हास्यापद लगता है। उन्होंने श्यामविहारी मिश्र से अपने इतिहास का प्राक्कथन लिखवाया है इसलिए अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा भी की है।

---

1. साहित्य का इतिहास दर्शनः नलिन विलोचन शर्मा पृ0 – 86
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रमाशंकर शुक्ल रसाल : भूमिका – पृ0 – 3

काल विभाजन :-

मिश्रबन्धुओं ने निम्नांकित प्रकार से हिन्दी साहित्य का काल विभाजन किया है –

नाम	समय	कितनी कविता मिलती है
पूर्वारम्भिक काल	700 – 1343	बहुत कम
उत्तरारम्भिक काल	1343 – 1444	थोड़ी
पूर्व माध्यमिक काल	1445 – 1560	कुछ अधिक
प्रौढ़ माध्यमिक काल	1561 – 1630	अच्छी मात्रा में
पूर्वालंकृत काल	1681 – 1790	बहुत अच्छी मात्रा में
उत्तरालंकृत काल	1791 – 1889	वर्धमान मात्रा में
अज्ञात काल		साधारण
परिवर्तन काल	1890 – 1925	प्रचुरता से
वर्तमान काल	1926 से अब तक	बहुत अधिक[1]

कालक्रम :

"कवियों के पूर्वापर क्रम रखने में हमने जन्म – संवत् का विचार न करके काव्यारम्भ काल के अनुसार क्रम रखा है। साहित्य – सेवा की दृष्टि से किसी का जन्म उसी समय से माना जा सकता है जब से यह रचना का आरम्भ करे। इसी कारण छोटी अवस्था वाले लेखकों के नाम बड़ी अवस्था वालों के पूर्व आ गये हैं।"[2]

श्रेणी विभाग – मिश्रबन्धुओं ने कवियों का श्रेणी विभाग करने की चेष्टा की है उनके अनुसार – "हमने इस ग्रन्थ में एक अपूर्व मत पर चलने का साहस किया

---

1. मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भागः पृ0 – 13
2. मिश्रबन्धु : पृ0 – 6 भूमिका से

है। आशा है कि कविगण हमारी इस धृष्टता को भी क्षमा करेंगे। हमने काव्योत्कर्ष प्रदर्शनार्थ कुछ श्रेणियाँ स्थिर कर दी है और कुछ श्रेणियों का एक – एक श्रेणी नायक बना दिया है। विशेषतया कथा – प्रसंग से सम्बन्ध रखने वाले कवियों की 1. सेनापति 2. दास 3. पद्माकर 4. तोष 5. साधारण और 6. हीन नामक श्रेणियाँ हैं। इनमें काव्योत्कर्ष की मात्रा इसी कथित क्रमानुसार है। कथा प्रासंगिक कवियों की लाल – दास और मधुसूदनदास नामक तीन श्रेणियाँ हैं।"[1]

श्रेणी विभाग की इस वैयक्तिक सनक का साहित्य के इतिहास में कोई महत्त्व नहीं है। छात्रों की किसी परीक्षापयोगी पुस्तक में इस प्रकार का श्रेणी विभाग औचित्य का अधिकारी हो सकता है, परन्तु साहित्येतिहास के लिए ऐसा विचार ही सर्वथा अनुपयुक्त और विषयानुचित है। स्वयं विभाग करने वाले व्यक्ति को यह मत अपूर्व लग सकता है परन्तु साहित्येतिहास के गम्भीर पाठकों के समक्ष इस प्रकार के अधकचरे प्रयास जिनमें उत्साह की मात्रा अधिक होती है और विवेक की कम, हास्यास्पद ही सिद्ध होते हैं।

<u>इतिहास सम्बन्धी मान्यता –</u> मिश्रबन्धु पाश्चात्य विशेषकर अंग्रेजी साहित्य लेखन से परिचित थे। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के **शा**[2] के इतिहास का उल्लेख किया है और एक अन्य स्थान पर कहा है – .

"अंग्रेजी साहित्य – इतिहासकार वर्तमान लेखकों का हाल नहीं लिखते हैं .... पर हम बहुत विचार करने के बाद वर्तमान लेखकों का कथन करना भी आवश्यक समझते हैं[3] मिश्रबन्धुओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य साहित्येतिहास

---

1. **मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग** – पृ0 23
2. **मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग** – पृ0 – 27
3. **मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग** – पृ0 – 12

की उस अति प्रचलित प्रणाली पर ध्यान नहीं दिया, जिसे विधेयवादी प्रणाली कहते हैं और जिसे अपनाने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को दिया जाता है, जिन्हें इसका थोड़ा गर्व भी था।[1]

समकालीन इतिहास – लेखन में इसका संकेत करते हुए उसका कथन है :

"कहा जा सकता है कि सनों में ही इतिहास जानने के कारण अकबर, औरंगजेब, एलिजाबेथ आदि राजा – रानियों के समयों पर ध्यान रखकर तत्सामयिक हिन्दी इतिहास की घटनाओं पर विचार करने से अड़चन पड़ेगी।"[2]

मिश्रबन्धुओं ने **विनोद** के प्रारम्भ में संक्षिप्त इतिहास प्रकरण खड़े रखा है, परन्तु उसमें तत्कालीन विविध परिस्थितियों और उनका साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा उसका अन्तरसम्बन्ध निर्धारित नहीं किया। परिपार्श्विक परिस्थितियों की चर्चा है अवश्य, परन्तु वह इतने क्षीण रूप में है कि साहित्येतिहास का जिज्ञासु पाठक उससे सन्तुष्ट नहीं होता। "हिन्दी नवरत्न" में भी उन्होंने साहित्येतिहास का परोक्ष संकेत दिया है। कवियों की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले असम्बद्ध उपकरणों से साहित्येतिहास का स्थापत्य तैयार नहीं किया जा सकता।

अभाव :– विनोद का प्रथम भाग निम्नांकित तीन प्रकरणों में विभक्त है :

1. संक्षिप्त इतिहास प्रकरण
2. आदि प्रकरण
3. प्रौढ़ माध्यमिक प्रकरण

अत्यन्त संक्षेप में मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी की उत्पत्ति के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्य बतलाने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने ग्रियर्सन की सहायता ली है अथवा उस पर निर्भर रहे हैं अतएव जो भूलें ग्रियर्सन ने इस सम्बन्ध

---

1. **साहित्य का इतिहास दर्शन : नलिन विलोचन शर्मा पृ0 – 86**
2. **साहित्य का इतिहास दर्शन : नलिन विलोचन शर्मा पृ0 – 16**

में की है, मिश्रबन्धु भी अपने को उनसे बचा नहीं पाये हैं।"[1]

हिन्दू और ईरानी आर्य किसी एक समय एक ही स्थान पर रहते थे और एक ही भाषा का व्यवहार करते थे। वह भाषा पराजिक कहलाती थी अथवा मीडिक, इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।

व्याकरण के समान लिपि के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े विचित्र हैं। वे हिन्दी हितार्थ यह आवश्यक समझते हैं कि एक ही शब्द अनेक प्रकार से लिखा जाये। शब्द का वर्ण विन्यास चाहे जैसा रहे, उन्हें सब सहज स्वीकार है। कोकिल शब्द को कोइल या कोयल भी लिखें तो उससे उनका कोई विरोध नहीं है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने **सतसई** शब्द के निम्नांकित 6 रूप दिये हैं :–

1. सतसई 2. शतसोय्या 3. सतसैया 4. **सतसइया**
5. शतसैया 6. सतसई

सतसैया संस्कृत शप्तसतिका का हिन्दी रूपान्तर मात्र है। इन दोनों शब्दों का आशय सात सो श्लोकों अथवा दोहों वाली पुस्तक से है। दुर्गा की पाथी में सात सो श्लोक हैं, इसलिए वह शप्तशती कहलाती है। बिहारी की पुस्तक में सात सो दोहे हैं, इसलिए वह सतसई कहलाती है और उसे सतसइया भी कहते हैं।

<u>ऐतिहासिक महत्त्व</u> :– 'विनोद' के पूर्व तीन ग्रन्थ रचे गये थे। **तासी** की रचना फ्रेंच भाषा में थी अतएव उसके उपयोग का कोई प्रश्न उठता ही नहीं था। दूसरी कृति **सरोज** थी। सरोज की शैली प्राचीन होने के कारण सब लोगों के लिए उससे लाभ उठाना सम्भव नहीं था। ग्रियर्सन का मूल आधार **सरोज** ही था, परन्तु उनकी रचना कुछ नये ढंग की थी। उसका हिन्दी अनुवाद अब तक हुआ नहीं था। केवल अंग्रेजी जानने वाले व्यक्तियों के लिए ग्रियर्सन की रचना की उपयोगिता थी। इन सब प्रयत्नों से कहीं नवीन ढंग से मिश्रबन्धुओं ने विनोद रचा, जो समय की बहुत

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक **अध्ययन** – पृ0 सं0 – 119

बड़ी आवश्यकता थी। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट जैसे साधन उनको सुलभ थे जो उनके पूर्ववर्तियों को नहीं थे। अपने प्रयत्न में चाहे वे सर्वथा सफल न हुए हों, इतिहास लेखक का चाहे उन्होंने प्रत्यक्ष संकेत नहीं दिया हो, अधिकतम कवियों और उनकी रचनाओं का विवरण देकर इतिहास के प्रति उन्होंने हिन्दी प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य शुक्ल तक अपने प्रौढ़ इतिहास लेखन में बहुत कुछ अंशों तक उनके द्वारा दी गई सूचनाओं पर निर्भर रहे।

<u>ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर : एडविन ग्रीब्ज :</u> – 1918 ई0 में ग्रीब्ज ने ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर" लिखा। यह एक छोटी सी पुस्तिका है। इसे हिन्दी साहित्य का इतिहास न कहकर उसकी उपक्रमणिका कहना अधिक उचित होगा। यह पुस्तक साहित्य प्रवाह का सुन्दर परिचय देती है, परन्तु लेखक का दृष्टिकोण इतिहास सम्बन्धी नहीं हे। वह तो पाठकों को हिन्दी साहित्य का एक विहंगम परिचय मात्र देती हे।

<u>ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर : एफ.ई.के. :</u> 1920 ई0 में एफ.ई.के. ने **ए हिस्ट्री** आव हिन्दी लिटरेचर नामक पुस्तिका लिखी। अपनी पुस्तक के सम्बन्ध में के महाशय का कथन हे कि "सो पृष्ठों में कुछ भी अधिक सामग्री नहीं दी जा सकती जबकि महान साहित्यों में से एक की समीक्षा करनी है, सीमा में रहकर सम्पूर्ण के साथ न्याय करना असम्भव हे।" इस पुस्तक में हरिश्चन्द्र के समय तक के ऐतिहासिक आन्दोलन की रूपरेखा खींचन का भरसक प्रयत्न किया गया है, परन्तु अति आधुनिक साहित्य का विस्तृत विवेचन करने का कोई प्रयास नहीं किया गया हे।"[1]

<u>निष्कर्ष :–</u> इस युग में **तासी** और शिवसिंह सेंगर के वर्णानुक्रम पद्धति अपनाकर अपने संग्रह तेयार किये। ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम काल क्रमानुसार कवियों और लेखकों का विवरण देने की चेष्टा की। मिश्रबन्धुओं ने अधिक से अधिक कृतिकारों और

---

1. हिन्दी : पं0 बदरीनाथ भट्ट – पृ0 30

उनकी कृतियों का उल्लेख किया। ग्रीव्ज तया के0 ने हिन्दी साहित्येतिहास पर विचार किया। इन रचनाओं को सच्चे अर्थो में इतिहास नहीं कहा जा सकता। युगीन, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का विवेचन इनमें नहीं हे और न साहित्य से उनके कार्य–करण सम्बन्ध को समझाने की चेष्टा है। इतिहास के क्षीण प्रयत्न वे अवश्य हैं। इतिहास लेखन के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल इन तथाकथित इतिहासकारों ने तैयार किया जिसका समुचित उपयोग आने वाले युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनके परिवर्ती साहित्येतिहासकारों ने किया।

<u>शुक्ल युग</u> : पूर्व शुक्ल युग में कवियों नाम और रचनाओं और उदाहरण देने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। ग्रियर्सन में इतिहास की विधेयवादी प्रणाली की कुछ झलक मिलती है। उन्होनें कवियों पर संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणियां लिखी, परन्तु इन सब प्रयत्नों के होने पर भी इतिहास अपने वास्तविक रूप और गरिमा को प्राप्त नहीं कर सका। इतिहास को उसका वास्तविक रूप एवं गरिमा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा ही प्राप्त हो सका था इस युग में सर्वप्रमुख व्यक्तित्व उन्हीं का रहा। उनके पश्चात के साहित्येतिहासकारों ने नये कृतिकारों एवं कृतियों के नाम चाहे कितने भी क्यों न गिनाये हों, नयी सूचनाए चाहे कितनी ही क्यों नहीं दी हों आचार्य शुक्ल के विस्तार और सीमा को वे स्पर्श नहीं कर सके। शुक्ल जी ने अपनी मान्यतानुसार जो कुछ लिख दिया, इतिहास लेखन की जो एक प्रणाली निर्धारित कर दी, उसी पर परवर्ती साहित्येतिहासकार चलते रहे। विवरण उन्होंने शुक्ल जी से कितने अधिक क्यों न दिये हों, परन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों की छानबीन में शुक्ल जी का मुकाबला करना उनके वश की बात नहीं है। साहित्येतिहास के क्षेत्र में कार्य करने वाले हैं ही कितने लोग डॉ0 श्यामसुन्दर दास रमाशंकर शुक्ल "रसाल" सूर्यकान्त शास्त्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" कृष्ण शंकर शुक्ल, डॉ0 रामकुमार वर्मा, ब्रजरत्नदास और आचार्य चतुरसेन शास्त्री। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम जानबूझ कर इस प्रसंग में छोड़ रहे हैं। उनकी चर्चा एक पृथक् अध्याय में करेंगे।

हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में **हिन्दी साहित्य का विकास** लिखा था। वहीं किंचित परिवर्द्धन, परिवर्तन और परिमार्जन के पश्चात् 1929 में **हिन्दी साहित्य का इतिहास** नाम से प्रकाशित हुआ। श्री नलिन विलोचन शर्मा आचार्य शुक्ल के इतिहास की प्रकाशन तिथि 1927 ई0[1] मानते हैं। आचार्य शुक्ल स्वयं उसका रचना काल 1929[2] घोषित करते हैं। अतः श्री नलिन विलोचन शर्मा द्वारा दी गई प्रकाशन तिथि अप्रमाणिक है।

काल विभाजनः–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास की एक बड़ी विशेषता उनका काल–विभाजन है। उनके काल–विभाजन पर विचार करने के पूर्व, उनके पूर्ववर्ती काल–विभाजनों पर विचार कर लेना अधिक विषयोचित होगा। सर्व–प्रथम ग्रियर्सन ने साहित्य का काल विभाजन करने की चेष्टा की। ग्रियसर्न द्वारा किया गया काल विभाजन इस प्रकार है–

1. चारण काल (700–1300 ई0)
2. पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण
3. मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम कविता
4. ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय (1500–1600 ई0)
5. मुगल दरबार
6. तुलसीदास
7. रीतिकाव्य –(1580–1682 ई0)
8. तुलसीदास के अन्य परवर्ती (1600–1700 ई0)
9. धार्मिक कवि
10. अन्य कवि
11. अठारवीं शताब्दी
12. धार्मिक कवि
13. अन्य कवि
14. कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान

    बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड

    बनारस

---

1. साहित्य का इतिहास दर्शन : नलिन विलोचन शर्मा, पृ0–88
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम संस्करण का वक्तव्य

अवध

विविध

महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन समस्त काल – विभाजन के गुण – दोषों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया और उसके पश्चात् अपना सुप्रसिद्ध विभाजन स्थिर किया :

1. आदिकाल (वीरगाथा : सं0 1050 – 1375)
2. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल : सं0 1375 – 1700)
3. उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल : सं0 1700 – 1900)
4. आधुनिक काल (गद्यकाल : सं0 1900 – 1984)

इस विभाजन का विस्तार आचार्य शुक्ल[2] ने इस प्रकार किया है –

वीरगाथा काल

पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल)

निर्गुण धारा (प्रेमाश्रयी शाखा)

सगुण धारा (रामभक्ति शाखा)

सगुण धारा ((कृष्ण भक्ति शाखा), उत्तर मध्य काल (रीतिकाल)

आधुनिक काल गद्य खंड

गद्य का विकास

आचार्य शुक्ल के इतिहास की विशेषताएं :–

शुक्ल जी के इतिहास की अनेक विशेषताएं हैं, उनकी चर्चा यहाँ की जाती है –

1. तथ्य संग्रह की कमी :– "आचार्य शुक्ल के समस्त इतिहास का गम्भीरतापूर्वक पारायण करने पर यह विशेषता सबसे पहले परिलक्षित होती है कि इतिहास लेखन

---

1. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास – अनु0 किशोरी लाल : (सूची)
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (विषय सूची)

के लिए जिस विशुद्ध तथ्य संग्रहकारिणी प्रतिभा की आवश्यकता होती है, वह आचार्य में बहुत कम मात्रा में मिलती है। तिथि निरूपण कृतिकारों के जीवनचरित्र, उनकी कृतियों के क्रमिक निर्माण तथा अन्य इति वृत्तों की ओर उनकी रुचि अधिक नहीं रही। कोरे तथ्य विश्लेषण से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। उनका विचारक और चिन्तक रूप ही इतिहास में अधिक व्यक्त हुआ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों की खोजबीन में उनकी प्रतिभा अधिक चमकी है।"[1]

2. <u>सैद्धान्तिक आलोचना की चर्चा</u> :– साहित्येतिहास में सैद्धान्तिक आलोचना के लिए बहुत कम स्थान रहता है। व्यवहारिक आलोचना ही उसका आधार स्तम्भ रहता है, परन्तु आचार्य जहाँ कहीं अवसर पाते हैं, बड़ी कुशलता और निपुणता के साथ किसी सिद्धांत की स्थापना व्यवहारिक आलोचना के साथ कर विषय को और स्पष्ट कर देते हैं। बिहारी की कला की चर्चा करते हुए मुक्तक काव्य के विषय में उनका यह मत विचारणीय और आदरणीय है –

"मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धार नहीं बहती, जिसमें तथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल जाती है। यदि प्रबन्ध – काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।"[2]

3. <u>चुटीला व्यंग्य</u> :– आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक बहुत बड़ी विशेषता गम्भीर प्रसंगों के बीच उनका चुटीला व्यंग्य है। पाठकों को विषय नीरस और बोझिल न लगे इसलिए आचार्य ने व्यंग्य का विधान स्थान – स्थान पर किया है, परन्तु कभी – कभी व्यंग्य आवश्यकता से अधिक तीव्र हो जाता है। मिश्रबन्धुओं का उल्लेख पहले हो चुका है। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू श्याम सुन्दर दास पर उन्होंने तीव्र व्यंग्य दिये हैं –

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन – पृ० सं० – 137
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० – 214

1. "ये दोनों नाटक उपाध्याय जी ने हाथ आजमाने के लिए लिखे थे। आगे उन्होंने इस ओर कोई प्रयत्न नहीं किया।"[1]

2. "द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।"[2]

3. "शिक्षापयोगी तीन पुस्तकें **भाषा विज्ञान** हिन्दी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन भी आपने लिखी या संकलित की हैं।[3]

रचनकारों के दोष के अनुपात में आचार्य का व्यंग्य स्पष्ट रूप से अधिक तीव्र है जो सहानुभूतिक की कमी का द्योतन करता है।

प्रभाववादी सम्प्रदाय के समबन्ध में उनका निर्णय द्रष्टव्य है।

''उक्त प्रभाववादियों की बात लें तो समालोचना कोई व्यवस्थित शास्त्र तो नहीं रह गया। वह एक कला की कृति से निकली हुई दूसरी कला की कृति, एक काव्य से निकला हुआ दूसरा काव्य ही हुआ।"[4]

4. **वैयक्तिक पुट** :- आचार्य शुक्ल ने अपने भारी भरकम और विशाल इतिहास में वैयक्तिक पुट (पर्सनल टच) द्वारा अधिक सरसता और रोचकता उत्पन्न कर दी है। यह वैयक्तिक पुट उन्होंने किसी साहित्यिक सूचना के लिए दिया है। अपने परिचय के आतंक जमाने के, उद्देश्य से नहीं।

5. **प्रवृत्ति अथवा परम्परा की खोज** :- किसी प्रवृत्ति अथवा परम्परा के उद्गम की खोज के लिए आचार्य सदा तत्पर रहे हैं। कबीर ने उन्हें वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परम्परा की स्पष्ट झलक दिखाने के लिए दोनों सम्प्रदायों का कुछ विस्तृत परिचय दिया है। जायसी और तुलसी की दोहा - चौपाई शैली के सम्बन्ध में उनका कथन है।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहासः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0 – 431
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0 – 443
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0 451
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ0 496

ध्यान देने जैसी बात है कि चरित्र काव्य या आख्यान काव्य के लिए अधिकतर चौपाई – दोहे की पद्धति ग्रहण की गई। पुष्प दन्त (सं0 1029) के "आदि पुराण" और उत्तर पुराण चौपाइयों में है। इसी काल के आसपास का जसदर चरितु (यशधर चरित्र) भी चौपाइयों में रचा गया है जैसे –

विणु धवलेण सयहु कि हल्लइ। विष्णु जीवेण देहु कि चल्लइ।।
विणु जीवेण मोक्ख को पावहू। तुम्हारिसु कि अप्पइ आवइ।।

चौपाई – दोहे की यह परम्परा हम आगे चलकर सूफियों की प्रेम कहानियों में तुलसी के रामचरित मानस में तथा छत्र प्रकाश, ब्रज विलास, सवलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान काव्यों में पाते हैं।[1]

6. <u>सरल और स्निग्ध भाषा</u> :– अपने मत का युक्तियुक्त प्रतिपादन करने के लिए आचार्य जितने कठोर तार्किक हैं, कवियों के भावलोक के रसास्वादन में उतने ही सरस ओर स्निग्ध भी। तुलसी उन्हें सूर से अधिक प्रिय थे, परन्तु सूर के भावलोक का वर्णन उन्होंने अत्यन्त सहृदयता एवं सदाशयता से किया है।

7. <u>काल विभाजन की श्रेष्ठता</u> :– हिन्दी का अपना साहित्य है और उस साहित्य का भी अपना इतिहास है। उसकी परम्परा हरिश्चन्द्र से नहीं दशियों शताब्दी पहले से चली आ रही है। इस तथ्य को शुक्ल जी के पहले और किसी ने नहीं समझा था, यदि समझा भी था, तो उसका दान नहीं दिया था। हिन्दी साहित्य का इतिहास हिन्दी भाषी जनता की चित्त वृत्तियों का प्रतिबिम्ब है और उसकी चित्त वृत्तियों के साथ परिवर्तित होता गया है वह यह विलक्षण देन आचार्य की ही है। इसी आधार पर उन्हें काल विभाजन करने में बड़ी सुविधा हुई। उनके पूर्व आदि, मध्य, उत्तर आदि काल विभाग प्रचलित थे जो युगीन प्रवृत्तियों के परिचायक नहीं थे। समूचे साहित्य के इतिहास को वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल – इन चार कालों में बाँट कर आचार्य ने उसका वास्तविक आधार उपस्थित किया। काल विशेष की प्रमुख प्रवृत्ति के साथ ही आनुषांगिक प्रवृत्ति का

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य शुक्ल पृ0 – 6

उल्लेख भी उन्होंने किया है।

8. <u>साहित्यिक रचनाओं का चुनाव</u> :- आचार्य की एक बहुत बड़ी मौलिक विशेषता युग विशेष की अपार ग्रन्थ राशि में से विशुद्ध रचनाओं का चयन करने की है। साहित्यिक और असाहित्यिक रचना का भेद जानने में शुक्ल जी बड़े सिद्धहस्त हैं। साहित्येतिहास लेखन में यह समस्या कितनी विकट है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव तो कोई साहित्येतिहासकार ही कर सकता है। आदिकाल की साहित्यिक सामग्री के रूप में **नाथों** और **सिद्धों** की सहस्त्रों रचनाएं उपलब्ध थी, जिनमें साहित्यिक कोटि के अन्तर्गत आने वाली रचनायें कम थीं। उस अपार ढेर में से आचार्य शुक्ल ने केवल उन्हीं रचनाओं को चुना जो साहित्यिक सीमा में प्रवेश पा सकती थी यदि आचार्य यहाँ चूक जाते तो हमारा साहित्य एक भ्रामक परम्परा का शिकार हो जाता और सभी सम्प्रदायिक रचनायें साहित्य के इतिहास में स्थान पाने के अधिकार की घोषणा करतीं। आधुनिक काल के गद्य साहित्य के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बात थी। न मालुम कितने पंडित अपने पोथी पन्ने लिए साहित्य के द्वार पर उपस्थित थे। विभिन्न विषयों की सहस्त्रों कृतियाँ अपने को साहित्यिक कहलाने के लिए स्पर्द्धा कर रही थी। यदि उन सबको साहित्येतिहास में स्थान मिल जाता तो विशुद्ध साहित्यिक कृतियाँ साहित्येतिहास के क्षेत्र से बाहर ही रह जातीं, परन्तु रचनाओं के इस जमघट में से आचार्य ने विशुद्ध एवं सच्ची साहित्यिक कृतियों का चयन जिस निपुणता के साथ किया है। उसने हमारे साहित्येतिहास की स्वस्थ्य परम्परा स्थापित करने में बड़ी सहायता की है।

9. <u>भाषा का सच्चा स्वरूप</u> :- आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी के मतानुसार एक अन्य प्रासंगिक विशेषता इस ग्रन्थ (हिन्दी साहित्य का इतिहास) की यह है कि इसमें हिन्दी साहित्य के साथ उसकी आधारभूत हिन्दी भाषा के स्वरूप और उसके विकास को अच्छी तरह पहचाना और प्रदर्शित किया गया है। आरम्भिक युग में जब प्राकृत भाषा अथवा अपभ्रंश की शब्दावली हिन्दी के साथ - साथ चल रही थी, और उसके स्वतन्त्र रूप को आवृत्त कर रही थी, शुक्ल जी ने उसकी यथार्थ छानबीन की है।

विद्यापति की भाषा का परिचय देते हुए उन्होंने दोनों प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख किया है, एक वह जिसमें के परम्परागत प्रयोगों से आकृष्ट होकर पुरानी पदावली का प्रयोग कर रहे थे, और दूसरी वह जिसमें उन्होंने हिन्दी के अपने स्वरूप का विकास किया है। हिन्दी भाषा के माधुर्य के लिए यदि वे सूर की प्रशंसा करते हैं तो उसकी व्यापकता के लिए तुलसी का उदाहरण रखते हैं। छंदो और तुकों की पूर्ति के लिए किया गया भाषागत अनाचार उन्हें पसन्द नहीं है। रीतिकाल के कवियों की भाषा रूढ़ि में बंध रही थी, अवएव शुक्ल जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भाषा – आदर्श को उपस्थित किया है जिन्होंने जन समाज में प्रचलित भाषा के स्थान पर जीवित और प्रचलित भाषा का फिर उत्थान किया। शुक्ल जी कृत्रिम और दुरूह भाषा के स्थान पर जीवित और प्रचलित प्राप्त भाषा के हिमायती थे। वे हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता का आग्रह रखते थे। ग्रामीण प्रान्तीय या स्थानिक प्रयोगों के पक्षपाती न होकर वे भाषा का सर्वमान्य रूप चाहते थे। हिन्दी पर किसी अन्य भाषा का प्रभाव चाहे वह फारसी का हो या संस्कृत का ही क्यों न हो, उन्हें इष्ट न था। इससे हिन्दी के प्रति उनके असीम अनुराग के साथ ही भाषा सम्वन्धी उनकी स्वस्थ विवेचना का परिचय मिलता है।[1]

<u>त्रुटियाँ</u> :– आचार्य शुक्ल के इतिहास की कुछ प्रमुख त्रुटियाँ निम्नांकित हैं –

1. राजस्थानी और मैथिली साहित्य के प्रति उदासीनता :–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उस हिन्दी के साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है जिसे प्राचीन कवियों एवं टीकाकारों ने **भाखा** कहा है। **भाखा** से इतर निर्मित साहित्य उनके इतिहास में स्थान नहीं पा सका। हिन्दी की उप बोलियों के अन्तर्गत राजस्थानी और मैथिली दोनों की गणना की जा सकती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके साहित्य पर भी विचार किया जाना अनिवार्य था। वीरगाथा काल अथवा आदिकाल की प्रभूत सामग्री इन दोनों भाषाओं के साहित्यों में विद्यमान है। अपभ्रंश किस प्रकार अपना रूप बदलकर के हिन्दी अर्थात पुरानी हिन्दी का

---

1. आधुनिक साहित्य – नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ0 – 267 – 268

रूप धारण कर रही थी, इसके स्पष्टीकरण के लिए इन भाषाओं के साहित्य का परिचय आवश्यक है। खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी इनमें परस्पर काफी साम्य है। राजस्थानी और मैथिली की भाषागत प्रवृत्तियाँ इनसे कुछ भिन्न हैं। बहुत सम्भव है कि आचार्य को इन भाषाओं का ज्ञान नहीं था अतएव इनका साहित्य उनके इतिहास में स्थान नहीं पा सका। **बेलि किसन रुकमणी री"** और विद्यापति के गीतों को हिन्दी की निधि समझने वाला साहित्येतिहासकार राजस्थानी और मैथिली भाषाओं की परम्परा को साहित्येतिहास में ग्रहण नहीं कर पाता तो यह विषय सम्बन्धी उसका अज्ञान ही है इससे न कुछ कम और न अधिक।

2. <u>तथ्य सम्बन्धी भूलें</u> :- हिन्दी साहित्य के विशाल इतिहास में आचार्य शुक्ल भी अपने को तक्य विषयक भूलों से नहीं बचा पाये हैं। ऐसे स्थल उनके इतिहास में बहुत कम हैं जहाँ तथ्य सम्बन्धी भूल मिलती है पर हैं, अवश्य।

वेलि के रचयिता पृथ्वीराज राठोड़ के सम्बन्ध में उनकी सूचना है:
वेलि क्रिसण रुकमणी री जोधपुर के राठोड़ राजवंशीय स्वदेशाभिमानी कवि पृथ्वीराज की रचना है, जिनका महाराणा प्रताप को क्षोभ से भरा पत्र लिखना इतिहास प्रसिद्ध है। रचना प्रौढ़ भी है और मार्मिक भी। इसमें श्रीकृष्ण और रुकमणी के विवाह की कथा है।[1]

पृथ्वीराज राठोड़ बीकानेर के राजा थे, जोधपुर के नहीं। **"कामायनी"** की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है -

"रहस्यवाद की परम्परा में चेतना से असंतोष की रूढ़ि चली आ रही है। प्रसाद जी काव्य के प्रारम्भ में ही चिन्ता के अन्तर्गत कहते हैं -

'मनु का मन था विकल हो उठा संवेदन से खाकर चोट।
संवेदन, जीवन जगनी को जो कटुता से देता घाट।।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य शुक्लः पृ0 200

संवेदन का और हृदय का यह संघर्ष न हो सकता।
फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ कहता।।

यह उद्धरण **आशा** सर्ग का है, **चिन्ता** सर्ग का नहीं। वर्तमान अथवा समकालीन रचनाकारों के सम्बन्ध में इस प्रकार की भूलें होना श्रेयस्कर नहीं है।

3. **अविच्छिन्न परम्परा का निर्वाह नहीं** :– "आचार्य ने परम्परा को अविचिछिन्न रूप में देखने की चेष्टा की है, परन्तु आधुनिक काल के अन्तर्गत उन्होंने गद्य विधाओं– कहनी–उपन्यास नाटक, निबन्ध, अलोचना आदि के तीन–तीन उत्थान बताये हैं और प्रत्येक उत्थान को पच्चीस – पच्चीस वर्ष की कलावधि में सीमित अथवा अन्तर्निहित कर दिखलाया है। इससे पाठक की विचार शृंखला टूट जाती है और एक साहित्यिक विधा का पूर्ण विकास स्पष्ट नहीं हो पाता। इस प्रकार के विभाजन में श्रम हो सकता है, विवेक नहीं।"[1]

4. **विवरण प्रधान इतिहासः**– इतिहास का सबसे बड़ा दूषण यह है कि आचार्य ने प्रारम्भ में प्रवृत्तियों की व्याख्या और निरूपण करने की घोषणा की है किन्तु इतिहास में प्रवृत्ति निरूपण गोण होकर विवरण प्रधान हो गया, जिनके लिए उन्होंने मिश्रबन्धुओं की मुक्ति रहित आलोचना की और उन पर निमर्म व्यंग्य किये। नलिन विलोचन शर्मा के शब्दों में –

"पं0 रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास की, इन विशेषतओं के बावजूद जो त्रुटि हे वह यह कि अनुपात की दृष्टि से, स्वल्पाँश ही प्रवृत्ति निरूपण परक है। अधिकाँश विवरण प्रधान ही है ओ वे यह स्वीकार करते हैं कि उसके लिए उनका मुख्य आधार वह **विनोद** हे जिसके लेखक मिश्रबन्धुओं पर उन्होंने अनावश्यक रूप से कटु व्यंग्य भी किये हैं।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ0 सं0 – 142
2. साहित्य का इतिहास दर्शन : नलिन विलोचन शर्मा पृ0 86

5. <u>आवश्यकता से अधिक तार्किक:</u> आचार्य, अपने मतों का समर्थन इतनी दृढ़ता और तर्कयुक्तता से करते हैं कि उनसे सर्वत्र सहमत होना बड़ा कठिन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में –

"पं0 रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं। वे इतने गंभीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनको बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो **"हाँ"** कहना पड़ेगा या**"ना"** बीच में खड़े होने का उपाय नहीं। उनका **"अपना"** मत सोलह आने अपना है। वे तन कर कहते हैं – "मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।"[1]

6. <u>इतिहास जुटाया है, जगाया नहीं:</u> जैनेन्द्र कुमार ने इस इतिहास पर आक्षेप करते हुए लिखा है– "इतिहास उन्होंने जुटाया है, जगाया नहीं।"[2] इतिहास जगाने से उनका तात्पर्य सांस्कृतिक चेतना के विराट स्वरूप को स्पष्ट करने से है। प्रवृत्ति का कुछ अंशों तक निरूपण करने पर भी यह इतिहास हमारी संस्कृति का वाहक नहीं बन सका। कुल मिलाकर यह इतिहास हमें कोई संदेश नही देता।

7. <u>वैयक्तिक रुचि की प्रधानता:</u> आचार्य ने कवि की प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुसार काव्य की परख नहीं की है। अपने पूर्व निरूपित सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने प्रत्येक कवि या रचनाकार को परखा है, जिससे उनका विश्लेषण वस्तुतोन्मुखी कम होकर वैयक्तिक अधिक हो गया है। इस कारण उनकी समीक्षा का मानदण्ड सभी कलाकारों के लिए समान रहा है। बिहारी, पद्माकर और सेनापति जैसे भिन्न प्रतिभा वाले कवियों को एक ही कसोटी पर तोलने का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि उनके निणयों में कही कहीं अतिरंजता भी आ गई है। घनानन्द की भाषा को सूर और तुलसी की भाषा से सशक्त बतलाना,

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 149
2. आचार्य शुक्ल-सं0 गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक , पृ0 48

असंतुलित धारणा ही है।

महत्त्वः शुक्ल जी का महत्त्व यह है कि हिन्दी साहित्येतिहास का वास्तविक ढाँचा उन्होंने ही खड़ा किया। उनके पश्चात तो साहित्येतिहास ग्रन्थों की एक प्रकार से बाढ़ आ गई। विद्यार्थियों को परीक्षापयोगी सामग्री देने के लिए अनेक इतिहास निकले परन्तु किसी को भी सच्ची अन्तर्दृष्टि प्राप्त न थी परवर्ती साहित्येतिहासकारों ने तिथियाँ कुछ भिन्न दी हों, सामग्री का संकोच अथवा विस्तार हो, उसे प्रस्तुत करने का ढंग भिन्न हो परन्तु पद्धति वही है जो आचार्य ने बनाई है। एक बंधी बंधायी लीक पर वे चले हैं अपना मार्ग उन्होंने स्वयं नहीं बनाया। विस्तार भले ही कुछ ने दिखलाया हो, परन्तु महत्त्व और गरिमा में आचार्य के पासंग में भी नहीं आते। उन्हीं की कृति का यद् किंचित शब्द परिवर्तन कर परिवर्तियों ने उपयोग किया। उन्होंने ऐतिहासिक प्रवाह की गति का उन्नयन अवनयन दिखलाया। अपने निर्णयों के प्रति उनमें पूर्ण आत्म–विश्वास था।"[1]

<u>हिन्दी साहित्यः डॉ0 श्याम सुन्दर दास –</u> 1930 ई0 में डॉ0 श्याम सुन्दर दास का हिन्दी भाषा और साहित्य निकला, जो बाद में **हिन्दी साहित्य** के नाम से प्रकाशित हुआ। पहले की आवृत्तियों से इस संस्करण में अनेक अन्तर हैं, यद्यपि मूल आकार पूर्ववत है। इसका उद्देश्य पहले से यह था कि भिन्न भिन्न काल की मूल वृत्तियों का वर्णन किया जाये। जिस काल में जैसी राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति थी उसके वर्णन के साथ उस काल के मुख्य – मुख्य प्रवर्तक कवियों का वर्णन भी रहे। यह अंश ज्यों का त्यों है। कवियों के विषय में जो नये अनुसंधान हुए हैं उनके आधार पर साहित्यिक स्थिति के वर्णन में आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं और कवियों की कविता के नमूने भी दिये गये हैं। इस अंश में विशेष परिवर्तन हैं। भिन्न – भिन्न विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने एम0 ए0, पी–एच0डी0 और डी0लिट्0 की परीक्षाओं के लिए अनेक थीसिस लिखी हैं और जिनके देखने का मुझे अवसर मिला है उनमें से आवश्यक सामग्री मैंने इस संस्करण में सम्मिलित की है। परन्तु उन्होंने यह नहीं बतलाया कि

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – डॉ0 शिवनाथ पृ0 237

उन्होंने किन–किन ग्रन्थों से अपने ग्रन्थ निर्माण में सहायता ली।

हिन्दी साहित्य का इतिहासः रमाशंकर शुक्ल "रसाल"

1931 ई0 में रमाशंकर शुक्ल "रसाल" का हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रकाशन में आया। अपने साहित्येतिहास का उद्देश्य "रसाल" जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:

"ईश्वर की कृपा से आज वह समय आ गया है कि हिन्दी भाषा का सहित्य श्री सम्पन्न होता हुआ सबके लिए समाकर्षक हो रहा है और सभी इसके अध्ययन की ओर समुत्सुक होकर ध्यान दे रहे हैं। ऐसी दशा में वह अनावश्यक ठहरता है कि इसके जीवन का वास्तविक विवरण जनता के सम्मुख उपस्थित किया जाय, क्योंकि साहित्य के अध्ययन से पूर्ण साहित्य के ही विषय में यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना, उसके ऐतिहासिक विकास से परिचित होना तथा उसकी विचारधाराओं, रीतियों आदि का यथोचित रूप से जानना अनिवार्य ही है। इसी विचार से साहित्य का इतिहास विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है और उसके बिना साहित्य का भंडार एक प्रकार से सूना सा ही रहता है।

साहित्येतिहास के अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी **रसाल** के विचारों से सहमत होना सम्भव नहीं है। साहित्यिक इतिहास के उपकरणों के रूप में साहित्य के नानाविधि तथा सम्यक् अध्ययन की अपेक्षा तो रहती ही है।

हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहासः सूर्यकान्त शास्त्री –

1932 ई0 में ही सूर्यकान्त शास्त्री का हिन्दी सहित्य का विवेचनात्मक इतिहास प्रकाशित हुआ। गेटे का प्रसिद्ध उद्धरण देकर शास्त्री जी ने अपनी इतिहास विषयक मान्यता का स्पष्टीकरण किया है:

अर्थात समय – समय पर इतिहास इसलिए पुनः लिखा जाना चाहिए, इसलिए नही कि बहुत से नवीन तत्वों को खोजा गया है, परन्तु नये दृष्टिकोण सामने आते हैं

क्योंकि एक युग की प्रगति में सक्रिय भाग लेते समय ऐसे केन्द्र बिन्दु पर पहुँचते हैं जहाँ से अतीत एक नवीन प्रकार से जाँचा और परखा जा सकता है।

परन्तु इसी स्थापना को खंडित करते हुए शास्त्री जी ने आगे कहा है। युगों के निर्माण तथा क्रम में हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर का अनुसरण किया गया है।"[1]

हिन्दी भाषा और साहित्य का विकासः अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध"

पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" ने पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में कुछ भाषण दिये जो 1934 ई0 **"हिन्दी भाषा और सहित्य का विकास"** नाम से पुस्तककार रूप में प्रकाशित हुए। इस भूमिका ने उपाध्याय जी के इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण का कुछ पता नहीं चलता है। भूमिका से प्रारम्भ में उन्होंने कहा है:

"इस ग्रन्थ के पृष्ठ 10 में मैंने यह प्रतिपादित किया है कि आर्य जाति का मूल निवास स्थान भारतवर्ष ही है, वह किसी दूसरे स्थान से न तो आई है और न वह उसका उपनिवेश।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ0 राम कुमार वर्मा:

1938 ई0 में डॉ0 राम कुमार वर्मा का **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** अस्तित्व में आया इस विशालकाय ग्रन्थ में उन्होंने सं0 700 – 1750 तक साहित्य के प्रथम दो कालों का अध्ययन लिपिबद्ध किया है। निवेदन के प्रारम्भ में ही डॉ0 वर्मा ने घोषित किया है:

"हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं। उनमें कवियों का विवरण और प्रवृत्तियों का निरूपण स्पष्टता के साथ पाया जा सकता है। किन्तु इधर साहित्य के इतिहास में कई नवीन अन्वेषण हुए हैं। इतिहास लिखने के दृष्टिकोण और शैली में भी नूतन वैज्ञानिक उत्क्रान्ति हुई है। अतः हिन्दी का इतिहास लेखन अभी पूर्ण नहीं है।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास : सूर्यकान्त शास्त्री – पृ0 – 8
2. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ0 रामकुमार वर्मा: निवेदन पृ0– 1

__कुछ उल्लेखनीय त्रुटियाँ__: डॉ0 रामकुमार वर्मा के आलोचनात्मक इतिहास में कुछ उल्लेखनीय त्रुटियाँ पाई जाती हैं। काल विभाजन के पश्चात साहित्य के विस्तार की चर्चा करते हुए वे हिन्दी की बोलियों का उल्लेख करते हैं और सूचना देते हैं, "राजस्थान में प्रयुक्त बहुत सी बोलियों में दो प्रधान हैं। मेवाड़ी और उसके समीपवर्ती भागों में बोली जाने वाली मारवाड़ी।" 1

राजस्थान की बोलियों के सम्बन्ध में वह सर्वथा भ्रामक सूचना है। राजस्थानी की दो प्रधान बोलियाँ मारवाड़ी और जयपुरी है (मेवाड़ी नहीं) जो क्रमशः पश्चिमी राजस्थानी ओर मध्यपूर्वी राजस्थानी के नाम से प्रख्यात है।

इतिहास प्रसिद्ध है कि मुसलमानों का पहला आक्रमण भारत पर 712 ई0 अर्थात आठवीं शताब्दी में सिंध पर हुआ था उसके पश्चात् ही दोनों जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आई। परन्तु डा0 वर्मा मुसलमानों का भारत आगमन सातवीं शताब्दी में ही मानते हैं।

"यों तो इस देश में मुसलमानों का आगमन ईसा की सातवी शताब्दी से ही हो गया था किन्तु देश की विचारधारा पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं पड़ सका।" 2

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

(इतिहास का नवीन दृष्टिकोण)

व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली से आगे बढ़कर सामाजिक इतिहास प्रणाली को अपनाकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका के माध्यम से साहित्येतिहास-लेखन-क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। साहित्यकारों और उनकी कलाकृतियों के वैयक्तिक विवेचन का मोह छोड़कर आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के विराट पुरुष, उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्येतिहास के माध्यम से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की चिन्ताधारा और भाव -परम्परा को स्पष्ट करने का

---

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास: डॉ0 रामकुमार वर्मा पृ0 43
2. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास: डॉ0 रामकुमार वर्मा पृ0 43

प्रयास किया है। हिन्दी साहित्य का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के लिए हिन्दी पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज एवं स्वाभाविक विकास के रूप में हिन्दी साहित्य का निरूपण किया गया है। भूमिका का प्रकाशन 1940 ई0 की घटना है।

दृष्टिकोण: अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है –

"विश्व भारती के अहिन्दी भाषा साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय करने के बहाने इस पुस्तक का आरम्भ हुआ था। बाद में कुछ नये अध्याय जोड़कर इसे पूर्ण करने की चेष्टा की गई है। मूल आख्यानों में से ऐसे बहुत से अंश छोड़ दिये गये हैं जो हिन्दी भाषी साहित्यिकों के लिए आवश्यक थे। फिर भी इस बात का यथा सम्भव ध्यान रखा गया है कि प्रवाह में बाधा न पड़े। इसके लिए कभी कोई बात दो जगह भी आ जाने दी गयी है। ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय।"[1]

साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन और उनके उद्गम की खोज:

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मुख्य उद्गम को खोजकर उन्हें मूल उत्स के साथ संयोजित करना है अतः उन्होंने पूर्व प्रचलित परिपाटी के ढंग पर काल विभाजन नहीं किया है। चारण काल को उन्होंने एक प्रकार से छोड़ ही दिया है। आधुनिक – युग के प्रारम्भ के पूर्व उन्होंने हिन्दी कविता से निम्नांकित छ अंग निर्धारित किये हैं :

1. डिंगल कवियों की वीरगाथायें
2. निर्गुणियाँ सन्तों की वाणियाँ
3. कृष्ण भक्त या रामानुजा भक्तिमार्ग के साधकों के पद
4. रामभक्त या वैधीमार्ग के उपसकों की कवितायें
5. सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के रोमांस काव्य
6. ऐहिकतापरक हिन्दू कवियों के रीति काव्य।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, निवेदन पृ0 – 7
2. हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, निवेदन पृ0 28

आचार्य द्विवेदी की मान्यता है कि हिन्दी में दो भिन्न जातियों की कविता अपभ्रंश से विकसित हुई है:

1. पश्चिमी अपभ्रंश से प्रभावित राजस्तुति, एहिकता मूलक शृंगारी काव्य,. रीति विषयक फुटकल रचनायें और लोक प्रचलित कथानक।
2. पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणियाँ सन्तों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़ फटकार, अक्खड़पन, सहजशून्य की साधना, योग पद्धति और भक्तिमूलक रचनायें।

यह और भी लक्ष्य करने की बात है कि यद्वपि वेष्णव मतवाद उत्तर भारत में दक्षिण की ओर से आया था पर उसमें भावावेश मूलक साधना पूर्वी प्रदेशों से आई। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में दो भिन्न – भिन्न जाति की रचनायें दो भिन्न – भिन्न मूलों से आई।[1]

आचार्य द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में निम्नांकित साहित्यिक प्रवृत्तियों के उदगम स्थलों की खोज की हे और उनका सहज और स्वाभाविक विकास वतलाया हे:

1. सन्त मत
2. भक्तों की परम्परा
3. योगमार्ग और सन्तमत
4. सगुण मतवाद
5. मध्ययुग के सन्तों का सामान्य विश्वास
6. भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व
7. रीतिकाल 2

आधुनिक काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों की छान–बीन उन्होंने उपसंहार के अन्तर्गत की हे।

<u>**कला का तलस्पर्शी विवेचन:**</u> हिन्दी साहित्य की भूमिका में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कुछ पमुख कृतिकारों की कला का तलस्पर्शी विवेचन किया है। कम से कम शब्दों में उन्हाने अधिक से अधिक तथ्यां का कलात्मक ढंग से उद्घाटन किया हे शेली की यह विशेषता अन्यत्र कम देखी जाती हे।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ0 29
2. हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ0 सं0 10 – 12

रीति काव्य विषयक मतः रीति काव्य के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी का मत है कि उसमें स्वतन्त्र चिन्तन का प्रभाव था क्योंकि रीति ग्रन्थकार कवियों ने शास्त्रीय मत को प्रधान समझा था और अपने मत को गोण।

"एक तरफ नायिका – भेद का विषय जहाँ नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों से लिया गया वहाँ उसका व्यावहारिक अंग कम शास्त्रीय ग्रन्थों से अनुप्राणित था। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रीतिकाल का कवि केवल नाट्य शास्त्र और काम – शास्त्र की रटन्त विद्या का जानकार था। यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों की भरमार होने पर भी वह उस प्राचीन लोकभाषा के साहित्य का ही विकास था जो कभी संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था। इस विशेष काल में जब कि शास्त्र चिन्ता लोक चिन्ता का रूप धारण करने में लगी थी। वह पुरानी लोकिकता – परक लोक – काव्य धारायें शास्त्री मत के देखते देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। कवियों ने दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बंद नहीं कर दिया। नायिका भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोकचित्र आ सकता था। इस काल का उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय ओर इतना दोष जरूर हे कि यह चित्र असंपूर्ण ओर विच्छिन्न है। शास्त्र मत की प्रधानता ने इस काल के कवियों को अपनी स्वतन्त्र उद्‌भावना शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया, उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गोण मान लिया, इसलिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया। पर भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया ओर वही इस युग में सबसे अधिक खतरनाक बात थी।[1]

समकालीन कलाकारों का प्रभाव विश्लेषणः अपने समकालीन और युग निर्माता तथा अपने – अपने क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं प्रभाव का थोड़े से शब्दों में बड़ा सूक्ष्म ओर मनोवैज्ञानिक वर्णन विश्लेषण द्विवेदी ने किया हे।

हिन्दी साहित्यः हजारी प्रसाद द्विवेदी–

1955 ई0 में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य नामक

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 – 124–125

दूसरा साहित्येतिहास ग्रन्थ प्रकाश में आया। द्विवेदी जी ही एकमात्र ऐसे साहित्येतिहासकार हैं जिन्होंने अपने द्वारा व्यवहृत प्रणाली का विवेचन करते हुए साहित्येतिहास – ग्रन्थ लिखे हैं।

<u>उद्देश्य:</u> "हिन्दी साहित्य" के निवेदन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए उसके उद्देश्य को निम्नांकित शब्दों में प्रकट किया है:–

"इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास का संक्षिप्त वर्णन किया है पुस्तक विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी हैं। प्रयत्न किया है कि यथा संभव सुबोध भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके महत्त्वपूर्ण वाह्य रूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे दिया जाये। परन्तु पुस्तक को संक्षिप्त स्वरूप देते समय ध्यान रखा गया है कि मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन छूटने न पाये और विद्यार्थी अद्यावधि शोध कार्यों के परिणाम से अपरिचित न रह जावें। उन आवश्यक अटकल बाजियों और अप्रसांगिक विवेचनाओं को छोड़ दिया गया है जिनसे इतिहास नामधारी पुस्तकें प्रायः भरी रहती हैं। आधुनिक काल की प्रवृत्तियों को समझाने का प्रयत्न तो किया गया है पर बहुत अधिक नाम गिनाने की प्रवृत्ति से बचने का भी प्रयास है। इससे बहुत से लेखकों के नाम छूट गये हैं पर यथासंभव साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ नहीं छूटी हैं।[1]

स्पष्ट रूप से यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विधेयवादी परम्परा से भिन्न साहित्यिक साहित्येतिहास लेखन का संकल्प है। अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के साहित्येतिहास ग्रन्थ लिखे गये हैं अथवा नहीं, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, सम्भवतः नहीं लिखे गये हैं। साहित्यिक प्रवृत्तियों और परम्पराओं के उद्गम का विभाजन उन्होंने **भूमिका** में किया है जिसकी चर्चा गत पृष्ठों में की जा चुकी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास की विषय सूची से उनके हिन्दी साहित्य की विषय सूची की तुलना करने पर उनकी पद्धति की नवीनता का स्पष्टीकरण हो सकेगा।

---

1. हिन्दी साहित्य : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : निवेदन पृ0 – 9

काल विभाजन : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य की 'भूमिका' में जो हिन्दी साहित्य का काल विभाजन नहीं किया परन्तु "हिन्दी साहित्य" में किया है –

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1000 ई0 – 1400 ई0)
2. भक्ति साहित्य का आविर्भाव
3. रीतिकाल (16वीं शताब्दी के मध्यभाग से 19 वीं शताब्दी के मध्यकाल तक)
4. आधुनिक काल (1800 – 1952 ई0)[1]

"जहाँ तक कालों के नामकरण का प्रश्न है वहाँ तक तो किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए आदिकाल का प्रारम्भ आचार्य द्विवेदी 1000 ई0 से मानते हैं। हिन्दी साहित्य की लगभग 5,6 प्रतियाँ देखने पर आदिकाल की यही तिथि का खंडन "भूमिका" ओर हिन्दी साहित्य दोनों में कर देते हैं।

"आज से लगभग हजार वर्ष पहले हिन्दी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षो में भारतवर्ष का जन समुदाय क्या सोच समझ रहा था, इस बात की जानकारी का एकमात्र साधन हिन्दी साहित्य ही हे।[2]

दसवीं से चोदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोक भाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी के पूर्व रूप में ही उपलब्ध होता हे। यही कारण हे कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का प्रारम्भ स्वीकार करते हें। पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने सं0 1050 (993 ई0) से इसका आरम्भ माना हैं।[3]

भक्ति काल की आचार्य द्विवेदी कोई तिथि नहीं देते जबकि उसकी तिथि सर्वथा स्पष्ट हे। रीतिकाल की स्पष्ट तिथि नहीं दी गयी है। तिथि सम्बन्धी इस व्यतिक्रम की आशा उनके जेसे विद्वान ऐतिहासिक से नहीं की जा सकती

---

1. हिन्दी साहित्यः डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदीः पृ0 – 43–510
2. हिन्दी साहित्य की भूमिकाः आचार्य द्विवेदी : पृ0 – 1
3. हिन्दी साहित्य : डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ0 44

थी, परन्तु उनसे ऐसा हुआ है।

<u>अखरने वाली बातें:</u> हिन्दी साहित्य में कुछ अखरने वाली बातें भी हैं। "यह ग्रन्थ प्रधान रूप से विद्यार्थियों की दृष्टि से लिखा गया है अवएव गम्भीर साहित्य अध्ययन और मनन के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है यद्यपि द्विवेदी जी की प्रतिभा उसमें स्थान – स्थान पर दिखाई देती है। दूसरी बात जो पाठक को अधिक अखरती हैं वह यह है कि भूमिका के कुछ अंशों को हिन्दी साहित्य में ज्यों का त्यों दुहरा दिया गया है। तीसरी बात यह है कि ऐतिहासिकता का ख्याल कम रखा गया है।"[1] निर्गुण धारा के पश्चात सूफी काव्य की चर्चा होनी चाहिये थी। उसके उपरान्त रामकाव्य और तब कृष्ण काव्य विवेचन का विषय बनना चाहिए थी परन्तु ऐसा हुआ नहीं है। निर्गुण काव्य – धारा के पश्चात कृष्ण काव्य और तदुपरान्त रामकाव्य की चर्चा करने से साहित्य का ऐतिहासिक प्रवाह खंडित हुआ है चोथी बात प्रवृत्तियों के विवचन में तत्सम्बन्धी उदाहरणों की कमी सीधा ध्यान आकर्षित करती है। पाँचवी ओर अंतिम बात यह है कि आचार्य द्विवेदी ने **हिन्दी साहित्य** में कुछ अशुद्ध सूचनायें भी दी हैं।

<u>उपसंहार:</u> आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की महत्ता शुक्लेतर पद्धति अपनाने और साहित्य की परम्परा को अविच्छिन्न रूप में देखने के कारण है। हिन्दी साहित्य की भूमिका नवीन युग, नवीन दृष्टिकोण और नये साहित्यिक विश्वास की भूमिका है जो साहित्येतिहास–लेखन–क्षेत्र में एक नवीन परम्परा का सूत्रपात करती है। **हिन्दी साहित्य** के निवेदन में तो उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है "पुस्तक विद्यार्थियों की दृष्टि में रखकर लिखी गई है। इस स्पष्टीकरण के पश्चात यह आशा नहीं की जा सकती कि साहित्येतिहासकारों को यह सुझाने में अवश्य सफल हुआ है कि साहित्येतिहास लेखन की वह एक ही प्रणाली नहीं है, जिसे शुक्ल जी ने इतनी प्रभावोत्पादक ओर अपने ढंग से परिपूर्ण रीति से अपनाया था, यह दूसरी बात है कि इस सुझाव की संभावनाओं को हम आज भी देख, समझ न पाये।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन पृ0 सं0 189
2. साहित्य का इतिहास दर्शन : नलिन विलोचन शर्मा पृ0 95

"हिन्दी साहित्य के आदिकाल में उनका इतिहास दर्शन रूपायित हुआ हे और मध्यकालीन धर्म साधना तथा मध्यकालीन बोध अध्ययन की वही विशिष्ट दृष्टि ओर विस्तृत पीठिका प्रस्तुत करता है। अस्तु कहा जा सकता हे कि आचार्य द्विवेदी की सहजता ओर लोकचेतना तथा सामान्य मनुष्य बने रहने की शक्ति ने उन्हें वेज्ञानिक इतिहासकार बनाया है, इस तथ्य को जान लेने पर ही उनकी लोकवादिता सहजता ओर सामान्य बने रहने की प्रवृत्ति की सार्थकता समझ में आती हे।"[1]

कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य को देखने का आग्रह उस काल के मनुष्य की दृष्टि से देखने का आग्रह हे ओर उस काल के मनुष्य से मिली हे।

<u>चार खंड – इतिहास</u>: इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इसी प्रकार के चार खंड इतिहास निकले जिनमें साहित्य के पच्चीस, पचास अथवा सो वर्षो के काल को लेकर विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन वेज्ञानिक रीति से किया गया है। वे प्रकाशन तिथि के अनुसार निम्नांकित हे:

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य : डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णय : 1850 – 1900 ई0
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास: डॉ0 श्री कृष्ण लाल : 1900 – 1929 ई0
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णय : 1757 – 1857 ई0
4. हिन्दी साहित्य – डॉ0 भोलानाथ 1926 – 1947 ई0

<u>आधुनिक हिन्दी साहित्य</u>:

डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का इलाहाबाद से स्वीकृत शोध प्रबन्ध जिसमें उन्होंने 1850 से 1900 तक के पचास वर्षो के साहित्यिक विकास का आलोचनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया हे।

लेकिन इस आलोच्य कृति में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों ओर उनसे उत्पन्न होने वाले प्रभावों का विस्तृत विवेचन तो हे किन्तु

---

1. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप :पृ0 सं0 325

इस काल में रचनाकारों का केवल उल्लेख भर हुआ है उनका विस्तृत आलोचनात्मक अध्ययन कृति में नहीं हो पाया विस्तृत अध्ययन न होने से रचनाकारों के रचना सामर्थ्य अथवा अभी साहित्यिक प्रतिभा का उद्घाटन नहीं हो पाया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास :

डॉ0 श्रीलाल कृष्ण का यह शोध प्रबन्ध स्वीकृत शोध प्रबन्ध है जिसमें 1900 से 1925 तक के साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेकिन इस शोध प्रबन्ध में आलोच्य कालीन परिस्थितियों का वर्णन नहीं किया गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के साहित्य को समग्र रूप में कलात्मक उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि पर कोई मन्तव्य नहीं प्रस्तुत किया गया।

हिन्दी साहित्य :

डॉ0 भोलानाथ का शोध प्रबन्ध जिसमें 1926 से 1947 तक के हिन्दी साहित्य को प्रस्तुत किया गया है, लेकिन इस इतिहास में आलोच्य कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, परिस्थितियों से साहित्य का कार्य करण सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाता इनका विश्लेषण तो दूर परिचय ही नहीं दिया गया।

इतिहास लेखन की परम्परा वृहद् है रचनाकारों की सूची मात्र ही दे देना यहाँ पर्याप्त होगा – हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास – सम्पा0 राजवली पाण्डेय,

हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास – सम्पा0 डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास – सम्पा0 डॉ0 नगेन्द्र

हिन्दीसाहित्य का वृहद् इतिहास – सम्पा0 डॉ0 परशुराम चतुर्वेदी

हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – डॉ0 गणपति चन्द्रगुप्त

हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका – **डॉ0 शम्भू नाथ सिंह**

हिन्दी साहित्य का नया इतिहास – **डॉ0 रामखेलावन पाण्डेय।**

अन्य नामों में डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल, डॉ0 भगवती प्रसाद सिंह, डॉ0 सरला शुक्ला, डॉ0 सुमन राजे, डॉ0 वासुदेव सिंह, डॉ0 शिवकुमार मिश्र प्रमुख हें।

डॉ0 सुमनराजे का विचार है कि " आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पश्चात बहुत समय तक मोलिक इतिहास ग्रन्थ की सृष्टि नहीं हुई। xxxxx इतिहास का कलेवर तो वृद्धि को प्राप्त हुआ हे परन्तु उस विशिष्ट इतिहास दर्शन का अभाव हो गया हे, जो किसी संग्रह को इतिहास बनाने में समर्थ हें।"[1]

---

1. साहित्येतिहास : संरचना ओर स्वरूप पृ0 सं0 : 326

अध्याय – 4

आचार्य द्विवेदी की आदिकाल सम्बन्धी अवधारणा

ग्रियर्सन से पूर्व **भक्तमाल** चोरासी वेष्णवन की वार्ता, दो सो बावन वेष्णवन की वार्ता, आदि कतिपय कवि–वृत संग्रह लिखे गये थे, जिनमें काल–विभाजन ओर नामकरण की ओर कोई दृष्टि नहीं गयी थी। आधुनिक काल में फ्रांस के विद्वान **गार्सा द तासी** ने **इस्त्वार द ला लितरेत्युर एन्दुई ऐन्दुस्तानी** लिखा, इसमें भी काल विभाजन और नामकरण की आर कोई ध्यान नहीं दिया गया। **तासी** के पश्चात् मोलवी करीमुद्दीन ने **तजकिराई शुअराई – हिन्दी** नामक एक इतिहास लिखा, जिसमें प्रथम वार काल क्रम का तो ध्यान रखा गया, किन्तु काल विभाजन ओर नामकरण की कोई चेष्टा नहीं की गयी। हिन्दी के सबसे अधिक कवियों का परिचय प्रथम बार ठा0 शिवसिंह ने अपने **शिवसिंह सरोज** ग्रन्थ में प्रस्तुत किया, जिसमें अकरादि क्रम अपनाया गया, इसलिए एतिहासिक दृष्टि के अभाव के कारण काल–विभाजन एवं नामकरण की समस्या उसमें भी नहीं आ सकी। वस्तुत. काल–विभाजन करके नामकरण करने वाले प्रथम इतिहासकार डॉ0 ग्रियर्सन ही हैं। किन्तु उनका दिया हुआ, **चारण काल** नाम नितान्त अनुपयुक्त हे। इस काल का समय तो वे 643 ई0 तक पीछे ले गये हैं, किन्तु उस समय की किसी चारण–रचना या चारण–प्रवृत्ति की रचना का वे उल्लेख नहीं कर सके। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएं 1000 ई0 तक मिलती ही नहीं। ग्रियर्सन के पश्चात् मिश्र बन्धुओं ने अपने **मिश्र बन्धु –विनोद** में 643 ई0 से 1387 ई0 तक के आदिकाल को **प्रारम्भिक काल** नाम दिया, जो एक सामान्य संज्ञा हे, उसके पीछे किसी प्रवृत्ति आदि का आधार नहीं हे। उन्होंने अपने **विनोद** में प्रारम्भिक काल के पीछे हिन्दी **भाषा** को अवश्य ध्यान में रखा है, इसलिए अध्यायों के अन्तर्गत **पूर्व प्रारम्भिक** हिन्दी (643 ई0–1290 ई0) **चन्द–पूर्व की हिन्दी** (643 ई0–1143 ई0) रासा–काल (1143 ई0–1290 ई0) उत्तर आरम्भिक हिन्दी (1291 ई0 – 1387) आदि नाम दिये हैं, किन्तु इन नामों से भी आदिकाल की कोई उपयुक्त संज्ञा नहीं बनती।

मिश्र बन्धुओं के इतिहास के पश्चात् शुक्ल जी का इतिहास आदिकाल के लिए निम्नांकित आधार पर **वीरगाथा–काल** नाम लेकर उपस्थित हुआ–

"प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। --- अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तान्त्रिक और विक्रम मार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लगता है। मुंज और भोज के समय (सं0 1050) लगभग में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल सं0 1050 से 1375 अर्थात् महाराजा भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे माना जा सकता है। आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम 150 वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नही होता है – धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती हैं, इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जबसे मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तबसे हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बनती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रम पूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबन्ध परम्परा **रासो** के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने **वीरगाथा काल** कहा है।"[1]

पं0 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नामकरण इस काल की वीरगाथा प्रवृत्ति मूलक विशेष रचनाओं को लक्ष्य करके, वीरगाथा काल किया है। शुक्ल जी के नामकरण के सम्बन्ध में तीन बातें मुख्य हैं – पहली, इस काल में वीरगाथात्मक ग्रन्थों का प्राचुर्य, दूसरी अन्य ग्रन्थ जेन धर्म से सम्बन्धित होने के कारण नोटिस मात्र हें तथा साहित्य कोटि में आने वाली रचनाओं की है जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे हैं किन्तु जिनके अनुसार इस काल की कोई विशष प्रवृत्ति निधारित नहीं की जा सकती है। शुक्ल जी ने आदिकाल की बारह रचनाओं का अपने इतिहास में उल्लेख किया है, इनमें साहित्यिक पुस्तकें चार हैं, जिनकी भाषा अपभ्रंश है –

1. विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत सं0 1355)

---

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ0 सं0 4-5

1. हम्मीर रासो (शार्गंधर कृत सं0 1357)

3. कीर्तिलता

4. कीर्तिपताका (विद्यापति कृत सं0 1460)

5. खुमानरासो (दलपति विजय कृत सं0 1180)

6. बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह कृत सं0 1212)

7. पृथ्वीराज रासो (चन्दवरदाई कृत सं0 1225–1249)

8. जयचन्द्र प्रकाश (भट्टकेदार कृत सं0 1225)

9. जयमयंक – जस – चन्द्रिका (मधुकर कवि कृत सं0 1240)

10. परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप –जगनिक कृत सं0 1230)

11. खुसरो की पहलियाँ (अमीर खुसरो कृत 1350)

12. विद्यापति की पदावली (विद्यापति कृत सं0 1460)

आचार्य शुक्ल न इन्हीं पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का लक्षण निरूपण और नामकरण किया है, इनमें स अन्तिम दो तथा बीसल देव रासो को छोड़कर शष नो ग्रन्थ वीर गाथात्मक हैं, **इ**सलिए उन्होंने इस काल का नामकरण वीरगाथा काल किया है।

शुक्ल जी न मिश्र बन्धुओं द्वारा गिनाई गई आदि काल की दस पुस्तकों का उल्लख करत हुए उन्हें जैन धर्म से सम्बन्धित साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया है। इन ग्रन्थों क नाम हैं–

1. भगवत्‌गीता 2. वृद्धनवकार 3. वर्त्तमाल 4. संमतसर 5. पत्तलि 6. अनन्य याग 7. जम्बू स्वामी रासा 8. दवति गिरि रासा 9. नेमिनाथ चउपई 10. उवएस माला।

इन पुस्तकों क अतिरिक्त कुछ अन्य उत्कृष्ट अपभ्रंश भाषा की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनमें उच्च कोटि का साहित्य उपलब्ध होता है, शुक्ल जी की दृष्टि में ये पुस्तकें नहीं आई थी।

1. सन्दश रासक (कवि अद्दहमाण या अब्दुल रहमान कृत 11वीं श0)

2. वज्रस्वानि चरित्र (अप्रकाशित)

3. अन्तरंग सन्धि (अप्रकाशित)

4. चौरंग सन्धि (")

5. सुलसाख्यान (")

6. चच्चरी (")

7. भावनासार (जो इन्दुकृत)

8. परमात्मप्रकाश (")

9. योगसार (")

10. आराधना (अप्रकाशित)

11. मयणरेहा सन्धि (")

12. नयमासुन्दरि सन्धि (")

13. भविसयत्त कहा (धनपाल जैन कृत 10वीं श0)

14. पउमसिरी चरिउ (पुप्फयन्त या पुष्पदन्त कृत)

15. तिसट्ठीलक्खण – महापुराण (")

16. जसहर चरिउ (")

17. पउमचरिउ (स्वयम्भू कृत रामायण)

18. हरिवंश पुराण " महाभारत)

19. करकन्डु चरिउ (मुनि कनकामर 12 वीं शताब्दी)

20. सावयधम्म दोहा (देवसेन)

21. पाहुड दोहा (मुनिराम सिंह)

ऊपर जिन अपभ्रंश के काव्यग्रन्थों का उल्लेख किया गया है, उनमें कुछ रचनाएं उच्च काटि की हें ओर साहित्य कोटि में आ सकती हैं। इस सन्दर्भ में डॉ0 जयकिशन खण्डलवाल का मत हे कि "सन्देश रासक, स्वयंभू की रामायण, भविसयत्तकहा, पउमसिरीचरिउ इत्यादि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जो जैनाश्रय में रचित एवं रक्षित होकर भी एसी साहित्यिक विशेषताएं लिए हुए हैं कि उन्हें शुक्ल जी के अनुसार धर्म–सम्बन्धित होने पर भी साहित्य की कोटि से बाहर नहीं निकाला जा सकता है।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ0 सं0 – 31

इस प्रकार अपभ्रंश के काव्य ग्रन्थों की नवीन खोज एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन होने के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस काल का नामकरण उपयुक्त नहीं बेठता। खुमानरासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, विजयपाल रासो आदि ऐसी रचनाएं हैं जिनकी प्रमाणिकता में आज सन्देह किया जाने लगा है। श्री मोती लाल मेनारिया ने ऐतिहासिक आधार एवं ठोस खोजपूर्ण तर्कों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि खुमानरासो के रचयिता को रावल खुमाण (सं0 870) का समकालीन मानना गलत है। वास्तव में इसका रचनाकाल सं0 1730 से लेकर 1760 के मध्य तक है। बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को मोतीलाल मेनरिया ने गुजराती के नरपति (सं0 1545) नामक कवि से अभिन्न माना है। विजय पाल रासो मिश्र बन्धुओं ने सं0 1355 का ग्रन्थ माना है। भाषा ओर शेली पर विचार करने पर यह ग्रन्थ भी परिवर्ती की रचना प्रतीत होता है। **जयचन्द – प्रकाश**, **जयमयंक – जस चन्द्रिका**, नोटिस मात्र हैं. ये दोनों पुस्तकें अप्राप्त हैं। **पृथ्वीराज रासो** की ऐतिहासिकता में बड़े-बड़े विद्वानों ने अनेक त्रुटियां निकाली है, इसकी प्रमाणिकता की चर्चा आगे विस्तार से करेंगे, यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस ग्रन्थ में बहुत से अंश प्रक्षिप्त हैं एवं अर्द्ध ऐतिहासिक रचना है। **परमाल रासो** भी अपने मूल रूप से बहुत दूर हट गया है. जगनिक का आल्हाखण्ड इतना बदल गया है कि उसके मूल रूप को खोज निकालना बहुत कठिन है। **अमीर खुसरो** की पहेलियों में प्रारम्भिक हिन्दी का सुन्दर रूप मिलता है किन्तु खुसरो के नाम पर भी बहुत बहुत सी पहलियाँ जोड़ दी गई, दूसरे, खुसरो की पहेलियों से वीरगाया-काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्यापति की पदावली का विषय राधा तथा अन्य गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेमलीला है, कीर्तिलता में विद्यापति ने अपने प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्ति सिंह की कीर्ति का गुण – कथन किया है। कीर्तिपताका में मेथिली का ग्रन्थ है, इसमें प्रेम सम्बन्धी कविता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान ज्ञान के आलोक एवं खोजों के आधार पर शुक्ल जी द्वारा किया हुआ आदिकाल का नामकरण उपयुक्त नहीं ठहरता है। उन्होंने जिन 12 ग्रन्थों का आदिकाल के लक्षण – निरूपण एवं नामकरण के लिए चुना, तथा उन 12 ग्रन्थों में वीरगाया की प्रमुखता दिखलाई, उनमें से अधिकांश ग्रन्थ सन्दिग्ध एवं अप्रमाणिक हैं।

राहुल जी का नामकरण – सिद्ध सामन्त युग :–

महापण्डित राहुल जी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल की साहित्य सामग्री का विवेचन करके उसमें दो प्रवृत्तियों की प्रमुखता देखकर इस काल का नामकरण, **सिद्ध सामन्त युग** किया है। उन्होंने आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के काव्य में दो प्रमुख भाव पाए हैं –

1. **सिद्धों की वाणी** :– इसके अन्तर्गत बौद्ध तथा नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष तथा उपदेशमूलक और हठयोग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएं आती हैं। इसके अन्तर्गत धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित कुछ उत्कृष्ट जैन धर्मावलम्बी कवियों की रचनाएं नहीं आती।

2. **सामन्तों की स्तुति** :– इसके अन्तर्गत चारण कवियों के चरित काव्य (रासो ग्रन्थ) आते हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा एवं सामन्तों की स्तुति के लिए युद्ध, विवाह इत्यादि के प्रसंगों का बढ़ा–चढ़ाकर वर्णन किया है।

राहुल जी के नामकरण से लौकिक रस से अनुप्राणित महत्त्वपूर्ण रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता। इस नामकरण को स्वीकार करने से हमारे साहित्य की प्रवृत्तियों का निरूपण भली–भाँति नहीं हो सकता। सन्देशरासक, विद्यापति की पदावली, पउमचरिउ (रामायण) इत्यादि अनेक ग्रन्थों, जिनकी प्रवृत्तियों का विकास परवर्ती साहित्य में हुआ था, का नामकरण से संकेत नहीं मिलता।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का नामकरण–बीज–वपन–काल

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का लक्षण विवेचन करके इसका नाम **बीज–वपन–काल** रखा। किन्तु यह नाम निश्चय ही उपयुक्त नहीं है, जैसा कि प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल आदिकाल नहीं है। यह तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है। हाँ, हिन्दी भाषा की दृष्टि से यह काल आदिकाल है, य हिन्दी भाषा में उच्च साहित्यिक प्रयत्नों का प्रारम्भ है।

डॉ0 रामकुमार वर्मा ने आदिकाल को संधिकाल और चारण काल– इन दो खण्डों में विभाजित कर दिया है। प्रथम काल भाषा की ओर संकेत करता है और द्वितीय नाम एक वर्ग का बोध कराता है। स्पष्ठ है कि ये दो नाम मिलकर भी किसी प्रवृत्ति का आधार नहीं बनाते हैं, अतः नामकरण के सम्वन्ध में उनका मत निराधार है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का नामकरण – आदिकाल:

कुछ आलोचकों को इस काल का नाम **आदिकाल** ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, इनमें प्रसिद्ध विद्वान डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम ही विशेष महत्त्व का है। द्विवेदी जी ने आदि काल के काव्य–रूपों के उद्‌भव एवं विकास की कहानी बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद् के सम्मुख मार्च सन् 1952 में सुनाई थी जिसका पुस्तकाकार रूप **हिन्दी साहित्य का आदिकाल** प्रकाशित हुआ। इस कहानी के सुनने एवं पढ़ने के पश्चात् हिन्दी साहित्य के आदिकाल का अन्धकार मय प्रकोष्ठ आलोकमय हो गया। आदिकाल नामकरण की एक भ्रामक धारणा की सम्भावना करके आचार्य डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवदी ने लिखा है, "वस्तुतः हिन्दी का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और अदिम मनोभावापन्न परम्परा विनिर्मुक्त काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है, यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी रूढ़ि ग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।" और आगे द्विवेदी जी लिखते हैं, "यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का बढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य रूप अंकुरित हुए हैं।"[1]

आचार्य द्विवदी ने **आदिकाल** को **वीरगाथाकाल** कहने में अपना मतभेद इस प्रकार प्रकट किया है – वस्तुतः किसी काल प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्त ग्रन्थों की संख्या द्वारा नहीं निर्णीत हो सकता, बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है, प्रभाव उत्पादक और प्रेरणा संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। ग्रन्थों की प्रचुरता और ग्रन्थों की प्रसिद्धि को काल प्रवृत्ति का निर्णायक मानने से लेखक पाठक का सम्बन्ध प्रकट

होता है, समाज के स्वरूप और साहित्य के स्वरूप का व्यापक सम्बन्ध नहीं। द्विवेदी जी ने वीरगाथाकाल से अपना मतभेद प्रकट करते हुए राहुल जी द्वारा सुझाये नाम **सिद्ध सामन्त** युग को उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति को बहुत दूर तक स्पष्ट करने वाला माना है।

आदिकाल के नामकरण से जुड़ी हुई समस्या उस काल की रचनाओं के स्वरूप पर विचार करने के लिए है। द्विवेदी जी लिखते हैं कि इस काल में दो प्रकार की रचनाएं मिलती हैं – राज स्तुति परक, ऐहिकता मूलक शृंगारी काव्य और नाथ सिद्धों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़फटकार, अक्खड़तापना, सहजशून्य की साधना योग पद्धति से भरी तथा भक्तिमूलक रचनाएं। द्विवेदी जी ने इन दो प्रकार की रचनाओं को दो जातियों–पश्चिमी प्रदेशों के आर्य और पूर्वी प्रदशों के आर्य की रचनाएं मानते हैं। **आदि** साहित्य का परिचय इन रचनाओं से मिलता है, इसी कारण सम्भवतः द्विवेदी जी **आदिकाल** नाम देते हैं। आलोचकों ने **आदि** साहित्य की बात कहने पर द्विवेदी जी की आलोचना की, लेकिन उनके द्वारा सुझाए नाम **आदिकाल** को स्वीकार कर लेते हैं।

द्विवेदी जी ऐतिहासिक काव्यों को संस्कृत की कथा और आख्यायिका की परम्परा से जोड़कर देखते हैं और इस काल के लोकप्रचलित काव्य रूपों के रचनात्मक उपयोग पर भी विचार करते हैं, इस तरह साहित्य की व्यापकता को लेकर विवेचन करने वाले तथा उसी आधार पर नामकरण करने वाले द्विवेदी जी प्रथम इतिहासकार हैं।

आदिकाल का काल विभाजन – आचार्य–शुक्ल संवत् 1050 से इसका आरम्भ मानते हैं जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी **हिन्दी साहित्य** में सन् 1000–1400 ई0 मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य हे कि आज से लगभग हजार वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य बनना शुरू हुआ था, इन हजार वर्षों में भारतवर्ष का जन समुदाय क्या सोंच–समझ रहा था, इस बात की जानकारी का एक मात्र साधन हिन्दी साहित्य।

दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोक भाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी के पूर्व रूप के रूप में ही उपलब्ध होता है।

यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का प्रारम्भ मानते हैं। तमाम आलोचक आचार्य द्विवेदी द्वारा किए गये काल विभाजन को ज्यादा सटीक उपपुक्त मानते हैं। आगे इतिहास लिखने वाले लेखकों ने द्विवेदी जी के काल विभाजन को अधिक महत्त्व दिया है।

राजनीतिक स्थितिः –

आदिकाल के इस युद्ध प्रभावित जीवन में कहीं भी सन्तुलन नहीं था। जनता पर विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारों के साथ–साथ युद्धकामी देशी राजाओं के अत्याचारों का क्रम भी बढ़ता चला गया। वे परस्पर लड़ने लगे और प्रजा पीड़ित होने लगी। पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द, परमर्दिदेव आदि की पारस्परिक लड़ाइयाँ अन्तहीन कथायें बनती गयीं। फलतः यदि जनता में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो साहस और वीरता के साथ लड़ते हुए जीना चाहता था, तो एक दूसरा ऐसा वर्ग भी पनपा जो विनाश लीला देख–देखकर संसारेतर बातें सोचने को बाध्य था। अराजकता, गृह–कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बात करता था तो दूसरा मरते–मरते भी जीवन का रस भोग लेना चाहता था। एक तीसरा भी कवि था जो तलवार के गीत गाकर गौरव के साथ जीना चाहता था। यही इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों की विचित्र देन है जिसके फलस्वरूप यदि स्त्रीभोग हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, लड़ते–लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य रचना के मूल में सन्निहित हुयी। सम्राट हर्षवर्धन का दरबार संस्कृत के कवियों और पण्डितों से भरा रहता था अपभ्रंश और जनभाषा के कवियों को उस समय कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था किन्तु राजपूतों की राजधानियाँ स्थापित हो जाने के बाद लोक भाषा का आदर बढ़ने लगा। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – "वे बाहर से बुला–बुलाकर अनेक ब्राह्मण वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे संस्कृत को उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० सं० – 37

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी आदिकाल की राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि – "कान्यकुब्ज के प्रतीहार राजा राज्यपाल ने जब महमूद गजनवी को आत्मसमपर्ण किया तो अधीनस्थ राजपूत रजवाड़े बिगड़े, खड़े हुए और उसे मार डाला। उन्होंने उसके पुत्र को गद्दी पर बैठा तो दिया, लेकिन वस्तुतः दिल्ली और सांभर के चौहान और कालिंजर के चन्देल स्वतन्त्र राजा हो गये। राजशक्ति क्षीण और हतवीर्य हो गयी। इसी समय काशी और कान्यकुब्ज पर गाहड़वार वंश का राज्य स्थापित हुआ। लगभग दो सौ वर्षो से पश्चिम के सोलंकी और पूर्व के पालवंशी राजा लोग कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे थे। अब साँभर के चौहान कालिंजर के चन्देल और गजनी के अमीरों ने भी कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी को हड़प लेने का प्रयत्न शुरू किया। इस बात का प्रमाण उपलब्ध हे कि दसवीं शताब्दी में त्रिपुर (तेवार) के राजा कर्ण ने काशी को अपनी राजधानी बनाना चाहा, और उसने चम्पारन तक समूचे सरयूपार के इलाके को हस्तगत कर लिया था। गोरखपुर जिले में इसके कई दान–पत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार काशी कान्यकुब्ज के अधिपतियों को पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन सब ओर शत्रुओं का सामना करना पड़ता था। गाहड़बारों में गोविन्द्र चन्द्र बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने अपने अभिलेखों में अपने को 'गौड़ो की दुर्वार गज सेना का कुम्भ विदीर्ण करने वाला' कहा है और यह भी लिखा है कि वह गजनी के अमीरों को नित्य लड़ाई के खेल खिलाया करता था। गोविन्द चन्द्र ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि उत्तरी भारत के विशाल मैदान का शासक वही हो सकता है जिसके पास घाड़ों की सुशिक्षित सेना हो। इसीलिए उसने गर्वपूर्ण घोषणा की है, कि 'मैं उस पृथ्वी का भोग करता हूँ जो निरन्तर दोड़ते हुए घोड़ों की टाप की मुद्रा से मुद्रित होती रहती है। इसीलिए वह अपने काल का अश्वपति राजा कहलाता था। इसी प्रकार गोड़ के शासक अपने को गणपति और कलिंग के शासक नरपति कहते थे। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने **पद्मावत्** में अश्वपति, गजपति और नरपति नामक तीन राजाओं की चर्चा की हे जो इसी काल की परम्परा का अवशेष जान पड़ता है। बारहवीं शताब्दी के बाद अभिलेखों में यह शब्द नहीं मिलते। सिर्फ जायसी **पद्मावत** में ही यह शब्द सुरक्षित रह गये। यह तथ्य सम्भवतः बताता है कि जायसी ने अपने काव्य

के लिए जिस कहानी का उपयोग किया था, वह कम से कम चार सौ वर्ष पुरानी अवश्य थी।"[1]

राजा परमर्दी या परमाल था जिसने 1165 ई0 से 1203 ई0 तक राज्य किया। इसी के दरबार में वणाफर कुल के प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल थे। पृथ्वीराज से परमर्दी का युद्ध हुआ था जिसका वर्णन जगनिक के महोबा खण्ड में हुआ है। इसमें परमर्दी हार गया और आल्हा ऊदल काम आये। पृथ्वीराज ने महोबे में अपने प्रसिद्ध सरदार पज्जून को रखा। पृथ्वीराज का एक लेख मदनपुर में प्राप्त हुआ है। जिसस इस घटना की ऐतिहासिकता प्रमाणिक होती है। लेकिन इस युद्ध में हारने के बाद भी परमर्दी जीवित था और शक्तिशाली भी बना रहा। सन् 1203 ई0 में वह कुतुबुद्दीन से लड़ा था। पृथ्वीराज से उसकी लड़ाइ 1182 ई0 में हुई थी। उस समय इस महाप्रतापी राजा का बल टूटा होगा और वह आसानी से आगे चलकर मुसलमानों क हाथ पराजित हो सका होगा।"[2]

<u>धार्मिक स्थिति</u>:- ईसा की छठी शताब्दी तक देश का धार्मिक वातावरण शान्त था। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर मेलजोल बढ़ने लगा। वेदिक यज्ञ, मूर्ति-पूजा तथा जेन एवं बोद्ध उपासना पद्धतियाँ एक साथ चल रही थीं। किन्तु सातवीं शताब्दी क साथ देश की धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन आरम्भ हुआ। इस समय आलमवार और नायमवार सन्त दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर एक धार्मिक आन्दोलन लाये। 642 ई0 में जब ह्वेनसाँग ने दक्षिणभारत की यात्रा की तो वहाँ बोद्ध धर्म के पतन की झलक पाकर वह बहुत दुःखी हुआ था। उत्तर भारत में भी इस समय यह प्रभाव आ रहा था। वेष्णव मत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था; अतः जनता में या तो जेन मत सम्मान पा रहा था या शेव मत। फल यह हुआ कि शैव और जेन मत आगे बढ़ने की होड़ में परस्पर टकराने लगे थे। बारहवीं शताब्दी तक वेष्णव आन्दोलन तीव्र होने लगा था और शेव आन्दोलन ने भी नया रूप ले लिया था। फलतः जेन मत के प्रचारकों की शक्ति घटने लगी थी। राजपूत राजा अहिंसा मूलक मतों में विश्वास नहीं करते थे। उन पर शेव मत का प्रभाव अधिक था। मध्य

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली - 3पृ0 सं0 - 283 -284
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - ग्रन्थावली भाग -3 पृ0 सं0 584

प्रदेश के गाहड़वार राजा स्मार्त थे तथा मालवा के राजा वैदिक धर्म के समर्थक थे। गंगा और नर्मदा के अन्तराल में कलचुरि वंश शैव मत के प्रचार में लगा हुआ था। इसी वंश के प्रतापी राजा कर्ण के प्रभाव से काशी शैव – साधना का केन्द्र बनी हुई थी। धीरे–धीरे स्मार्तमतानुयायी जनता भी शैव होती जा रही थी। वस्तुतः समस्त उत्तर भारत में धीरे–धीरे शैव मत बौद्ध जनता भी शैव होती जा रही थी। वस्तुतः समस्त उत्तर भारत में धीरे–धीरे शैव मत बौद्ध एवं स्मार्त प्रभावों को स्वीकार करता हुआ एक नया रूप लेने लगा था। नाथ मत का उदय इसी रूप से हुआ। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, "हिमालय के पाद–देश में प्रचलित नाथ–पूजा बोद्ध–धर्म को प्रभावित करके वज़्रयान शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने धार्मिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गाहड़वारों के शासनकाल में समूचा हिन्दी–भाषा क्षेत्र स्मार्त मतानुयायी था। इनका प्रभाव जब क्षीण हो गया ओर अजमेर, कालिंजर आदि अधीनस्थ प्रातों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए तब भी स्मार्त मत ही प्रबल रहा। उस समय शैव मत का भी बड़ा प्रभाव था। सिद्धियों की महिमा प्रतिष्ठित हो गयी थी। शैव मतानुयायी नाथ योगियों, रशेश्वरमत के मानने वाल रस सिद्धों और मन्त्र–तन्त्र में विश्वास करने वाले शाक्त–साधकों का इन क्षेत्रों मे बड़ा जोर था। उन दिनों के साहित्य में इनकी बड़ी चर्चा आती है। परन्तु जेनों की भाँति इन शैव साधकों के संगठित मत नहीं थे। और देशी भाषा पर विशेष अनुराग भी नहीं था। फिर इनके उपदेश में साधारण जनता के सम्बन्ध में बड़ी अवज्ञा का भाव है। वे इन अधम जीवों को भय ही दिखाते थे। चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भरमते रहने वाल, काम क्रोध के कीड़े, मायापंक में आपाद–मस्तक डूबे हुए, अज्ञानी जीव केवल घृणा करन और तरस खाने के पात्र माने जाते थे। गृहस्थ इन योगियों से डरता था। इब्नबतूता ने ग्वालियर–कालिंजर में योगियों को देखा था। उन दिनों लोग इनसे भयभीत थे, क्योकि उनका विश्वास था कि ये आदमियों को खा जाते हैं। इस प्रकार जनता के प्रति अवज्ञा ओर घृणा का भाव रखने वाले लोग लोक भाषा में कुछ लिखते भी हों तो वह लोक मनोहर हो नहीं सकता।[1]

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ0 सं0 586, ग्रन्थावली भाग–3

ग्यारहवीं शताव्दी के आरम्भ में कलचुरिवंश के राजा लोग परमशैव थे। युवराज देव क राज्य में पाशुपतों के काल मुख सम्प्रदाय का बड़ा मान था। युवराजदेव ने रींवा के पास स्थित गोरगी (गोलगिरि, गोलकी) नामक स्थान पर एक विशाल शैव मठ की स्थापना कराई थी जिसकी शाखा सुदूर दक्षिण तक फैली हुई थी। मद्रास प्रान्त के मलकापुरम् ग्राम के एक शिलालेख से पता चलता है कि गंगा और नर्मदा के अन्तराल में डाहल देश (वर्तमान बुन्देल खण्ड) है। उसमें सद्भावशम्भु नाम के शैव साधु थे, जिन्हें कलचुरि राजा युवराजदेव ने तीन लाख गाँवों का एक प्रदेश भिक्षा में दिया था। उसी में गालकी या गोलगिरि मठ की स्थापना हुई थी। इस मठ के माध्यम से दक्षिण ओर उत्तर के शैव मतों में सम्बन्ध स्थापित हुआ था। कहते हैं त्रिपुरी के पास जो चौसठ योगनियों का मन्दिर है वह भी किसी समय इसी मठ की शाखा रहा होगा।[1]

<u>सामाजिक स्थिति</u> :- पूर्वाक्त राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक परिस्थितियां पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। युद्धों के समय उसे बुरी तरह पीसा जा रहा था। वह ईश्वर की ओर दौड़ती थी तो सर्वत्र भ्रम और सहायता की स्थिति मिलती थी। जाति - पाँति के बन्धन कड़े होते जा रहे थे। उच्च वर्ग के लोग भोग करने के लिए थे तथा निम्न वर्ग के लोग मानो श्रम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी भी भोग्या मात्र रह गयी थी। वह क्रय क्रिय एवं अपहरण की वस्तु बनती जा रही थी। सामान्य जन के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नही थी। साम्प्रदायिक तनाव बढ़ने के कारण साहित्य और शास्त्र का ज्ञान सामान्य जाति की नारियां तथा पुरुषों के लिए अप्राप्य बना दिया गया था। सती प्रथा भी इस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। फलतः सामान्य जाति की नारी के लिए पुरुष का जीवन और मृत्यु दोनो ही भयंकर घटना बन जाते थे। अनेक प्रकार के अन्ध विश्वास बढ़ते जा रहे थे। साधु सँन्यासियों के श्रापों और वरदानों की ओर लोगों की दृष्टि रहने लगी थी। योगियों का गृहस्थों पर भयंकर आतंक छाया हुआ था। जीवन यापन के साधन दुर्लभ होते जा रहे थे तथा निर्धनता सदा घेरे रहती थी। भाँति-भाँति के पूजा-पाठ, तन्त्र-मन्त्र तथा जप-तप

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 सं0-586-588 ग्रन्थावली भाग-3

करके भी लोग दुर्भिक्ष, युद्ध तथा महामारियों से संकट नही टाल पाते थे। सामाजिक परिस्थिति की इस विषमता में जीने वाली जनता के भाव स्तर पर निरन्तर ऐसे विचारों की प्यासी रहती थी, जो उसे सान्त्वना देकर मानसिक शान्ति की ओर बढ़ा सके। हिन्दी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य–रचना की सामग्री जुटानी पड़ी।

डॉ हजारी प्रसाद ने सामाजिक स्थिति के विषय में लिखा है कि –ऐतिहासिक कारणों के दबाव से जातिशुद्ध गृहस्थ की प्रधान चिन्ता की बात बन गई थी, परिणाम स्वरूप मेदान में जातियों ओर उपजातियों का बोलबाला बढ़ता गया। विदेशी और विजातीय संस्कृति के दबाव से हिन्दुओं में एक तरफ जिस प्रकार जातिशुद्ध पर ध्यान दिया जाने लगा था, उसी प्रकार आपस के धार्मिक खिचाव को कम किया जाने लगा और उदार आचार प्रधान स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार जाति–पाँति की ओर से कठोर, आचार पालन में दृढ़ और पूजा–उपासना में सहिष्णुता तथा उदार हिन्दू धर्म का आविर्भाव हुआ। फिर नवागत ओर नवोत्कर्ष प्राप्त जातियाँ अपने उच्च कुल को, साधारण जनता से अपनी विशिष्टता को ओर अत्यन्त पुरानी परम्परा के कल्पित दावों कोजितने ही दृढ़ कण्ठ से उद्घोषित करती गई, उतनी ही कठोरता से साधारण जनता ने अपनी पुरानी परम्परा की स्मृति बचा रखने का प्रयास किया। आर्थिक ओर राजनीतिक कारणों से उन्हें सर्वत्र सफलता नहीं मिली, पर प्रवृत्ति अधिकाधिक वंशशुद्धि की रक्षा ओर आचार पालन की कठोरता की ओर बढ़ती गई।[1]

<u>सांस्कृतिक स्थिति</u> :– हिन्दी साहित्य का आदिकाल उस समय आरम्भ हुआ जब भारतीय संस्कृति उत्कर्ष के चरम शिखर पर आरूढ़ हो चुकी थी, और जब उसने भक्ति काल को अपना दायित्व सोंपा, उस समय भारत में मुस्लिम संस्कृति के स्वर्ण–शिखर स्थापित होने लगे थे। इस प्रकार आदिकाल को सांस्कृतियों के संक्रमण ओर ह्रास–विकास की की गाथा कहा जा सकता है। भारत में मुस्लिम संस्कृति के परिवेश के समय यहाँ की विभिन्न जातियों मतों आचारों–विचारों आदि में दीर्घकाल से चली आती हुई समन्वय की एक व्यापक प्रक्रिया पूर्णतः को पहुँच रही थी। हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ0 सं0–591 ग्रन्थावली – 3

ने हिन्दू धर्म ओर संस्कृति को राष्ट्रव्यापी एकता का आधार दिया था। इस आधार पर छोटे–मोटे भेद–भाव अस्त हो गये थे तथा स्वाधीनता एवं देशभक्ति के भाव दृढ़ होने लगे थे। संगीत, चित्र, मूर्ति स्थापत्य आदि कलाओं में जातीय गोरव की भावना अभिव्यक्ति हो रही थी। स्थापत्य के क्षेत्र में विशेषतः मन्दिरों का निर्माण धार्मिक सद्भाव का द्योतक था। भुवनेश्वर, खजुराहो, पुरी सोमनाथपुर, बेलोर, काँची तंजोर आदि स्थानों पर अपनक भत्य मन्दिर आदिकाल के आरम्भ के समय ही बनाये गये थे। आबू का जेन मन्दिर, जो भारतीय स्थापत्य का बेजोड़ नमूना हे, ग्यारहवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है। इस शताब्दी तक हर हिन्दू के लिए उसका समस्त जीवन धार्मिक कर्त्तव्यों का प्रतिरूप था। उसका समस्त चरित्र धर्म–भावना स प्रेरित रहता था। .संगीत, मूर्ति चित्र आदि कलाओं में भी वह अपनी धार्मिकता की ही अभिव्यंजना करता था। अरब इतिहासकार अलबरूनी भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति दखकर चकित रह गया था। उसने लिखा हे, "वे (हिन्दू) कला क अत्यन्त उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं। हमार लोग (मुसलमान) जब उन्हें (मन्दिर आदि को) दखते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। व न तो उनका वर्णन कर सकते हैं न वेसा निर्माण ही कर सकते हैं।"

<u>साहित्यिक स्थिति</u> :– इस काल में साहित्य–रचना की तीन धारायें बह रही थीं। प्रथम धारा संस्कृत–साहित्य की थी जो कि एक परम्परा के साथ विकसित होती जा रही थी।. दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नोज एवं कश्मीर संस्कृत–साहित्य–रचना के केन्द्र रहे ओर इसी बीच अनेक आचार्य, कवि, नाटककार तथा गद्य–लेखक उत्पन्न हुए। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ, भवभूति, श्री हर्ष तथा जयदेव इसी युग की देन है। इसी काल में शंकर, कुमारिलभट्ट, भास्कर रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश का श्रेष्ठ साहित्य भी प्रभूत मात्रा में इसी युग में लिखा गया। जेन आचार्यों ने मध्यप्रदेश के पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र में रहकर संस्कृत के पुराणों को नये रूपों में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी रचनाओं

के लिए प्राकृत अपभ्रंश के साथ पुरानी हिन्दी को भी माध्यम बनाया। इसी प्रकार पूर्वी सीमान्त पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोक–भाषा हिन्दी को रचनाओं में प्रयुक्त किया। इस काल का साहित्य स्पष्टतः राजा, धर्म और लोक के तीन आश्रयों में विभाजित हो चुका था। इनकी भाषाएं भी प्रायः निश्चित हो चुकी थीं। संस्कृत प्रधानतः राज–प्रवृत्ति को सूचित करती थी, अपभ्रंश धर्म की भाषा बन गयी थी तथा **हिन्दी** जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं को प्रतिनिधित्व कर रही थी। संस्कृत के कवियों एवं लेखकों को तत्कालीन परिस्थितियाँ अधिक प्रभावित नहीं करती थीं। वे काव्य और शास्त्र के विनोद में ही अपनी रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग कर रहे थे। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि एवं लेखक धर्म–प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य तत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। केवल हिन्दी ही इस काल की ऐसी भाषा थी, जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्यिक स्थिति के विषय में लिखा है कि, "दसवीं से चोदहवीं शताब्दी तक के समय में लोकभाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ हे उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखायी देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था, परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकच्छत्र राज्य था। चोदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है। वस्तुतः छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है। इसलिए दसवीं से चोदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोक भाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दी की आधुनिक बोलियों में से किसी–किसी के पूर्व रूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है। इस काल में दो प्रकार की रचनाएं प्राप्त हुयी हैं, एक

तो जेन भाण्डारों में सुरक्षित और अधिकाँश में जैन प्रभावपन्न परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएं हैं, और दूसरी लोक-परम्परा में बहती हुई आने वाली और मूल रूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुयी लोकभाषा की रचनाएं। प्रथम श्रेणी में हेमचन्द्र के व्याकरण मेरुतंग के **प्रबन्धचिन्तामणि** राजशेखर के **प्रबन्धकोश** आदि में संग्रहीत दोहे, अब्दुर्रहमान का **'सन्देशरसक'** तथा लक्ष्मीधर के **प्राकृत पैंगलम्** में उदाहृत लोकभाषा के छन्द है। इनको हम प्रामाणिक रचना कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी में **पृथ्वीराज रासो** और **परमाल रासो** आदि रचनायें हैं जिनके मूल रूप बहुत परिवर्तित और विकृत हो गये हैं।"[1]

<u>प्रवृत्तियाँ</u> :- हर्षवर्धन के उपरान्त केन्द्रीय शासन टूट चुका था और खण्डों के स्वतन्त्र राजा प्रायः आपस में लड़ा करते थे। बीच-बीच में मुसलमानों के आक्रमण होते रहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक युग आन्तरिक अशान्ति एवं बाह्य आक्रमण से त्रस्त युग था तथा अन्य क्षेत्रों में भी देश अवनति की ओर बढ़ रहा था। इस युग के वातावरण में युद्ध प्रिय वीर राजपूत अपनी स्तुति सुनना चाहते थे। उन्हें अन्य राजकीय गुणों को विकसित करने के लिए अवकाश ही कहाँ था। आचार्य डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस युग के वातावरण का चित्रण इन शब्दों में किया है - "लड़नेवालों की संख्या कम थी, क्योंकि लड़ाई भी जाति-विशेष का पेशा मान ली गयी थी। देश-रक्षा के लिए या धर्म-रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों में तथा सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था, क्योंकि उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था - हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का अविष्कार।" इस प्रकार चारणों का ध्यान वीरगाथाओं की सृष्टि में लगना सहज एवं स्वाभाविक था। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाई में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी-ग्रन्थावली-पृ0 सं0 282-83

प्रधान रूप में व्याप्त रहती है उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज सुनाई देती है। वीरत्व के नये स्वर की गूँज से आपूरित वीगाथात्मक चरितकाव्यों की प्रमुख विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार हैं –

1. <u>आश्रयदाता राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा</u>:– उनमें आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा एवं राष्ट्रीय भावना का अभाव है। उस समय छोटे–छोटे राजा परस्पर झगड़ते रहते थे और उनमें केन्द्रीय शक्ति को हथियाने की होड़ लगी थी। इस प्रकार उनके आश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह के साथ किया है किन्तु उनमें राष्ट्रीय भावना का पूर्णतया अभाव ही रहा है। आचार्य हजारी प्रसाद के शब्दों में, "उदार और सरल दानवीर की महिमा बखानने के लिए कवियों की भाषा यदि मुखर हो उठी तो इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है। बीसलदेव का विरुद जगडू के दान पर अवलम्बित था –

वीसल दे विरुअं करइ जगडु कहावइ जी।
तुउ परीलउ फालिसउ एउ परीसइ घी।।

किसी कवि या याचक की उक्ति है कि बीसलदेव तो केवल विरुद धारणा करता हे या यश कमाता हे ओर जगडू से जी कहवाता है। किन्तु हे बीसलदेव, तुम तो रूखी (फालिस–परुष) परसते हो और वह घी परसता है।[1]

2. <u>युद्धों के सुन्दर एवं सजीव वर्णन</u>: – कर्कश पदावली के बीच में वीर भावों से भरी हुई हिन्दी के आदिकाल की वीरगाथाएं सारे हिन्दी साहित्य में अपना सानी नहीं रखतीं। दोनों ओर की सेनाओं के एकत्र होने पर युद्ध के साज–बाज तथा आक्रमण की रीतियों का जेसा वर्णन इस युग के कवियों ने किया, वेसा परवर्ती कवियों में देखने को नहीं मिलता। उनकी **वीर वचनावली** में शस्त्रों की झंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती हे, और उनके युद्ध–वर्णन के सजीव चित्र वीर हृदयों में अब भी उल्लास उत्पन्न करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद के शब्दों में –

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवदी, पृ0 सं0 – 584

रे गोउ धक्कन्ति ते हत्थि जुहाइ। पल्लट्टिट जुज्झनित पाइक्क बूहाइं।

कासीसु राआ सरासार अग्गेण। की हत्थि की पन्ति की वीरवग्गेण।।

(अरे गौड़ (देश के राजा)! तेरे हाथियों यूथ थक गये हैं पदातिक सेना के व्यूह पलटकर जूझ रहे हैं। जब काशी के राजा के बाणों की वर्षा होने लगती है तब कोई भी क्या हाथी क्या पेदल सेना ओर वीरवर्ग–सामने नहीं डट सकता।)

राअट दिग लग्गंता, परिहर हअ गअ घर धरिणी।

लोरहि भर सखरु पअ अरु परिकरु लोट्टइ पिट्टर तणु धरणी।।

पुणु उट्ठई संभलि करुंद तुंगलि बाल तनअ कर जमल करे।

कासीसरु राजा राहुल काआ, करु माआ पुणु यघि घरे।।[1]

जुल्झ भट भूमि पड़, उट्ठि पुण लग्गिआ।

सग्ग मण खग्ग हण का इणहिं भग्गिआ।।

वीस सर तिक्ख कर कराण गुण अथिया।

पत्थ तइ जालि दह चाउ सइ रुघिया।।

भट्ट जूझते हैं, भूमि पर गिरते हैं और फिर उठकर भिड़ जाते हैं। स्वर्ग की ओर मन लगा है। खड्ड की मार से कोई भाग नहीं रहा है। इसी समय कर्ण ने अपने धनुष पर बीस वाण चढ़ाये ओर पार्थ की भाँति चाव के साथ दस धनुष और उन पर चढ़े वाणों को काट दिया।[2]

3. **वीर और शृंगार का समन्वय** :– वीरत्व का नया स्वर शृंगार से पोषित है। उस समय स्त्रियाँ ही प्रायः पारस्परिक वेमनस्य का कारण हुआ करती थीं। इस कारण वीरगाथाओं में उनके रूप का वर्णन करना कवियों का अभीष्ट था; इसीलिए कभी–कभी तो वीरगाथाओं की शोभा बढ़ाने के लिए कवि अपने चरित–नायक के विवाह एवं रोमांस की कल्पना कर लेते थे। युद्ध के समय ही नहीं, शान्ति के समय भी वीरों के विलास–प्रदर्शन में भी शृंगार का बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है।

वीरगाथाओं की तीसरी विशेषता, स्त्रियों का भी वीर रस के आश्रय और आलम्बन रूप में ग्रहण करना है। यह परम्परा उन्हें अपभ्रंश से प्राप्त हुई। अपभ्रंश

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 सं0 – 579–580

2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – 587–88

से प्राप्त हुई। अपभ्रंश में स्त्रियों की दर्पोक्ति के दोहे बहुत मिलते हैं। उदाहरणार्थ हम यहाँ छः दोहे दे रहे हैं –

महु कान्तहो वे दोसड़ा, हेल्लि मंझखदि आलु।
देन्तहो हउँ पर उव्यरिय, जुज्झन्तहो करवालु।।

ऐ सखी, बेकार बक–बक मत कर। मेरे प्रिय के दो ही दोष हैं – जब दान करने लगते हैं तो मुझे बचा लेते हैं ओर जब जूझने लगते हैं तो करवाल को।

जइ भग्गा पारक्कड़ा तो सहि मज्झु पिऐण।
अह भग्गा अभ्हन्तणा तोतें मरिअडेण।।

यदि शत्रुओं की सेना भागी है, तो इसलिए कि मेरा प्रिय वहाँ हे, और यदि हमारी सेना भागी हे तो इसलिए कि वह मर गया।

जटि कप्पिज्जइ सीण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भउ घड़ निवहि, कन्तु पयासइ मग्गु।।

जहाँ वाणों से वाण कटते हें तलवार से तलवार टकराती हे, उसी भट घटा समूह में मेरा प्रिय मार्ग को प्रकाशित करता हे।

4. <u>ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का प्राचुर्यः</u> – जहाँ केवल प्रशंसा करना मात्र ही कविता का उद्देश्य रह जाता हे वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है ओर नवोन्मेषशालिनी कविता को एक संकीण क्षेत्र में आबद्ध रखना पड़ता हे। इस प्रकार वीरगाथाओं में कवियों ने चरित्र चित्रण में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किये हें। इसीलिए कल्पना का प्राचुर्य एवं ऐतिहासिकता की उपेक्षा दिखलाई पड़ती हे।

5. <u>वीर गाथाओं में भावोन्मेष का अभाव</u> :– वीर गाथाओं में वर्णनात्मकता अधिक हे। वस्तुओं की सूची तथा सेना आदि का वर्णन आवश्यकता से अधिक है। यद्यपि इस वर्णनात्मकता का एकमात्र उद्देश्य नायक की शान्ति ओर वीरता की सूचना देना हे। कहीं–कहीं यह वर्णन बहुत नीरस हो गये हैं। इस प्रकार वीर गाथाओं में कवि का आदर्श अपने चरित–नायक के गुण–वर्णन तक ही सीमित हें।

डॉ0 हजारी प्रसाद के शब्दों में –

एक बान पहुयी नरेस केमासह मुक्यो।

उर उघर थरहर्यो वीर कष्पंतर चुक्यो।।

बियो वान संधान हन्यो सोमेसर नंदन।

गाढ़ो करि निग्रहो षनिव गड्यो संभरिधन।

थल छोरि न जाइ अभागरो गड्यो गुन गहि अग्गरो।

इम जंपे चंदवरहिया कहा निघट्टे इन प्रलो।।[1]

<u>ऋतु वर्णन</u>: – डॉ0 हजारी प्रसाद के शब्दों में – यह ऋतु वर्णन मिलन जन्य आनन्द में उद्दीपन का संचार करता है। शशिव्रता विवाह के प्रसंग में विरहजन्य दु:ख बोध को गाढ़ बनाने के लिए ऋतु वर्णन का सहारा लिया गया है। इस काल के कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) के सन्देश रासक ओर **ढोला–मारू** के दोहों में विरह दशा की अनुभूतियों के वर्णन का प्रयत्न है। कुछ थोड़े परवर्ती काल के कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने विरह–वेदना की अनुभूतियों को दिखाने के उद्देश्य से ऋतु वर्णन लिखा है। **संदेशरासक** में कवि ने जिस बाह्य प्रकृति के व्यापारों का वर्णन किया है, वह रासो के समान ही कवि प्रथा के अनुसार है। उन दिनों ऋतु वर्णन के प्रसंग में वर्ण्य वस्तुओं की सूची बन गई थी। बारहवीं शताब्दी की पुस्तक **कविकल्पलता** में और चौदहवीं शताब्दी की पुस्तक **वर्णरत्नाकर** में यह नुस्खे पाये जा सकते हैं।

झंपवि तम बट्टलिण दसह दिसि छायउ अवरु।

उन्नवियउ घुरहुरइ घोर घणु किसणाउंवरू।।

पहह मग्गि णहवल्लियतरल तउयडिवि तडक्कइ।

दद्दुर रउणु रउद्दु सद्दु कवि सहवि ण सक्कइ।

निवउ निरन्तर नीरहर दुद्धर धर धाराह भरु।।

किम सहउ पहिय सिहरट्टियइ दुसहउ कोइल सरह सरु।

इससे विरह–कातरा प्रिया का अत्यन्त कोमल और प्रीति परायण हृदय ही ध्वनित हुआ है। बाह्य प्रकृति तो उसके सहानुभूतिमय प्रेम परायण हृदय को दिखा देने का साधन भर है।[2]

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली – 3 पृ0 सं0 652
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली – 3, पृ0 सं0 638–39

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में –

फुल्लिअ केसु कम्प तहँ पअलिअ मंजरि तेजिअ चूआ।

दक्खिन वाउ सीउ भइ पबहइ कम्प निआइणि हीआ।।

केअइ धूलि सब्ब दिस पसरिअ पीअरु सब्बऊ भासे।

आउ बसन्त काइ सहि करिहउ कन्त णथक्कइ पासे।

केसू फूलने लगे, पल्लव काँपने लगे, आमों में मंजरी निकल आई, दक्षिण वायु शीतल होकर प्रवाहित होने लगी, वियोगिनियों का हृदय काँपने लगा। केवड़े की धूलि चारों ओर फैल गयी, सब जगह बसन्ती रंग लहक उठा– इस प्रकार है सखी, बसन्त तो आ गया, पर प्रिय पास में नहीं है।[1]

7. <u>विरह –</u>

डॉ० हजारी प्रसाद के शब्दों में –

मारे सोर चहुँ ओर घटा आसाढ़ बंधि नभ।

बच दादुर झिंगुरन रटत चातिग रंजत सुभ।

नील वरन वसुमतिम पहिर आभ्रंन अलिंगय।

चंद वधू सिव्यंद धर वसुमन्तिसु रज्जिय।

वरषंत बूँद घन मेघस्सर तब सुभोग जद्दव कुँअरि।

नन हँस धीर धीरज सुतन इष फुट्टे मन मत्थ करि।

ओर फिर,

घन घटा बंधि तम मघ छाय। दामिनिय दमकि जामिनिय जाय।

बोलंत मोर गिरवर सुहाय, चातिग्ग रटत चिहुँ ओर छाय।। इत्यादि

यह विरह–वर्णन साधारणतः बाह्य वस्तु प्रधान है। विरह में जिस प्रकार का हृदय–राग चित्रण होना चाहिए था वेसा इसमें नहीं है।[2]

मन्द मन्द पवन विरहाग्नि को सुलगाने में लगी है कोकिल कूक रहे हों और किसलय रूपी राक्षस प्रीति की आग लाग रहे हों, तब केसे कोई युवती रमणी अपने प्रिय को बाहर जाने की अनुमति दे सकती है – 1. ईंछिनी ने पेरों पड़के विनय

---

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली–3, पृ० सं० 597

2. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली–3 पृ० सं० – 633

किया कि "हे प्राणनाथ, इस ऋतु में बाहर मत जाओ –

मवरी अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं।
भँवरी भाव भुल्ले भ्रगन्त मकरन्द बरीसं।
बहत बात उज्जलति मोर अति विरह अगिनि किय।
कुहकुहन्त कलकंठ पत्रराषस अति अग्गिय।
पय लग्गि प्रानपति बीनवों नाह नेह मुझ चित्त धरहु।
दिन–दिन अवद्धि जुब्वन घटय कन्त बसंत न गम करहु।[1]

8. <u>नख–शिख: –</u>

नयन सुकज्जल रेष तष्षि निष्छल छवि कारिय।
श्रवनन सहज कटाक्ष चित्त कर्षन नर नारीय।
भुज मृनाल कर कमल उरज अंबुज कल्लिय कल।
जंघ रंभ कटि सिंघगमन दुति हंस करी छल।
दंव अरु जष्षि नागिनि नरिय गरहि दवं दिप्पत नयन।
इंछिनी अंखि लज्जा सहज कितक शक्ति कव्विय वयन।

<u>श्रृंगार वर्णन:</u> – संयागिता की सखियों ने देखा, संयोगिता ने भी देखा। क्या देखा? हृदय के आराध्य प्रेममूर्त्ति पृथ्वीराज मछलियों को माती चुगा रहे हैं। एक क्षण के लिए सन्देह हुआ। चित्रसारी में जाकर पृथ्वीराज का चित्र देखा और विश्वास हो गया कि निस्सन्देह यही वह राजा है, जिसकी मूर्ति के गले में संयोगिता ने अपनी वरमाला डाल दी थी और फिर पृथ्वीराज ने भी संयोगिता को देखा क्या देखा?

कुंजर उघर सिंघ सिंघ उप्पर दोय पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुब्भय।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठो।
मृग उप्पर कोवंड संघ कंद्रप्प वयट्ठो।
अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्‌या।
सुर भुवन छंडि कवि चंद कहि तिहि धार्षे राजन परया।

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 3 पृ0 सं0 636
2. डॉ0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3, पृ0 सं0 632

दरस त्रियन दिल्ली नृपति सोब्रन घट पर हथ्थ।

वर घूंघट छुहि पट्ट्ट गौ सटपट परि मनमथ्थ।

सटपट परि मनमथ्थ भेद वच कुचतट स्वेदं।

उष्ट कंप जल द्रगन लग्गि जंभायत भेदं।

सिथिल सुगति लजि भगति गलत पुंडरि तन सरसी।

निकट निजल घट तजै मुहर मुहरं पति दरसी।।[1]

10. **प्रबन्ध एवं मुक्तक गीत** :– वीरगाथाएं दो रूपों में उपलब्ध होती हैं – वीर गीतों के रूप में और प्रबन्ध–काव्य और चरित्र–काव्य के रूप में। जहाँ तक चरित्र काव्यों का सम्बन्ध है ये वीरगाथायें पूर्ववर्ती जैन–अपभ्रंश चरित काव्यों की परम्परा में है। **पृथ्वीराज** रासो एक महान वीरगाथात्मक चरित काव्य है। मुक्तक वीर–गीतों का स्वरूप **बीसलदेव रासो** इत्यादि में देखने को मिलता है।

11. **छन्दों की विविधता** :– वीरगाथाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता प्रबन्ध काव्य में छन्द परिवर्तन की है। **पृथ्वीराज रासो** में ही छन्दों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ हे, पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आयी है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पृथ्वीराज रासों के सम्बन्ध में लिखा है – "रासों के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।

उनका कहना है कि रासोकार ने अपने द्वारा प्रयुक्त छन्दों की जाति के बारे में स्वयं लिखा है कि –

छंद, प्रबंध कवित्त यति, साटक गाह दुहत्थ।

लघु गुरू मंडित खंडि यह, पिंगल अमर भरत्थ।

अर्थात (मेरे प्रबन्ध काव्य रासों में) कवित्त (षट्पदी) साटक (शार्दूल बिक्रीडित गाहा (गाथा) और दोहा नामक वृत्त प्रयुक्त हुए हैं जिनमें मात्रादि नियम पिंगलाचार्य के अनुसार हैं और संस्कृत (अमरवाणी) के छन्द भरत के मतानुकूल है।[2]

डिंगल का सौन्दर्य :– वीर गाथाआं के सम्बन्ध में एक बात ओर कहनी है, ओर वह हे इसकी डिंगल भाषा की। यह वीरत्व के स्वर के लिए बहुत उपयुक्त भाषा

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली–3 पृ0 सं0 –641–640,

2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3 पृ0 सं0 – 603

है। चारण अपनी कविता को बहुत ऊँचे स्वर में पढ़ते थे और द्वित्ववर्णों की प्रधानता के कारण डिंगल उसके उपयुक्त ही है।

13. <u>रासो (चरित–काव्य)</u> :– चारण–काव्यों से नाम का अंतिम शब्द **रासो** अपनी विशेषता रखता है। प्रायः चारण–काव्य रासो के नाम से अभिहित है। रासो शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न विद्वान अलग–अलग करते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि प्रारम्भ में रासक जातीय ग्रन्थ प्रधानतः इसी छन्द में लिखे जाते होंगे। इस प्रकार **रासो** चारण–काव्य में एक महत्त्वपूर्ण काव्य रूप है। आदिकालीन साहित्य में **रासो** निश्चित रूप से राजस्थानी भाषा में रचित चारण कवियों के चरित–काव्यों का सूचक है। **रासो** नामधारी चारण–चरित काव्यों की सामान्य विशेषता ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिनका ऐतिहासिक महत्त्व हो तथा जिनमें कथा चमत्कार एवं शौर्यपूर्ण, महत् – कार्यों की कल्पना से अतिरंजित होकर बड़ी भव्यता का प्रदर्शन करती हो।

14. <u>काव्य रूपों का परिचय</u> :– चारण काव्यों का महत्त्व साहित्य के इतिहास में अपने भाव और वस्तु वर्णन के कारण इतना नहीं है जितना काव्य रूपों के अध्ययन और हिन्दी भाषा का आदिकालीन रूप और विकास समझने की दृष्टि से है। चारण–काव्यों में हम भक्ति–काल में मुखरित होने वाली चरित–काव्य शैली और कवित्त–छप्पय की वीरकाव्य शैली का मूल पाते हैं। साहित्यिक–अपभ्रंश–भाषा के काव्य रूपों का विकास भी चारण–काव्यों में दिखलाई पड़ता है। नये–नये काव्य रूपों की उद्‌भावना एवं कवि–चित्त की नवीन छन्दों की ओर जाने वाली प्रवृत्ति का रूप समझने के लिए भी चारण–काव्यों का अध्ययन आवश्यक है। चारण – काव्य की छप्पय पद्धति–नवीन साहित्यिक मोड़ की सूचना देती है। इस प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से चारण–काव्य का अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों को लेकर चलने वाले चारण काव्य अपनी विशेषता रखते हैं।

15. <u>अर्द्ध प्रमाणिक रचनाएं</u> :– (मूल रूप का अभाव) वीरगाथा अपने अविकृत मूल रूप में प्राप्त नहीं है, अतएव उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन वीरगाथाओं का उल्लेख किया है उनमें से कोई नोटिस मात्र है, क्योंकि वे अप्राप्य हैं। कुछ के मूल रूप को काल की घात ने इतना बदल

डाला है कि हम उनके सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। भाषा के विकास के अनुसार या तो उनका रूप ही बदल गया है अथवा उसमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश मिला दिये गये हैं। अतएव ये अर्द्ध–प्रमाणिक रचनायें मानी जा सकती हैं। इस प्रकार इन वीर गाथाओं की समालोचना एक प्रकार से असम्भव है। जब तक हम भाषा–विज्ञान के अनुसार उस काल की भाषा का अध्ययन करके इन ग्रन्थों के मूल रूप का ठीक–ठाक अनुमान न कर लें, तबतक इन ग्रन्थों का ठीक से मूल्यांकन नहीं हो सकता।

<u>साहित्य–वर्गीकरण</u> :– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है –

1. <u>भाषा के आधार पर</u> – (क) प्राकृत एवं अपभ्रंश (ख) हिन्दी–
(अ) काव्य (ब) गद्य

2. <u>सम्प्रदाय के आधार पर</u> :– (क) जैन (ख) सिद्ध (ग) नाथ

3. <u>बन्ध के आधार पर</u> – (क) दोहा बन्ध (ख) पद्धतियाँ (ग) गेय

4. <u>साहित्यिक आधार पर</u> :– (क) धार्मिक (ख) चरित

5. <u>संरक्षण के आधार पर</u> :– (क) राजकीय संरक्षण (ख) धार्मिक संरक्षण
(ग) लोक परम्परा

1. प्रमाणिक रचनायें (2) डिंगल काव्य (3) ऐतिहासिक चरित काव्य (4) चारण काव्य (5) आदिकाल का गद्य साहित्य (6) आदिकाल के प्रमुख कवि तथा रचनाएं।

उनके इस वर्गीकरण को उपलब्ध काव्य–रूपों एवं कृतियों का विश्लेषण हम निम्न आधार पर कर रहे हैं ।

<u>"सिद्ध साहित्य"</u>

महामहोपाध्याय पं0 हरप्रसाद शास्त्री ने अनेक बोद्ध सिद्धों की रचनाओं का प्रकाशन कराया था। उन्होंने उसकी भाषा को एक हजार वर्ष पुरानी बंगला

कहा था। बाद में डॉ0 शहीदुल्ला, डॉ0 प्रबोध चन्द्र बागची और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के प्रयत्नों से इस दिशा में और भी कार्य हुआ, और नई सामग्री प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म अन्तिम दिनों में मन्त्र–तन्त्र की साधना में बदल गया था। वज्रयान और महायान में इसी जाति की साधना का प्राधान्य है। ये लोग सिद्ध कहे जाते थे। वज्रयान में इन सिद्धों की संख्या 84 बतायी जाती है। इस समय सरहपा (आठवीं शती) शबरपा (नवीं शती) भुसुक्पा (नवीं शती) लुइया (नवीं शती) विरूपा (नवीं शती) डोम्बिपा (नवीं शती) दारिकपा (नवीं शती) गुणडरिया (नवीं शती) कुकुरिया (नवीं शती) कमरिया (नवीं शती) कण्हपा (नवीं शती) गोरक्षण (नवीं शती) तथा तिलापा, शान्तिपा प्रभृति सिद्धों की रचनायें प्राप्त हुई हैं। रचनाओं में प्रधान रूप से नैरात्म्य भावना, काया–योग, सहज शून्य की साधना और भिन्न–भिन्न प्रकार की समाधि जन्य अवस्थाओं का वर्णन है। पदों की योजना इस प्रकार की गई है कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक–विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हों किन्तु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाये। इस प्रकार की उलटवासियों को यह लोग संध्या–भाषा कहते थे। कुछ विद्वानों ने संध्या–भाषा का अर्थ यह बताया है कि यह ऐसी भाषा है जिसमें संध्या के समान प्रकाश तथा अंधकार का मिश्रण है, आलोक से उसकी सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं, परन्तु कुछ दूसरे विद्वान इसका अर्थ अभिसन्धि या अभिप्राययुक्त वाणी बताते हैं। पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने सुझाया है, कि मूल शब्द संध्या–भाषा नहीं बल्कि सन्धा भाषा रहा होगा।

सातवीं – आठवीं शताब्दी से तान्त्रिक साहित्य में इस प्रकार की विचित्र भाषा का प्रचलन हो गया था। तन्त्रों के साहित्य में ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनका ऊपरी अर्थ चिढ़ाने वाला और लोक–मर्यादा विरोधी है, परन्तु पारिभाषिक अर्थों के समझने के बाद जो अर्थ स्पष्ट होता है, वह उतना चिढ़ाने वाला और धक्का मार नहीं होता। यह परम्परा नाथ योगियों की मध्यस्थता में हिन्दी के निर्गुण मार्गी कवियों की रचनाओं में भी पाई जाती है। बहुत से पण्डितों ने बताया है कि इन उलटवासियों और साधनात्मक रूपकों की परम्परा निर्गुण–मार्गी सन्तों का सिद्ध कवियों के बौद्ध सिद्धों से प्राप्त हुई है।

<u>संख्या सहजयानी सिद्ध</u> :– (1) लूहिपा (2) लीलापा (3) विरूमपा (4) डोम्भीपा (5) शबरीया (6) सरहपा (7) कंकालीपा (8) मीनपा (9) गोरक्षपा (10) चोरंगीपा (11) वीणापा (12) शान्तिपा (13) सन्तिपा (14) चमरिया (15) खंगपा (16) नागार्जुन (17) कण्हपा (18) कर्णरिया (19) अगनपा (20) नारोपा (21) शलिया (22) तिलोपा (23) क्षमपा (24) भद्रपा (25) दोखंधिया (26) अजोगिपा (27) कालपा (28) धाम्भिपा (29) कंकड़पा (30) कमरिया (31) डेंगिया (32) भदेपा (33) तंधेपा (34) कुकुरिया (35) कुचिपा (36) धर्मपा (37) महीपा (38) अचिन्तिपा (39) भलहपा (40) नलिनपा (41) भूसुकपा (42) इन्द्रभूति (43) मेकोपा (44) कुड़ालिया (45) कमरिया (46) जालंधरपा (47) राहुलपा (48) धर्मरिपा (49) धोकरिपा (50) मेदनीपा (51) पंकजपा (52) घण्टा (53) जोगिपा (54) चेलुकपा (55) गुण्डरिया (56) लुचिकपा (57) निगुणपा (58) जयानन्त (59) चर्पटीपा (60) चम्पकपा (61) भिखनपा (62) भलिपा (63) कुनरिया (64) चवरि (65) मलिभद्र (66) मेखलपा (67) कनकलापा (68) कलकलपा (69) कन्ताली (70) धहुलिररिपा (71) उधलि (72) कपालि (73) किलपा (74) सागरपा (75) सर्वभक्षण (76) नागबोधिया (77) दारिकपा (78) पुतुलिपा (79) पहनपा (80) कोकालिपा (81) अनंगपा (82) लक्ष्मीकंरा (83) समुदपा (84) भलि (व्यालि) पा।

श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरू–परम्परा इस प्रकार बतायी है –
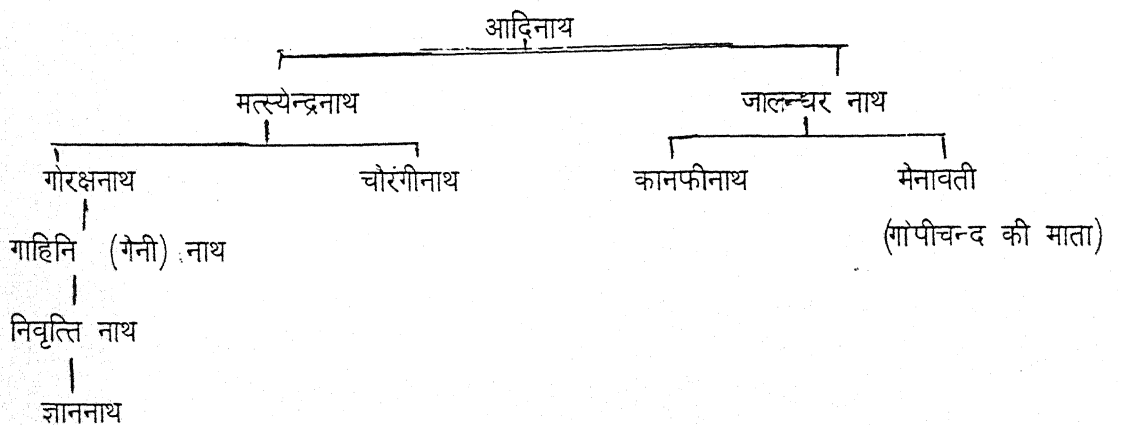
इस प्रकार यदि नवनाथों, कापालिकों, ज्ञानानाथ तक के गुरू–सिद्धों और **वर्णरत्नाकर** के चौरासी नाथ सिद्धों को नाथ–परम्परा में मान लिया जाये तो चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ होने के पूर्व लगभग सवा सो सिद्धों के नाम उपलब्ध होते हैं। इनमें तन्त्र–ग्रन्थों के मानव गुरूओं का उल्लेख नहीं है; क्योंकि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे गुरू नाथ सिद्ध होंगे ही। नेपाली परम्परा के नाथ शिव के आनन्द और शक्ति के प्रतीक जान पड़ते हैं। कान्ह, कन्हड़ी, करणीया, काल श्रीनाथ आदि एक ही सिद्ध के नाम के उच्चारण–भेद से भिन्न रूप है। हठयोग प्रदीपिका के ढिण्ढिणी सहजयानी सिद्ध ढण्ढण ओर **वर्णरत्नाकर** के ढण्ढस एक ही सिद्ध हैं। **वर्णरत्नाकर** की मेनुरा मेना या मयनामती का ही नामान्तर जान पड़ता है। काल भेरवनाथ ओर भेरवनाथ एक ही हो सकते हैं ओर नागनाथ, नागार्जुन ओर नागा अरजन्द एक ही व्यक्ति के नाम हैं।[1]

जेन साहित्य

जिस प्रकार हिन्दी के पूर्वी क्षत्र में सिद्धों ने बोद्ध धर्म के वज़्रयान मत का प्रचार हिन्दी–कविता के माध्यम से किया, उसी प्रकार पश्चिमी क्षत्र में जेन साधुओं ने भी अपने मत का प्रचार हिन्दी–कविता के माध्यम से किया। इन कवियों की रचनाएं आचार, रास फागु, चरित आदि विभिन्न शेलियां में मिलती हैं। आचार्य–शैली के जेन–काव्यों में घटनाओं के स्थान पर उपदेशात्मक का प्रधानता दी गयी है। फागु और चरित–काव्य शैली की सामान्यतया के लिए प्रसिद्ध है। रस शब्द संस्कृत–साहित्य में क्रीड़ा और नृत्य से सम्बन्धित था। भरत मुनि ने इसे क्रीडनीयक कहा है। वात्स्यायन के कामसूत्र के रचनाकाल तक **रास** में गायन का भी समावेश हो गया था। अभिनव गुप्त ने **रास** को एक प्रकार का रूपक माना है। लोक जीवन में भी श्रीकृष्ण की लीलाओं के लिए **रास** शब्द रूढ़ हो गया था ओर आज भी सामान्य जनता उसी अर्थ में इसका प्रयोग करती है। जेन साधुओं ने **रास** का एक प्रभावशाली रचना–शेली का रूप दिया। जेन तीर्थंकारों के जीवन–चरित तथा वेष्णव–अवतारों की कथायें जेन–आदर्शों के आवरण में

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3 पृ0 सं0 271 से 277 तक

रास नाम से पद्यबद्ध की गयी। जेन मन्दिरों में श्रावक लोग रात्रि के समय ताल देकर रास का गायन करते थे। चौदहवीं शताब्दी तक इस पद्धति का प्रचार रहा। अतः जेन-साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप **रास** ग्रन्थ बन गये। वीर गाथाओं में **रास** को ही **रासो** कहा गया है, किन्तु उनकी विषय-भूमि जैन रास-ग्रन्थों से भिन्न हो गयी है।

हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। एक तो वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं लिखा है और जो अपभ्रंश के अधिकांश जैन कवियों और आचार्यो की रचनाओं में व्यवहृत हुई है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने **ग्राम्य** कहा है। इसमें **रासक**, **डोम्बिका** आदि की श्रेणी के लोक प्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई (एडवांश) बतायी जाती है। इसी में बौद्धों के पद और दोहे **प्राकृत पैंगल** के उदाहृत अधिकाँश पद्य **सन्देशरासक** आदि रचनायें लिखी गयी हैं। वस्तुतः यही भाषा आग चलकर आधुनिक देशी-भाषाओं के रूप में विकसित हुई है। इसकी भाषा शैली काव्यगत रियायती अधिकार, स्थापना पद्धति छन्द आदि ज्यों के त्यों परवर्ती हिन्दी साहित्य में आ गये हैं।[1]

अपभ्रंश जेन रचनाओं का वर्गीकरण करते हुए डॉ0 द्विवेदी लिखते हैं – अपभ्रंश में अनेक चरित्र-काव्य लिखे गये थे, जिनकी परम्परा आगे चलकर हिन्दी के चरित काव्यों में प्राप्त होती है। परन्तु यह काव्य अब बहुत कम उपलब्ध होते हैं। आजकल केवल जैन चरित-कवियों की रचनायें ही उपलब्ध हो सकी हैं। ईसान की कोई रचना प्राप्त नहीं है। स्वयंभू अपभ्रंश के उन सबसे पुराने कवियों में हैं जिनकी रचना उपलब्ध है। इनकी चार महत्त्वपूर्ण रचनाओं का पता चला है; पउमचरिउ (रामायण) **रिट्ठणेमि चरिउ**, **पंचमी चरिउ** और **स्वयम्भूछन्द**। केवल अन्तिम पुस्तक पूरी छपी है (तीन अध्याय एशियाटिक सोसायटी के नवें जर्नल 1935 ई0 में और बाकी पाँच अध्याय बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल 1936 ई0 में) बाकी पुस्तकों के केवल थाड़े-थोड़े अंश प्रकाशित हुए हैं। रामायण के कुछ कवित्वपूर्ण अंश राहुल जी ने **काव्य-धारा** में प्रकाशित किये हैं। वस्तुतः यही पुस्तक स्वयम्भू की सर्वोत्तम रचना है। इसमें स्वयम्भू की कवित्व-शक्ति का बहुत

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृ0 सं0 268

सुन्दर परिचय मिलता है। परन्तु साहित्य के इतिहास के जिज्ञासु के लिए **स्वयम्भूछन्द** भी बहुत महत्वपूर्ण हें। इसमें उदाहरण के लिए अपभ्रंश क निम्नांकित कवियां की रचनाएं उद्धृत हें; चडमुह (चमुभुंख) धुन्त, धनदंव, छइल्ल, अज्जदव (आयदव) गोइन्द (गाविन्द) सुद्धसील, जिणआस विअड्ढ। इससे पता चलता है कि स्वयम्भू के पहले अपभ्रंश–काव्य की बहुत महत्त्वपणू परम्परा थी। जिस प्रकार नवीं शताब्दी के पहले क अपभ्रंश साहित्य के लिए **प्राकृत पैंगल** का महत्त्व हे, उसी प्रकार आठवीं शताब्दी क पहल की रचनाओं के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व है, स्वयम्भू का समय आठवीं शताब्दी क आसपास ही होगा, क्योंकि इन्होंने स्वयं रविषण (577 ई0) की चर्चा की हे, और पुष्पदन्त ने (दसवीं शताब्दी) इनका नाम लिया है। इन्हीं दिनों के बीच का काइ समय स्वयम्भू का समय हागा। स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन भी बहुत अच्छ कवि थ। इन्हांन अपन पिता के काव्यों म अधिक अध्याय जाड़कर उन्हें बढ़ाया था।

इस चरित–काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी साहित्य के कथानकां, कथानक–रूढ़ियां, काव्यरूपां, कवि प्रसिद्धियां, छन्दा याजना, वर्णन शेली वस्तु विन्यास, कवि कोशल आदि की कहानी वहुत स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इन काव्यां स हिन्दी साहित्य क विकास क अध्ययन मं बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हाती है।

आठवीं शती के जेन मरमी कवि जाइन्दु (यागीन्दु या यागीन्द्र) क दा ग्रन्थ **परमात्म प्रकाश** ओर **योगसार** दाहा म उपलब्ध हुए हें। इन दाहां का स्वर नाथ यागियां क स्वर से इतना अधिक मिलता हे कि इनमें स अधिकांश पर स यदि जन विशषण हटा दिया जाय, ता यह समझना कठिन हा जायगा कि य निर्गुण मार्गियां के दाहे नहीं हैं। भाषा, भाव, शेली, आदि की दृष्टि स य दाह निर्गुणिया साधकां की श्रेणी में ही आत हें। इसी प्रकार दसवीं शताब्दी के कवि रामसिंह की रचना **पाहुड़दोहा** प्राप्त हुयी हे, जा भाव, भाषा ओर शेली की दृष्टि स उसी श्रेणी मं आती है। इन दाहां मं कबीर, दादू, आदि की परवर्ती दाहाबद्ध रचनाओं की परम्परा स्पष्ट हाती है।

हमचन्द्र क व्याकरण मं तथा मरुतुंग के प्रबन्ध – चिंतामणि में संग्रहीत दोहों जिनमें निश्चित रूप स जनतर कवियां की रचनायें भी संगृहीत हैं – ने हिन्दी साहित्य

के विद्यार्थी के सामने खोज और विचार का नवीन क्षेत्र उद्‌घाटित किया है। इन दोहों में उस श्रेणी की शृंगारिक रचनायें संगृहीत हैं जो आगे चलकर विहारी, मतिराम मुबारक आदि की परम्परा के समझने में सहायक हैं, और दूसरी ओर नीति–विषयक रचनायें हैं जो रहीम और वृन्द के दोहों की परम्परा का स्मरण दिलाती हैं। इसके वीर–रस के दोहे डिंगल की वीर परम्परा को स्पष्ट करने में सहायक है। इसी प्रकार जैन कवियों की चर्चरी, फागु, रास आदि रचनायें परवर्ती साहित्य के काव्य रूपों को समझने में सहायक हैं।[1]

नाथ साहित्य

1. <u>नाम</u> :– साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नाथ–सम्प्रदाय के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। हठयोग **प्रदीपिका की टीका** (1–5 में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हे जो स्वयं शिव ही हैं – ऐसा नाथ–सम्प्रदाय वालों का विश्वास हे। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस सम्प्रदाय को **नाथ–सम्प्रदाय** नाम स ही जानते थे। भिन्न भिन्न ग्रन्थों में बराबर यह उल्लेख मिलता हे कि यह मत **नाथोक्त** अर्थात नाथ द्वारा कथित हे। परन्तु सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द हे: सिद्ध मत (गा.सि.सं.पृ0 12) सिद्ध मार्ग (योग बीज) योग मार्ग (गो.सि.सं. पृ0 21) योग सम्प्रदाय (पृ0 58) अवधूत–मत (पृ0 18) अवधूत–सम्प्रदाय (पृ0 56) इत्यादि। इस मत क योग–मत ओर योग–सम्प्रदाय नाम तो सार्थक ही हैं क्योकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध–मार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यन्त प्रमाणिक ग्रन्थ **सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति** है जिसे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के बलभद्र पण्डित ने संक्षिप्त करके **सिद्ध–सिद्धाँत–संग्रह** नामक ग्रन्थ लिखा था। इन ग्रन्थों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को **सिद्धमत** कहा जा रहा है। सिद्धान्त वस्तुतः वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ को कहते हैं, परन्तु इस सम्प्रदाय में यह अर्थ नहीं स्वीकार किया जाता। इन लोगों के मत से सिद्धों द्वारा निर्णीत या व्याग्ख्यात तत्त्व को ही सिद्धान्त कहा जाता हे (गो.सि.सं. पृ0 18) इसी लिए अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को ही ये लोग **सिद्धान्त ग्रन्थ** कहते हैं। नाथ–

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी **ग्रन्थावली**–3 पृ0 सं0 – 269 से 271

सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य अन्त में नाथ–सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये और अवस्था में उन्होंने **सिद्धान्त बिन्दु** ग्रन्थ लिखा था। अपने मत को ये लोग **अवधूत मत** भी कहते हैं। **गोरक्षसिद्धान्त–संग्रह** में लिखा है कि हमारा मत तो अवधूत मत ही है।

ना का अर्थ अनादि रूप और थ का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार **नाथ** मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से **नाथ** कहा जाता है। फिर **ना** शब्द का अर्थ नाथ–ब्रह्म जो मोक्ष–दान में दक्ष है उनका ज्ञान कराना है और **थ** का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूँकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है, इसीलिए **नाथ** शब्द का व्यवहार किया जाता है।[1]

2. गोरखनाथी शाखा

नाथ पन्थियों का मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। कनफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें **दरसनी** साधु कहते हैं। यह मुद्रा नाना धातुओं और हाथी दाँत की भी होती है। अधिक धनी महन्त लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते हैं। गोरखनाथी साधु सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। पंजाब, हिमालय के पाददेश, बंगाल और बम्बई में ये लोग **नाथ** कहे जाते हैं। ये लोग जो मुद्रा धारण करते हैं वे दो प्रकार की होती हैं – कुण्डल और **दर्शन। दर्शन** का सम्मान अधिक है, क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसे धारण करने वाले **ब्रह्म–साक्षात्कार** कर चुके होते हैं। कुण्डल को **पवित्री** भी कहते हैं।

गोरखनाथी लोग मुख्यतः बारह शाखाओं में विभक्त हैं। अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने परस्पर–विछिन्न नाथपन्थियों का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग–6 पृ0 सं0 19–21

में विभक्त कर दिया था। वे बारह पन्थ ये हैं – सत्यनाथी, धर्मनाथी, रामपन्थ, नटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैराग, माननाथी, आईपन्थ, पागलपन्थ, धजपन्थ और गंगानाथी। इन बारह पन्थों के कारण ही शंकराचार्य के दशनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें **बारहपन्थी योगी** कहा जाता है। प्रत्येक पन्थ का एक विशेष **स्थान** है जिसे ये लोग अपना पुण्य क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पन्थ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि–प्रर्वतक मानता है।[1]

3. <u>**मत्स्येन्द्र नाथ कौन थे –**</u> नाथ–परम्परा में आदिनाथ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य मत्स्येन्द्र नाथ ही हैं। हमने यह पहले देखा है कि आदिनाथ शिव का ही नामान्तर है। सो, मानव–गुरुओं में मत्स्येन्द्रनाथ ही इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य हैं। ये गोरखनाथ के गुरु थे। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार ये अवलोकितेश्वर के अवतार थे, नाथ परम्परा के आदि गुरु माने जाते हैं और कौलाचार के सिद्ध पुरुष हैं। काश्मीर के शेवागमों में भी इनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। वस्तुतः मध्य युग के एक ऐसे युगसन्धिकाल में मत्स्येन्द्र का आविर्भाव हुआ था कि अनेक साधन–मार्गो के ये प्रवर्तयिता मान लिये गये हैं। सारे भारतवर्ष में उनके नाम की सेकड़ों दन्त कथायें प्रचलित हैं। प्रायः हर दन्तकथा में वे अपने प्रसिद्ध शिष्य गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के साथ जड़ित है। यह कहना कठिन हे कि इन दन्त कथाओं में ऐतिहासिक तथ्य कितना है, परन्तु नाना भूलों से जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य पाया जाता हे उनसे दन्त कथाओं की यथार्थता बहुत दूर तक प्रमाणित हो जाती है। इसीलिए उनके काल, साधन–मार्ग और विचार–परम्परा के ज्ञान के लिए दन्तकथाओं पर थोड़ा–बहुत निर्भर किया जा सकता है।

प्रथम प्रश्न इनके नाम का है। योगि सम्प्रदाया में **मछन्दरनाथ** नाम प्रसिद्ध है। परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों में इसका शुद्ध रूप मत्स्येन्द्रनाथ दिया हुआ है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि साधारण योगी मत्स्येन्द्रनाथ की अपेक्षा **मछन्दरनाथ** नाम को ही अधिक पसन्द करते हैं। श्री चन्द्रनाथ योगी जेसे सुधारक मनोवृत्ति के महात्मा को बड़े के साथ कहना पड़ता है कि मत्स्येन्द्र नाथ को मछन्दरनाथ और गोरक्षनाथ को गोरखनाथ कहना योगि–सम्प्रदाय के घोर पतन का सबूत हे (पृ0 47–49)।

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी **ग्रन्थावली**–6, पृ0 सं0 27–28

परन्तु बहुत प्राचीन पुस्तकों में इनके इतने नाम पाये गये हैं कि इनके प्राकृत नाम की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकट होती है ओर यह बात सन्दिग्ध हो जाती है कि परवर्ती ग्रन्थों में व्यवहृत मत्स्येन्द्रनाथ नाम ही शुद्ध और वास्तविक है। मत्स्यन्द्रनाथ द्वारा रचित कई पुस्तकें नेपाल की **दरबार लाइब्रेरी** में सुरक्षित हैं उनमें एक का नाम है, **कौलज्ञान निर्णय**।[1]

4. <u>मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौल ज्ञान निर्णय</u> :- 'कोलज्ञन निर्णय' के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ कौल मार्ग के प्रथम प्रवर्तक हैं तन्मालोक की **टीका** (पृ0 24) में उन्हें सकल-कुल-शास्त्र का अवतारक कहा गया है। कुल-शास्त्र और कोल ज्ञान वस्तुतः समानार्थक शब्द हे। परन्तु **कौलज्ञान निर्णय** में ही ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे मालूम होता है कि यह कोलज्ञान एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल से (6-9) और परम्परा-क्रम से चला आ रहा था। (14-9)। इस ग्रन्थ में कई कोल-सम्प्रदायों की चर्चा भी है। चोदहवें पटल में रोमकूपादि कोल (14-32) वृषणात्थ कोतिक (14-33) वहिनकोल (14-34), कोल सद्भाव (14-37) और पदान्तिष्ठ कोल शब्द आये हैं। विद्वानों ने इनका सम्प्रदायपरक तात्पर्य बताया है। परन्तु मुझे एसा लगता है कि ये शब्द सम्पद्रायपरक न होकर सिद्धिपरक हैं।

कोल ज्ञान निर्णय में निम्नांकित विषयों पर विस्तार है- सृष्टि प्रलय, मानसलिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह-अनुग्रह-क्रामण-हरण, प्रतिजल्लपन घट पाषाण-स्फोटन आदि सिद्धियाँ, भ्रान्ति निरसन ज्ञान, जीवस्व रूप, जरामरण पलित (केशों का पकना) का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि, गुरुपंक्ति, सिद्धपंक्ति और योगनीपंक्ति, चक्रध्यान, अद्वेतचर्या, पात्रचर्यान्यासविधि, शीघ्र सिद्धि देने वाली ध्यान मुद्रा महा प्रलय के समय भैरव की आत्मरक्षा, भक्ष्य विधान तथा कोल ज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुलद्वीप विज्ञान, देहस्थ चक्रस्थिता देवियाँ, कपालभेद, कोलमार्ग का विस्तार, योगिनी संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा।[2]

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-6, पृ0 सं0 52
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-6, पृ0 सं0 70 से 73 तक

गोरखनाथ :– विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के महान गुरु गोरक्षनाथ का आविभार्व हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने – कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसमें गोरक्षनाथ सम्बन्धी कहानियॉं न पायी जाती हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है। परन्तु फिर भी इनमें एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ वही सोना हो गया। दुर्भाग्य वश इस महान धर्म गुरू के विषय में ऐतिहासिक कही जाने लायक बातें बहुत कम रह गयी हैं। दन्तकथायें केवल उनके और उनके द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग के महत्त्व प्रचार के अतिरिक्त कोई विशेष प्रकाश नहीं देती।

इनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता। परम्परायें अनेक प्रकार के अनुमान को उत्तेजना देती हैं और इसीलिए भिन्न–भिन्न स्थानों को उनका जन्म स्थान मान लिया है। **योगि सम्प्रदायाविष्कृति** में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चन्द्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है। नेपाल दरबार लाइब्रेरी में एक परवर्ती काल का **गोरक्षसहस्त्रनामस्तोत्र** छोटा सा ग्रन्थ है। उसमें एक श्लोक इस आशय का है कि दक्षिण दिशा में कोई बड़व नामक देश है वही महामन्त्र के प्रसाद से महा बुद्धिशाली गोरक्षनाथ प्रार्दुभूत हुए थे।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि गोरक्षनाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण मे बड़े हुए थे। उनके गुरू मत्स्येन्द्र नाथ भी शायद ही कभी बोद्ध साधक रहे हों। मेरे अनुमान का कारण गोरक्षनाथी साधना का मूल सुर है।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत ग्रन्थ चलते हैं जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई सन्देहास्पद हैं। सब मिलाकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ न कुछ गोरक्षनाथ की वाणी रह जरूर गयी है, पर सभी की सभी प्रमाणिक नहीं हैं।[1]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–6 पृ0 सं0 107, 108, 109 तक

गोरखनाथ की पुस्तकें :- 1. अमनस्क 2. अमरोगशासनम् 3. अवधूतगीता 4. गोरक्षकल्प 5. गोरक्षकोमुदी 6. गोरक्षगीता 7. गोरक्षचिकित्सा 8. गारक्षपंचय 9. गोरक्षपद्धति 10. गारेक्ष शतक 11. गोरक्षशास्त्र 12. गोरक्षसंहिता 13. चतुरशीत्यासन 14. ज्ञानप्रकाश शतक 15. ज्ञानामृत योग 16. ज्ञान शतक 17. नाड़ीज्ञान प्रदीपिका 18. महार्थ मंजरी 19. योग चिन्तामणि 20. योगमार्तण्ड 21. यागबीज 22. याग शास्त्र 23. योगसिद्धासन पद्धति 24. विवक मार्तण्ड 25. श्रीनाथ सूत्र 26. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति 27. हठयोग 28. हठ संहिता

हठयोग :- गोरक्षनाथ न जिस हठयोग का उपदेश दिया है, वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्र ग्रन्थों में हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। **सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति** में **'ह'** का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और ठ का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही **हठयोग** कहते हैं।

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते।
सूर्यो चंद्रमसायोगात् हठयोगो निगद्यते।।

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या भाव से हो सकती है। ब्रह्मानन्द के मत से **सूर्य** से तात्पर्य प्राण वायु का है और चन्द्र से अपानवायु का। इन दोनों का योग अर्थात प्राणायाम् से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ानाड़ी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला को (हठ-3-15) इसलिए इला और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषम्णा मार्ग से प्राणवायु संचारित करने को ही हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को **हठसिद्धि** देने वाला कहा गया है।[1]

गोरखनाथ के समसामयिक और परवर्ती सिद्ध :- नाथ पंथ के चोरासी सिद्धों में कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन उभय सामान्य सिद्धों में से कुछ तो गोरखनाथ के पूर्ववर्ती होंगे और कुछ समसामयिक। गोरखनाथ के अप्रतिद्वन्द्वी व्यक्तित्व और अप्रतिहत प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि उनके बाद का कोई भी ऐसा व्यक्ति नाथ-परम्परा का सिद्ध नहीं

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली - 6, पृ0 सं0 133

माना गया होगा, जो सम्पूर्ण रूप से उनका अनुयायी न हो। जिस सम्प्रदाय–प्रवर्तक सिद्धों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं उनके अतिरिक्त निम्नांकित सिद्धों के विषय में नाना मूलों से हम कुछ जानकारी संग्रह कर सकते हैं। (अधिकाँश में यह बातें दन्तकथाओं पर ही आधारित हैं और कुछ वातें समसामयिक या परवर्ती ग्रन्थों से भी मिल जाती हैं।)

डॉ0 द्विवेदी ने सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है –

1. चौरंगीनाथ 2. चामरीनाथ 3. तन्तिपा 4. दारिपा 5. विरूपा 6. कमारी 7. कनरवल 8. मेखल 9. धोबी 10. नागार्जुन 11. अचिति 12. चंपक 13. ढेण्टस 14. चुणकर 15. भादे 16. कामरी 17. धर्मपापतंग 18. भद्रपा 19. सबर 20. सान्ति 21. कुमारी 22. सियारी 23. कमलकंगरि 24. चर्पटीनाथ।[1]

परवर्ती सिद्ध :– 1. अजयपाल जी 2. काणेरी 3. गरीबजी 4. गोपीचन्द जी 5. घोड़ा चोली 6. चरपटनाथ 7. चोरंगीनाथ 8. चीणकनाथ 9. जलन्ध्री पाव 10. दत्तजी 11. देवल जी 12. धूँधलीमल जी 13. नागार्जन जी 14. पार्वती जी 15. पृथ्वीनाथ जी 16. बालनाथ जी 17. बालगुन्दाई 18. भरथरी 19. भच्छेन्द्रनाथ जी 20. महादेवी जी 21. रामचन्द्र जी 22. लषमण जी 23. सतवन्ती जी 24. सुकुल हंस जी 25. हणवन्त जी।[2]

रासो साहित्य

1. **खुमानरासो** :– **खुमानरासो** नामक पुस्तक के बारे में **शिवसिंह सरोज** में बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भाट ने **खुमानरासो** नाम का काव्य लिखा था, जिसमें श्रीः राजचन्द्र से लेकर खुमान तक के नरपतियों का वर्णन है। कर्नल टॉड ने भी इस पुस्तक की चर्चा विस्तार पूर्वक की थी। चित्तोर में खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं; जिनमें प्रथम का राज्य–समय 752 ई0 से 808 ई0 तक दूसरे का 813 ई0 से 843 ई0 तक और तीसरे का 908 ई0 से 933 ई0 तक था। चूँकि **खुमानरासो** में खलीफा अलंमामू (813–33 ई0) का आक्रमण हुआ था; इसलिए अनुमान लगाया

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद **द्विवेदी ग्रन्थावली** –6, पृ0 सं0 157–158
2. डॉ0 हजारी प्रसाद **द्विवेदी ग्रन्थावली** –6, पृ0 सं0 165

गया है कि खमानरासो की रचना दूसरे खुमान के समय में हुई होगी, अर्थात यह पुस्तक सन् ई0 की नवीं शताब्दी के आरम्भ की रचना है। इसके लेखक का नाम दलपति विजय है।

<u>बीसलदेव रासो</u> :– नरपति नाल्ह का **बीसलदेवरासो** भी संदिग्ध रचना ही है। ग्रन्थ में निर्माण–काल इस प्रकार दिया है –

> बरह सो बहोन्तरहां मझरि।
> जेठ बदी नवमी बुधवरि।
> नाल्ह रसायन आरंभई।
> सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि।

इसका मतलब यह हे कि नरपति नाल्ह नामक कवि ने सं0 1212 में अर्थात् 1155 ई0 में इस ग्रन्थ का आरम्भ किया था। चूँकि पुस्तक में सर्वत्र वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयाग है। अतएव ग्रन्थ के सम्पादक श्री सत्यजीवन वर्मा ने अनुमान किया था, कि इस पुस्तक की रचना बीसलदेव के समसामयिक कवि की हो सकती है। इसके चार खण्ड हें।[1]

3. <u>भट्टकेदार और मधुकर भट्ट</u> :– भट्टकेदार और मधुकर नामक दो भाट कवियों के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने जयचन्द के यशवर्णन के लिए **जयचन्द्र प्रकाश** और जयमयंक **जसचन्द्रिका** नाम के ग्रन्थ लिखे थे। ये पुस्तकें मिलती नहीं। केवल इनका उल्लेख बीकानेर के राज–पुस्तक–भाण्डार में सुरक्षित सिंघासन दयाल दास कृत **राठोण री ख्यात** में मिलता है।[2]

4. <u>हमीररासो</u> :– शार्गधर कवि के **हम्मीररासो** की रचना भी असन्दिग्ध नहीं है। प्राकृत पैंगलम में कुछ पद्य ऐसे आये हें जिनमें हम्मीर की वीरता का वर्णन है जेसे

> पिंधड़ दिद सण्णाह बाह उप्पर पक्खर दइ।
> बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ।

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3, पृ0 सं0 286–87
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3 पृ0 सं0 288

उड्डल णहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहिं डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अप्फालउ।
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ।
सुरताण–सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ।

ऐसे और भी कुछ पद्य हैं। **शिवसिंह सरोज** में कहा गया था कि चन्द्र की औलाद में शार्गंधर कवि हुए थे। जिन्होंने **हम्मीररैरा** और **हम्मीर काव्य** भाषा में बनाया था। स्वर्गीय पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने इस बात को ध्यान में रखते हुए अनुमान किया कि **प्राकृत पैंगलम** के जिन उदाहरणों में हम्मीर की कीर्तिकथा है वे असली **हम्मीर रासो** के पद्य हैं।

5. विजयपाल रासो :– मिश्रबन्धुओं ने नल्लसिंह रचित **विजयपाल रासो** को भी इसी काल की रचना बताया है। कहा गया है कि नल्लसिंह ने सं0 1093 में हुई विजयपाल सिंह और पंग राजा की लड़ाई का वर्णन किया है। मिश्रबन्धुओं ने इसका रचनाकाल सं0 1355 माना है। लेकिन यह भी बहुत पुराना ग्रन्थ नहीं मालुम होता। इसकी भाषा और शैली पर विचार करने से मालुम होता है कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई होगी।

इसी प्रकार सन् 1293 ई0 में अमीर खुसरो की रचनायें प्रारम्भ हुई। अमीर खुसरो निस्सन्देह बहुत मेधावी विद्वान और सुकवि थे। उनकी रचनाओं में तत्काल प्रचलित हिन्दी का प्रयोग हुआ होगा। परन्तु उनके नाम पर जितनी पहेलियाँ, मुकरियाँ और ढकासल प्रचलित हैं वे न तो मूल रूप में ही सुरक्षित हैं और न सब के सब प्राचीन ही हैं।[1]

6. पृथ्वीराज रासो :– इस काल की कुछ रचनायें ऐसी भी हैं जिन्हें हम अर्द्धप्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रन्थ **पृथ्वीराज रासो** है। काशी ना.प्र.स. प्रकाशित **पृथ्वीराजरासो** में ढाई हजार पृष्ठ हैं जो 69 सर्गों में विभाजित है। सबसे बड़ा समय **कनवज्ज युद्ध** है जो सम्भवतः रासो का मूल कथानक है। यह विश्वास किया जाता है कि चन्द पृथ्वीराज का मित्र, कवि और सलाहकार था। रासो में वह तीनों रूपों में चित्रित है। इस ग्रन्थ के अनुसार दोनों के

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3, पृ0 सं0 – 289

जन्म और मरण की तिथि भी एक है। मजेदार बात यह है कि **पृथ्वीराज विजय** में चन्दबरदाई नामक किसी कवि नाम नहीं है। एक जगह चन्द्रराज कवि का उल्लेख अवश्य है, परन्तु उसे कुछ विद्वानों ने कश्मीरी कवि चन्द्रक से अभिन्न माना है। और भी बहुत–सी अनैतिहासिक बातें रासों में मिलती है, जैसे –

1. आबू पहाड़ के राजा जेत और सलक बताये गये हैं, जिनका तात्कालिक शिला–लेखों में कोई उल्लेख नहीं मिलता, और उस समय आबू पर सचमुच ही राज्य करने वाले धारावर्ष परमार की इस ग्रन्थ में कोई चर्चा ही नहीं।

2. गुजरात का राजा भीमसेन रासो के अनुसार पृथ्वीराज के हाथों मारा गया था। पर शिलालेखों पर विश्वास किया जाये तो वह पृथ्वीराज के बहुत बाद तक जीता रहा।

3. शाहबुद्दीन, रासो के अनुसार, पृथ्वीराज के तीर से मारा गया था, पर ऐतिहासिक तथ्य यह है कि सन् 1203 ई0 में गक्करों के हाथ मारा गया।

4. पृथ्वीराज की बहन पृथाकुंवरि, रासो के अनुसार, चित्तोड़ के राजा समरसिंह से ब्याही गयी थी जो इतिहास विरुद्ध है, क्योंकि समरसिंह के अभिलेख 1278 ई0 और 1285 ई0 के बीच के मिले हैं। इसके बहुत पहले पृथ्वीराज परलोक चले गये थे।

5. **पृथ्वीराज रासो** में जो तिथियाँ दी गयी हैं वे वास्तविक ऐतिहासिक प्रमाणों की तुलना में निराधार हैं। इस प्रकार और की और भी अनेक प्रकार की ऐतिहासिक असंगतियाँ इस पुस्तक में मिलती हैं। सं0 1986 की नागरी प्रचारिणी पत्रिका में म.म. श्री गौरी शंकर हीराचन्द जी ओझा ने विस्तारपूर्वक **पृथ्वीराज रासो** की **अनैतिहासिकता** सिद्ध की है।[1]

<u>पृथ्वीराज रासो की विशेषता</u> – वे केवल कल्पनाविलासी कवि ही नहीं निपुण मन्त्रदाता के रूप में भी सामने आते हैं। चाहे रूप और शोभा का वर्णन हो, चाहे ऋतुवर्णन की उत्फुल्लता का प्रसंग हो, या युद्ध की भेरी का प्रसंग हो, चन्दबरदाई सर्वत्र एक समान अविचलित और प्रसन्न दिखायी पड़ते हैं। रूप और सौन्दर्य के प्रसंग में उनकी कविता रुकना ही नहीं जानती। निस्सन्देह उन्होंने काव्यगत रूढ़ियों का बहुत व्यवहार

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3, पृ0 सं0 291

किया है और परम्परा–प्रचलित उपमानों से सौन्दर्य की अभिव्यंजना उनके साहित्य का प्रधान कौशल है। तथापि वह कवि के आनन्द निर्झर चित्त को पूर्ण रूप से प्रकट करती है।[1]

7. <u>परमाल रासो</u> :– इस काल में **पृथ्वीराजरासो** के समान ही जागनिक लिखित **परमालरासो** नामक एक ग्रन्थ का नाम मिलता है। कहते हैं कि कालिंजर के राजा परमाल (परमदि देव) के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरों, आल्हा और ऊदल के चरित्र का एक वीर काव्य लिखा था। फर्रुखाबाद के कलेक्टर मि0 चार्ल्स इलियट ने लोक में प्रचलित इन गीतों का संग्रह आल्हा–खण्ड के नाम से छपवाया था। निस्सन्देह इस नये रूप में बहुत सी नयी बातें आ गयी हैं और जगनिक के मूल ग्रन्थ का क्या रूप था, यह कह सकना कठिन हो गया है। अनुमानतः इस संग्रह की वीरत्वपूर्ण स्वर तो सुरक्षित है, लेकिन भाषा और कथानकों में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। इसलिए चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो की तरह इस ग्रन्थ को भी अर्द्ध–प्रामाणिक ही कह सकते हैं।[2]

8. <u>डिंगल काव्य</u> :– राजपूतने के कुछ अन्य कवियों के लिखे हुए इस काल के आसायित और श्रीधर आदि कवियों के कुछ अन्य वीरकाव्य भी प्राप्त हुए हैं। इसी काल में राजपुताने में डिंगल काव्य का आरम्भ हुआ। डिंगल अपभ्रंश के योग से बनी हुयी राजस्थानी भाषा का साहित्यिक नाम था। डिंगल के तोल पर राजस्थानी कवियों ने एक ओर काव्य गढ़ लिखा था, जिसका नाम है, पिंगल। प्रादेशिक बोलियों के साथ मध्य देशीय भाषा का मिश्रण होने से एक प्रकार की सर्वभारतीय भाषा बनी जिसे हिन्दी में ब्रजभाषा या केवल भाषा कहते थे। इसी श्रेणी की भाषा को राजस्थानी कवि पिंगल कहा करते थे। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से बतायी गयी है। कुछ लोग इसका अर्थ गवांरु भाषा करते हैं। कुछ डिंग + गल के योग से इसका अर्थ डमरू की अवाजवाली वीररस की भाषा करते हैं और कुछ दूसरे डींग या अतिशयोक्तिपूर्ण बातों से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। किन्तु डिंगल वस्तुतः राजस्थानी

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली–3 पृ0 सं0 294
2. डॉ0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3– 295

चारणों की राजस्तुति और वीर दर्पोक्तियों को वहन कराने वाली भाषा का नाम है। पिंगल छन्द-शास्त्र के रचयिता का नाम है, और इसीलिए इस काल की परिष्कृत भाषा (ब्रजभाषा) का नाम पिंगल दे दिया गया है। बहुत दिनों तक शौरसेनी प्राकृत को और इसीलिए उससे निकली ब्रजभाषा को नाग-भाषा कहा जाता रहा। मिर्जाखां ने फारसी में लिखे हुए ब्रजभाषा के व्याकरण में प्राकृत को नाग-लोक की भाषा कहा है। पिंगल स्वयं नाग थे, सम्भवतः पिंगल का अर्थ हुआ शौरसेनी प्राकृत या ब्रजभाषा। युद्धों क प्रसंग में पृथ्वीराज रासो की भाषा डिंगल का रूप धारण करती है, किन्तु विवाह और प्रेम के सुकुमार प्रसंगों में वह प्रधान रूप से पिंगल ही बनी रहती है। वस्तुतः मूल पृथ्वीराज रासो शोर सेनी अपभ्रंश में लिखा गया था, जो परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश स थाड़ी भिन्न और उसस कुछ आगे वढ़ी हुई भाषा थी।[1]

9. **सन्देशरासक** :- मुलतान के ग्याहरवीं शती (?) के कवि अदृणमाण या अब्दुलरहमान न सन्देशरासक नाम की एक बड़ी सुन्दर प्रेमकहानी लिखी थी। इस पर दा संस्कृत टीकायें उपलब्ध हुई हैं। सन्देशरासक की कहानी बहुत सरल और मर्मस्पर्शी है, यद्यपि वह कुछ आदिम मनोभाव वाली रचनाओं की श्रेणी की है। उपमायें अधिकांश में यद्यपि परम्परागत और रूढ़ ही हैं, तथापि बाह्य-वृत की वेसी व्यंजना उसमं नहीं है जेसी आन्तरिक अनुभूति की। ऋतु वर्णन के प्रसंग में बाह्य प्रकृति इस रूप में चित्रित नहीं हुई। जिससे आन्तरिक अनुभूति की व्यंजना दब जाय। प्रिय के नगर से आने वाल अपरिचित पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार के दुराव का भाव नहीं है। वह बड़ सहज ढंग से अपनी कहानी कह जाती है। सारा वातावरण विश्वास और घरलूपन का वातावरण है।[2]

10. **प्राकृत पैंगलम के उदाहरण** :- प्राकृत पैंगलम में विद्या धर शार्गधर (?) जज्जल बब्बर आदि कवियों की रचनाओं में कई प्रकार के विषय हैं - वीर, श्रृंगार, नीति, शिवस्तुति, विष्णुस्तुति, ऋतु वर्णन आदि। पर इनकी मात्रा बहुत कम है। परन्तु ये सभी रचनायें और सन्देशरासक, पृथ्वीराजरासो, कीर्तिलता आदि के कवि उस श्रेणी के कवि नहीं थे, जिनहें आदिम-मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। ये कवि

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ0 सं0 - 296
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ0 सं0 299

काव्य–लक्षणों के जानकार थे, प्राचीनतर कवियों की रचनाओं के अभ्यासी थे, और अपने काव्य के गुण–दोषों के प्रति सचेत थे। इसीलिए इन्हें साहित्य के आरम्भिक काल का कवि कहना ठीक नहीं।[1]

11. <u>विद्यापति</u> :– **कीर्तिलता** के रचयिता विद्यापति मिथिला के विसपी नामक ग्राम के रहने वाले थे। राजा शिवसिंह ने सन् ईस्वी की चौदहवीं शती में यह ग्राम अभिनव जयदेव को उपाधि–सहित दिया था। कहते हैं; इस दान–पत्र के अक्षरों का तत्कालीन प्रचलित वर्ण–माला से साम्य नहीं है। इसे विद्वानों ने जाली दान–पत्र बताया है। सम्भवतः इनका जन्म 1368 ई0 में हुआ था, और पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ये जीवित रहे। **कीर्तिलता** में इन्होंने अपने को कीर्तिसिंह का लेखन–कवि कहा हे जो सम्भवतः इन्हें कीर्तिसिंह का बाल्य–बन्धु सिद्ध करता है। इस हिसाब से इनका जन्मकाल कुछ और पहले होना चाहिए। विद्वानों का अनुमान है कि इस हिसाब से उनका जन्म 1360 ई0 में हुआ होगा।[2]

<u>कीर्तिलता की भाषा</u> :– **कीर्तिलता** अपने काल की बहुत सुन्दर और प्रामाणिक रचना है। इसकी भाषा में पुरानी मैथिली के कई चिन्ह पाये जाते हैं, जैसे विशेषण और क्रिया में स्त्रीलिंग का व्यवहार; बहुवचन में न्ही न्ह, आ. या; किसी भी विभक्ति चिन्ह का अभाव कर्त्ता में ए, जे का प्रयोग या परसर्गाभाव; तृतीय में ए ओर हि; पंचमी में तहें और सजो, पष्ठी में करि, करो कर और करंओ का व्यवहार है। सप्तमी में ए, ऐं और हि का प्रयोग है।

13. **<u>कीर्तिलता का काव्यरूप</u>** :– ऐसा जान पड़ता है कि **कीर्तिलता** बहुत कुछ उसी शैली में लिखी गयी थी, जिसमें चन्दबरदाई ने **पृथ्वीराजरासो** लिखा था। यह भृंग ओर भृंगी के संवादरूप में है; इसमें भी संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग है। संस्कृत और प्राकृत के छन्द रासों में बहुत आये हैं। जिन स्थानों पर ये छन्द व्यवहृत हुये हैं वहाँ रासों के कवि ने भाषा में थोड़ा संस्कृत की छोंक देना चाहा है। या, यह भी हो सकता हे कि मूलरूप में वे छन्द संस्कृत में लिखे गये हों; और रासो के वर्त्तमान रूप में विकृत हो गये हों। विद्यापति न भी आरम्भ में और अन्त में

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–3– पृ0 सं0 – 299
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 3, पृ0 सं0 – 301

संस्कृत छन्दों का आश्रय लिया है और भाषा भी संस्कृत रखी है। रासो की भाँति **कीर्तिलता** में भी गाथा (गाहा) छन्द का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआ है।[1]

गद्य साहित्य

आदिकाल में काव्य-रचना के साथ-साथ गद्य-रचना की दिशा में भी कुछ स्फुट प्रयास लक्षित होते हैं। **राउलवेल** (चम्पू) **उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण** और **वर्णरत्नाकर** इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय रचनायें हैं।

राउलवेल :- यह एक शिलांकित कृति है, जिसका पाठ बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय से उपलब्ध कर प्रकाशित कराया गया है। विद्वानों ने इसका रचना-काल दसवीं शताब्दी माना है। यह गद्य-पद्य-मिश्रित चम्पू-काव्य की प्राचीनतम हिन्दी कृति है। इसकी रचना राउल नायिका के नख शिख-वर्णन के प्रसंग में हुई है। आरम्भ में कवि ने राउल के सौन्दर्य का वर्णन पद्य में किया है और फिर गद्य का प्रयोग किया गया है। इसका एक उदाहरण देखिये :

"एहु गोड़ तुहुँ एकु का पनु अउर वर.... का तईं सहुँ या बालइ। जणुणु मालवीय देसुहि आवतु आम्वदउ जाउँ (जानूँ) आपणा हथिआरहु भूलइ। इहाँ अम्हारइ दुभगी खोंप दरिउ भइ।"[2]

उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण :- काशी के सुप्रसिद्ध राजा गोविन्द्र चन्द्र के सभा-पण्डित दामोदर भट्ट के **उक्तिव्यक्तिप्रकरण** नाम से एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इस पुस्तक से काशी की तात्कालिक भाषा का कुछ परिचय मिलता है और यह भी पता लगता है कि उन दिनों इस लोकभाषा में कथा और कहानियाँ लिखी जाती थीं। उन कहानियों का काव्य-रूप कैसा था यह जानने का कोई साधन अब प्राप्त नहीं है। दामोदर भट्ट की पुस्तक से पता चलता है कि उन दिनों कहानियों में गद्य का भी प्रयोग होता था। सम्भवतः संस्कृत के चम्पू काव्यों के ढंग की ये रचनायें होती थीं। विद्यापति की **कीर्तिलता** में गद्य का प्रचुर प्रयोग है। यद्यपि **लीलावती** नामक प्राकृत कथा में भी कहीं-कहीं गद्य थोड़ा-बहुत आ गया है, पर वह नाममात्र को है।[3]

उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण की प्रशंसा करते हुए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी आगे लिखते हैं कि - **उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण** एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ

---

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3, पृ० सं० 301 से 302
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० सं० - 95
3. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली-3, पृ० सं० 302, 303

है। इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और इस युग के काव्य–रूपों के सम्बन्ध में भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है।"[1]

वर्णरत्नाकर :– मैथिली हिन्दी में रचित गद्य की यह पुस्तक डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के सम्पादन में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हो चुकी है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई होगी। इसका लेखक ज्योतिरीिश्वर ठाकुर नामक मैथिल कवि था। इसकी भाषा में कवित्व, आलंकारिकता तथा शब्दों की तत्समता की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। गद्य में नायिका का वर्णन करते हुए ज्योतिरीश्वर लिखते हैं –

उज्जवल कोमल लोहित सम संतुल सालंकार पंचगुण संपूर्ण
चरण अकठिन, सुकुमार गज हस्त प्राय जानु युगल पीन मांसल
कुर्म्म पृष्ठाकर श्रोणी गंभीर, दक्षिणावर्त मण्डलाकृति नाभि क्षीण
सुकुमार वलित तिनि समन्वित पुष्टि ग्राह वेकण्य स्याम सदृश
सुकुमार सुक्ष्म सुवेष दीर्घा छह गुणे सम्पूर्ण कोमलता।

आदिकाल की उपलब्धियाँ

आदिकालीन हिन्दी का संस्कृत और संस्कृति की ओर जाने वाला व्यापक जनभाषायी स्वरूप अभिधेय रूप में भी पर्याप्त सम्प्रेषणीय था। कवियों ने उस शब्दों को छोड़ दिया था, जो घिसे–पिटे धार्मिक अर्थो को ढाते थे। तत्कालीन जीवन की भाव–भूमि का साथ देने वाली शब्दावली सरल रूप में भी सशक्त होती जा रही थी। उसमें नये पुरुषार्थो तथा नये अनुभवों की व्यंजित करने की शक्ति बड़ी स्फूर्ति के साथ जन्म ले रही थी सिद्धों की जीवन दृष्टि तथा स्पष्टवादिता, नाथपन्थियों का हठयोग, जेनों की अहिंसा, चारणों–भाटों की प्रशस्तियाँ, खुसरो की लोकानुरंजनता– सबको एक साथ अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य जुटाने में तल्लीन हिन्दी भाषा न अलंकार की परवाह करती थी, न लक्षणा व्यंजना आदि की। आदिकालीन साहित्य जन–जीवन की जिन अनभूतियों से प्रकट हुआ था, उनमें पर्याप्त विविधता थी। अतः वह एक

---

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल – पृ0 सं0 8

भीड़ का सायास लिखित साहित्य नहीं है, अपितु एक सचेतन समाज की सहज स्थितियों से उत्पन्न साहित्य है। यही कारण है कि उसमें जीवन की विभिन्न दशाओं और स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के विविध चित्र मिलते हैं। कथ्य की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य में एक साथ कई परम्पराओं का उदय दिखाई देता है।

आदिकालीन साहित्य में कथ्य की विविधता के साथ छन्द प्रयोग की विविधता भी रही है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छन्द की दृष्टि से कुछ सीमायें बनायी हैं। उन्होंने श्लोक को लौकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत का तथा दोहे को अपभ्रंश का मुख्य छन्द स्वीकार किया है। वस्तुतः दोहा छन्द अपभ्रंश में जनभाषा से ही गया था, इसलिए इस छन्द को हिन्दी का मुख्य छन्द मानना चाहिए। **विक्रमोर्वशीय** के चतुर्थ अंक से डॉ0 द्विवेदी ने अपभ्रंश के नाम पर यह दोहा उद्धृत किया है:

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी णिसअरु कोइ हरेइ।
जाव णु णवतलिसामल धाराहरु बरिसेइ।।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार संस्कृत और प्राकृत में तुक मिलान की प्रथा नहीं थी, दोहा छन्द से ही तुक की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। वे इसे अपभ्रंश की प्रवृत्ति बताते हैं। वस्तुतः यह जनभाषा की प्रवृत्ति थी, जो उसके साहित्यिक भाषा बनने पर रचना का मुख्य अंग बन गयी। अपभ्रंश ने भी जन–कण्ठ से ही इस प्रवृत्ति को ग्रहण किया था। अतः अपभ्रंश और हिन्दी दोनों में दोहा–शैली का प्रयोग एक ही स्रोत से आरम्भ हुआ।

सारांश यह है कि आदिकालीन हिन्दी साहित्य अपभ्रंश–साहित्य के समानान्तर विकसित हुआ है। इस युग में हिन्दी भाषा जन–जीवन से रस लेकर आगे बढ़ी है। उसने अपनी अनेक बोलियों को एकरूपता की ओर बढ़ाकर एक सूत्र में बाँधा है। जीवन के विभिन्न पक्षों का उसके साहित्य में चित्रण हुआ है। परवर्ती कालों के लिए उसने अनेक परम्परायें डाली हैं। अनेक काव्य–रूप तथा शैली–शिल्प आदिकालीन साहित्य में प्रकट और पुष्ट हुये हैं। अतः आदिकालीन को हिन्दी साहित्य का एक समृद्ध युग माना जा सकता है।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 – 99

अध्याय – 5

भक्तिकाल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

14वीं शताब्दी के अन्तिम समय में हिन्दी साहित्य – रचना के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित हुआ। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा के साहित्य का बढ़ाव है। इसका सर्जन भी हिन्दी – भाषी प्रदेश से बाहर हुआ था। कुछ विद्वान भक्ति साहित्य से ही वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ मानते हैं, वस्तुतः 14वीं शताब्दी से जिस भक्ति साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ, उसमें ऐसे महान साहित्य की रचना हुई जो भारतीय इतिहास में अपने ढंग का निराला साहित्य है। आदिकालीन साहित्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियों नाथ – सिद्धों की रहस्यमयी (आध्यात्मिक) साधना एवं लौकिक रस की नीति शृंगार इत्यादि की रचनाएं – का भक्ति साहित्य में अपूर्व समन्वय हुआ और इनके योग से गरिमापूर्ण भक्ति साहित्य का सृजन हुआ। चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी भाषी प्रदेशों में देशी भाषा का साहित्य कैसा था, इस बात की धारणा बहुत अस्पष्ट रूप में ही होती है। "पूर्व प्रदेशों में सहजयानी और नाथपन्थी साधकों की साधनात्मक रचनाएं प्राप्त होती हैं और पश्चिमी प्रदेशों में नीति, श्रृंगार और कथानक – साहित्य की कुछ रचनाएं उपलब्ध होती हैं। एक में भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य है और दूसरी में नियमनिष्ठा, रूढ़िपालन और स्पष्टवादिता का स्वर है, एक में सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है, दूसरी में ऐह लौकिक वायुमण्डल में। चौदहवीं – पन्द्रहवीं शताब्दी में दोनों प्रकार की रचनाएं एक में सिमटने लगी थीं, दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है, इसी का नाम भक्ति साहित्य है।"[1]

14वीं शताब्दी के बाद जो हिन्दी का साहित्य रचा गया, उसकी मूल प्रेरणा भक्ति ही रही, यह साहित्य भक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बर विहीन एक सुचितापूर्ण सरल जीवन की झाँकी है। बाबू गुलाबराय का मत है, "मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव हैं, या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग – विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्ति काल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गयी। इस सम्बन्ध में डॉ0 ग्रियर्सन का विचार है कि "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो पुरानी ओर नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है।

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 62

यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योकि उसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। xxx बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखाई दी, कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ ये आयी और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता।"

इस सम्बन्ध में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि, "यह भी बताया गया है कि जव मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो निराश होकर हिन्दू लोग भगवान भजन करने लगे। यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे, तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।"[1]

डॉ0 ग्रियर्सन के विचार का खण्डन करते हुए डॉ0 द्विवेदी का विचार है कि, "असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियसर्न ने अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना" लिखा है वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सेकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे, फिर भी ऊपर – ऊपर से देखने पर लगता है कि उस प्रादुर्भाव एकाएक हो गया। इसका कारण उस काल की लोक प्रवृत्ति का शास्त्र सिद्ध आचार्या और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना है। शास्त्र सिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे। सन् ईस्वी की सातवीं शताब्दी से और किसी के मत से और पूर्व से दक्षिण में वैष्णव भक्ति से बड़ा जोर पकड़ा। इसके पुरस्कर्ता आलवार भक्त कहे जाते हैं। इन्हीं लोगों की परम्परा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुजाचार्य का प्रादर्भाव हुआ।

<u>उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलनः</u> – आलवारों का भक्तिवाद भी जनसाधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया। भक्तों के अनुभूतिगम्य

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 62

सहज सत्य को बाद के आचार्यो ने दर्शन का क्रमबद्ध और सुचिन्तित रूप दिया। यही बात उत्तर भारत के विषय में भी सत्य है। यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म – भावना वर्तमान थी, उसने शास्त्र की अंगुली पकड़कर अपने को शक्तिशाली रूप में प्रकट किया। इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। गाहड़वार राजाओं के समय उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त्त धर्मावलम्बी था। निस्सन्देह नाथों का शैव धर्म भी पर्याप्त प्रभावशाली था, किन्तु साधारण जनता स्मार्त्त मतावलम्बी थी। इस सम्बन्ध में डॉ0 द्विवेदी का मन्तव्य है कि "भक्ति के लिए जो बात नितान्त आवश्यक है वह है भगवान के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। उत्तर भारत की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी यद्यपि महाभारत में पुराने अंशों से पता चलता है कि पहले विष्णु के छः ही अवतार माने जाते थे, परन्तु धीरे – धीरे वह संख्या दस तक पहुँच गयी और मध्ययुग के सबसे अधिक प्रभावशाली पुराण भागवत में अवतारों की संख्या 24 तक हो गयी। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में थोड़ा परिवर्तन भी हुआ है। पहले विश्वास किया जाता था कि भगवान् दुष्टों के दमन और साधुओं के परिमाण के लिए अवतार धारण करते हैं – गीता में अवतार का हेतु यही बताया गया है – किन्तु बाद में इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ।"[1]

भक्ति साहित्य का प्रधान स्वर अवतारवाद

मध्यकाल के भक्तिमार्ग में ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है। इस काल का आकर यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान के चरित्र का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य ऐकान्तिक भक्ति ही है। ;कैवल्य (मोक्ष) या अनुनर्भव को भक्त लोग इसके सामने तुच्छ समझते

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 64

हैं। अवतारों की कल्पना ने इस ऐकान्तिक भक्ति को सम्बल प्रदान किया है, अवतारों की कल्पना से ही उस लीला का विस्तार होता है जिसका श्रवण और मनन भक्ति का प्रधान साधन है। अवतारों की विविध लीलाओं के फलस्वरूप ही विविध नामों का उद्भव होता है, जिनका कीर्त्तन और जप भक्त के लिए बहुत आवश्यक साधन है। इस सम्बन्ध में डॉ0 द्विवेदी का मन्तव्य है कि, "भक्ति के लिए भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है और अवतार उस सम्बन्ध के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि मध्य युग के प्रायः सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने किसी – किसी रूप में अवतार की कल्पना अवश्य की है। शिव के अनेक अवतारों की चर्चा मिलती है। गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को भी शिव का अवतार माना गया है, और तो ओर आगे चलकर अवतारवाद के घोर विरोधी कबीर को भी **ज्ञानी जी** का अवतार ही माना जाने लगा। केवल भगवान् के ही अवतार में ही नहीं, सन्तों के अवतार में भी विश्वास किया जाने लगा।"[1]

सूरदास उद्धव के, हितहरिवंश मुरली के ओर तुलसीदास बाल्मीकि के अवतार समझे गये। वस्तुतः सगुण भक्ति के मार्ग के मूल में अवतार की कल्पना है।

वैसे तो अवतारों की संख्या बहुत मानी गयी है, परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण के हैं। इनमें भी कृष्णावतार की कल्पना पुरानी और व्यापक है। इन दो अवतारों की प्रधानता स्थापित होने का प्रधान कारण इनकी लीला की बहुलता ही है। शुरु के साहित्य और शिल्प में इनका प्रधान चरित दुष्टों का दमन और भक्तों की उनसे रक्षा ही था, पर धीरे – धीरे दुष्ट दमन वाला रूप दबता गया और लीला रूप ही प्रधान होता गया। श्री कृष्णवतार के दो मुख्य रूप हैं एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं – वीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं, दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपी जन वल्लभ हैं, प्रथम रूप का पता बहुत पुराने

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 64

ग्रन्थों से चल जाता है, परन्तु दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है।

रामावतार का महत्त्व भी बहुत अधिक रहा है। पुराने से पुराने अवतार प्रसंगों में भी श्रीरामचन्द्र का उल्लेख मिलता है। वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं, दुष्ट दमन कारी हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में राम के भक्त साहित्यिकों में भी लीलागान की दृष्टि समादृत हुई, किन्तु उनका दुष्टदमन और मर्यादा – पुरुषोत्तम रूप कभी भी म्लान नहीं हुआ। अठारहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में श्रीराम चरित को भी माधुर्य भावना के रंग में रंगना पड़ा और ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसमें प्रेम – क्रीड़ा और रासलीला का प्राधान्य था।

"मनुष्य – रूप में होने के कारण और मनुष्य को प्रभावित करने वाली लीलाओं का आश्रय होने के कारण इन दो अवतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गयी, परन्तु श्रीकृष्ण–अवतार की महिमा घटी नहीं, क्योंकि श्री कृष्णावतार की लीलाओं में एक विचित्र मानवीय रस है। सख्य, वात्सल्य और माधुर्य की लीलाओं का आश्रय होने के कारण यह चरित सार्वभौम आकर्षण का कारण बना है।"[1]

उत्तर भारत में भक्ति की धारा को नये सिरे से प्रवाहित करने का श्रेय दो आचार्यो को है – स्वामी रामानंद और महाप्रभु वल्लभाचार्य। स्वामी रामानंद का सम्बन्ध दो श्रेणी के भक्तों से बताया जाता है, एक तो वे जो निर्गुण भाव से राम के उपासक भक्त थे, दूसरे वे जो राम की उपासना अवतार रूप में करते थे। इस प्रकार दोनों प्रकार के भक्तों में प्रधानता केवल रामनाम की थी। दूसरे आचार्य बल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया, इन्होंने लीलापक्ष पर बहुत अधिक जोर दिया, इसलिए इस सम्प्रदाय के भक्तों में भगवान के धर्मरक्षक मर्यादा पुरुषोत्तम और दुष्ट दमन रूप गौण हो गये और निखिलानंद सन्दोह प्रेममयरूप प्रधान हो गया।

"वंगाल के श्री चैतन्य देव के अनुयायी भक्तों ने भी वृन्दावन को अपना साधना क्षेत्र बनाया। इनमें रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीवगोस्वामी

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 65

बड़े भारी शास्त्रज्ञ विद्वान थे। इन्होंने भागवत द्वारा प्रचारित भक्ति को क्रमबद्ध दर्शन और तर्कसंगत का रूप दिया। परन्तु प्रधान रूप से इन गौड़ीय वैष्णवों में उपासना भाव विह्वल आराधना के रूप में ही प्रकट हुआ। ये लोग गोपी – भाव से भगवान का भजन करते थे। इन लोगों का ब्रज की भक्तिधारा पर प्रभाव पड़ा और शास्त्रीय चिन्तन – पद्धति पर भी इनकी विचारधारा का प्रभाव पड़ा है। यहाँ तक की अठारहवीं – उन्नीसवीं शताब्दी में गलता (जयपुर) चित्रकूट, जनकपुर और अयोध्या की मधुर भाव की उपासना भी इन आचार्यो के ग्रन्थों से प्रभावित हुई है। आगे चलकर ब्रजभूमि में भी ऐसे भी सन्त हुए, जिनके भक्तगण यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि उनका वल्लभाचार्य और श्री चैतन्यदेव के सम्प्रदायों से किसी प्रकार भी सम्वन्ध है। उनका सम्बन्ध इन सम्प्रदायों से हो चाहे न हो, परन्तु उनकी विचारधारा पर इन सम्प्रदायों के भक्तों का प्रभाव पड़ा अवश्य है।"[1]

कुछ विद्वानों ने इस भक्ति – आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। इसका खण्डन करते आचार्य हजारी प्रसाद द्विवदी लिखते हैं, "प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रूप में प्रकट हुई थी। उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खड़ी हो गयी, क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से निकल भागने का एक मात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्तिवाद ने इस अवस्या को संभाला और हिन्दुओं में नवीन और उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की। चौदहवीं शताब्दी के बाद हिन्दी साहित्य की मूल प्रेरणा भक्ति ही रही। इसके पूर्ववर्ती साहित्य में यह वस्तु नहीं है, इसीलिए उसमें न तो किसी प्रकार का स्पन्दन दिखायी देता है और न वक्तव्य – वस्तु की कोई ताजगी। चौदहवीं शताब्दी के बाद का हिन्दी साहित्य अत्यन्त संवेदनशील प्राणधारा से उद्वेलित है और महान आदर्शो से अनुप्राणित है। रोग मुक्त मनुष्य की भाँति स्वास्थ्यजन्य क्षुधा और नैरुज्यजन्य स्फूर्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। यहाँ से

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 66

हिन्दी साहित्य नये मोड़ पर खड़ा हो जाता है और यद्यपि वह पुरानी परम्परा से एकदम विच्युत नहीं हो जाता, तथापि उसमें रूप और शोभा के प्रति रुग्ण आकर्षण का अभाव है। रूप और शोभा में वह दैवीय शक्ति देख सकता है और अपने पाठकों को ऊँचे धरातल पर बैठाकर तलदेश की गन्दगी से दूर रख सकता है। इस साहित्य में कृत्रिमता का अभाव है और सहज – सरल मानव जीवन के प्रति आस्था है।"[1]

रामानन्द और बल्लभाचार्य के पहले का हिन्दी साहित्य किसी बड़े आदर्श से चालित नहीं था, आश्रयदाता राजाओं के गुण कीर्त्तन और काव्यगत रूढ़ियों पर आधारित साहित्य सूक्तियों को जन्म दे सकता है, पर वह समाज को किसी नये रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नहीं दे सकता। डॉ0 द्विवेदी का मन्तव्य है, "चौदहवीं शताब्दी से पूर्व के साहित्य ने कोई नई प्रेरणा नहीं दी। किन्तु नया साहित्य मनुष्य – जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य हे भगवद्भक्ति, आदर्श है, शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का ज्ञान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्व भक्ति है, इसलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है। उसका लक्ष्य था – राज संरक्षण, कवियश और वाक्‌सिद्धि। प्रेरक तत्व के बदलने के कारण पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद का साहित्य बिल्कुल नवीन सा जान पड़ता है। xxx इस काल का हिन्दी साहित्य उर्ध्वबाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होने से साहित्य बड़ा होता है। जिस दिन हिन्दी साहित्य इस तथ्य को भूल गया और सूक्तियों को लेकर खिलवाड़ करने के चक्कर में पड़ गया, उसी दिन से साहित्य का अधः पतन शुरु हुआ।"[2]

<u>परिवेश</u> :–

<u>राजनीतिक स्थितिः</u> – भक्तिकाल के प्रथमार्द्ध में दिल्ली पर तुगलक एवं लोदी वंश के मुसलमानों ने शासन किया और उत्तरार्द्ध में मुगल वंश के बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने मुहम्मद गौरी द्वारा भारत के विजित प्रदेशों पर

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 70
2. हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 75

तुर्कों की सल्तनत स्थापित हुई। बलवन, अलाउद्दीन खिलजी आदि सुल्तान एवं उनके सरदार साम्राज्य विस्तार के कार्यक्रम में सफल भी हुए किन्तु उनके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी रक्षा न हो सकी। अलाउद्दीन के वाद गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली की सल्तनत का विस्तार दक्षिण तक किया किन्तु उनके उत्तराधिकारी प्रान्तों में अपना अधिकार जमाए न रख सके। राजस्थान में मेवाड़ की उन्नति हुई। मालवा, गुजरात, बंगाल और तिरहुत में स्वतंत्र रियासतें थीं। बुन्देलखण्ड और उड़ीसा में भी स्वतंत्र राज्य बने। पन्द्रहवीं शती के मध्य में पठानों ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया। सोलहवीं शती के मध्य में बाबर ने राणा सांगा को पराजित कर मुगल साम्राज्य की नींव डाली। आगे हुमाँयू को पराजित कर सूरी साम्राज्य की स्थापना की। अकवर ने मुगल साम्राज्य की जड़े गहरी हो गयीं। शाहजहाँ के शासन काल में बुन्देल खण्ड में चंपतराय ने स्वतंत्रता की चेष्टा की। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति काल की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – सन् 1080 ई0 में कान्यकुब्ज और काशी तथा कर्ण के जीते हुए आस – पास के प्रदेशों पर गाहड़वार – वंशीराजा चन्द्र का अधिकार हो गया। यह बहुत प्रतापशाली राजा था। महमूद के आक्रमण और राज्यपाल के पतन के बाद दिल्ली से लेकर बिहार तक के उस प्रदेश में जिसकी भाषा आज हिन्दी है, घोर अराजकता फैल गयी थी। xxx महमूद ने कई बार आक्रमण करके उत्तरी भारत को आतंकित कर दिया था। इसलिए धर्मभीरु ब्राह्मण परिवार उत्तरभारत को छोड़कर ऐसे स्थानों में जाने का प्रयत्न करने लगे, जहाँ उन्हें संरक्षण प्राप्त हो सके और वैदिक क्रिया निर्विघ्न चलती रहे। राज्यपाल के पराजय के बाद अन्तर्वेद में अराजकता फैल गयी थी। इस क्षेत्र के ब्राह्मण सदा उत्तम और पवित्र माने जाते थे। बंगाल के सामन्त या वल्लालसेन ने, जिसका राज्यकाल सम्भवतः 11वीं शताब्दी के अन्त में और बारहवीं के प्रारम्भ था, कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को अपने राज्य में बसाया। इसी प्रकार गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं के बारे में प्रसिद्ध है कि उन्होंने उत्तर के ब्राह्मणों को बुलवाया था। कुछ ब्राह्मण अपनी इच्छा से दूर – दूर बसे। इस प्रकार इस काल में एक ओर जहाँ देश की

राजशक्ति खण्ड – विछिन्न होने लगी वहाँ वेदाध्यायी और संस्कृत विद्या के संरक्षक ब्राह्मणों का भी नाना स्थानों में विभाजन होने लगा।"[1]

जो पौधा बाबर ने लगाया था, उसका जड़ अकबर ने सींचकर उसे एक ऐसे विशाल वृक्ष का रूप दिया, जिसकी छाया दक्षिण में गोदावरी के तट तक पहुँची। अकबर के दो उत्तराधिकारियों जहाँगीर और शाहजहाँ ने न केवल मुगल साम्राज्य को अधिकाधिक विस्तृत और दृढ़ बनाया, वरन् अकबर की नीति को भी बहुत कुछ बनाए रखा। इस सन्दर्भ में डॉ द्विवेदी का विचार है कि "औरंगजेब ने मुगल साम्राज्य की बागडोर सम्भाली तो राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन हो गया, क्योंकि वह इस्लाम का कट्टर मतानुयायी था। उसने हिन्दू मन्दिर तुड़वाए, हिन्दू पर अनेक कर गाए गए, परिणाम स्वरूप हिन्दू एकता विखण्डित हो गयी। मुसलमानों को उच्च पदों पर आसीन किया गया। औरंगजेब का अधिकांश समय शिवाजी से संघर्ष करने में कटा, उसके उत्तराधिकारी अशक्त थे। नादिरशाह के आक्रमण ने भारत (दिल्ली) को बहुत नुकसान पहुँचाया, मुगल साम्राज्य समाप्तप्राय सा होने लगा। हिन्दी साहित्य का भक्ति काल अपने अन्तिम समय राजनीतिक दृष्टि से अराजकता पूर्ण हो गया। मुगल शासक एकदम अनुदार तथा अहिष्णुक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत एवं देशी भाषाओं के साहित्य – संगीत कला को प्रोत्साहन दिया।"[2]

<u>सामाजिक स्थितिः</u> – सामाजिक स्थिति का विहगावलोकन करते हुए डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "भारतीय समाज अपनी आत्मरक्षा के लिए धीर – धीरे अपने आप में ही सिमटता गया। ऊँची समझी जाने वाली जातियों में सुरक्षित स्थान में पहुँचकर अपनी विशेषता बनाये रखने का उद्योग शुरु हुआ और इस प्रकार देश – विदेश के नाम से अपना परिचय देने की प्रथा चल पड़ी। दसवीं शताब्दी के पहले के दान – पत्रों में ब्राह्मणों के केवल गोत्र और प्रवर का उल्लेख मिलता है, किन्तु बाद के दान – पत्रों में देश और ग्राम भी दिये जाने लगे और यह संकोचनशील प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गयी।

इस प्रकार यह अद्भुत विरोधाभास है कि जाति – पाँति के कुफ्र को

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – भाग – 5 पृ0 सं0 354
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – भाग – 5 पृ0 सं0 78

तुर्को की सल्तनत स्थापित हुई। बलवन, अलाउद्दीन खिलजी आदि सुल्तान एवं उनके सरदार साम्राज्य विस्तार के कार्यक्रम में सफल भी हुए किन्तु उनके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी रक्षा न हो सकी। अलाउद्दीन के वाद गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली की सल्तनत का विस्तार दक्षिण तक किया किन्तु उनके उत्तराधिकारी प्रान्तों में अपना अधिकार जमाए न रख सके। राजस्थान में मेवाड़ की उन्नति हुई। मालवा, गुजरात, बंगाल और तिरहुत में स्वतंत्र रियासतें थीं। बुन्देलखण्ड और उड़ीसा में भी स्वतंत्र राज्य बने। पन्द्रहवीं शती के मध्य में पठानों ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया। सोलहवीं शती के मध्य में बाबर ने राणा सांगा को पराजित कर मुगल साम्राज्य की नींव डाली। आगे हुमाँयु को पराजित कर सूरी साम्राज्य की स्थापना की। अकबर ने मुगल साम्राज्य की जड़े गहरी हो गयीं। शाहजहाँ के शासन काल में बुन्देल खण्ड में चंपतराय ने स्वतंत्रता की चेष्टा की। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति काल की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – सन् 1090 ई0 में कान्यकुब्ज और काशी तथा कर्ण के जीते हुए आस – पास के प्रदेशों पर गाहड़वार – वंशीराजा चन्द्र का अधिकार हो गया। यह बहुत प्रतापशाली राजा था। महमूद के आक्रमण और राज्यपाल के पतन के बाद दिल्ली से लेकर बिहार तक के उस प्रदेश में जिसकी भाषा आज हिन्दी है, घोर अराजकता फैल गयी थी। xxx महमूद ने कई बार आक्रमण करके उत्तरी भारत को आतंकित कर दिया था। इसलिए धर्मभीरु ब्राह्मण परिवार उत्तरभारत को छोड़कर ऐसे स्थानों में जाने का प्रयत्न करने लगे, जहाँ उन्हें संरक्षण प्राप्त हो सके और वैदिक क्रिया निर्विघ्न चलती रहे। राज्यपाल के पराजय के बाद अन्तर्वेद में अराजकता फैल गयी थी। इस क्षेत्र के ब्राह्मण सदा उत्तम और पवित्र माने जाते थे। बंगाल के सामन्त या वल्लालसेन ने, जिसका राज्यकाल सम्भवतः 11वीं शताब्दी के अन्त में और बारहवीं के प्रारम्भ था, कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को अपने राज्य में बसाया। इसी प्रकार गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं के बारे में प्रसिद्ध है कि उन्होंने उत्तर के ब्राह्मणों को बुलवाया था। कुछ ब्राह्मण अपनी इच्छा से दूर – दूर बसे। इस प्रकार इस काल में एक ओर जहाँ देश की

राजशक्ति खण्ड – विछिन्न होने लगी वहाँ वेदाध्यायी और संस्कृत विद्या के संरक्षक ब्राह्मणों का भी नाना स्थानों में विभाजन होने लगा।"[1]

जो पौधा बाबर ने लगाया था, उसका जड़ अकबर ने सींचकर उसे एक ऐसे विशाल वृक्ष का रूप दिया, जिसकी छाया दक्षिण में गोदावरी के तट तक पहुँची। अकबर के दो उत्तराधिकारियों जहाँगीर और शाहजहाँ ने न केवल मुगल साम्राज्य को अधिकाधिक विस्तृत और दृढ़ बनाया, वरन् अकबर की नीति को भी बहुत कुछ बनाए रखा। इस सन्दर्भ में डॉ द्विवेदी का विचार है कि "औरंगजेब ने मुगल साम्राज्य की बागडोर सम्भाली तो राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन हो गया, क्योंकि वह इस्लाम का कट्टर मतानुयायी था। उसने हिन्दू मन्दिर तुड़वाए, हिन्दू पर अनेक कर लगाए गए, परिणाम स्वरूप हिन्दू एकता विखण्डित हो गयी। मुसलमानों को उच्च पदों पर आसीन किया गया। औरंगजेब का अधिकांश समय शिवाजी से संघर्ष करने में कटा, उसके उत्तराधिकारी अशक्त थे। नादिरशाह के आक्रमण ने भारत (दिल्ली) को बहुत नुकसान पहुँचाया, मुगल साम्राज्य समाप्तप्राय सा होने लगा। हिन्दी साहित्य का भक्ति काल अपने अन्तिम समय राजनीतिक दृष्टि से अराजकता पूर्ण हो गया। मुगल शासक एकदम अनुदार तथा अहिष्णुक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत एवं देशी भाषाओं के साहित्य – संगीत कला को प्रोत्साहन दिया।"[2]

<u>सामाजिक स्थिति:</u> – सामाजिक स्थिति का विहगावलोकन करते हुए डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "भारतीय समाज अपनी आत्मरक्षा के लिए धीर – धीरे अपने आप में ही सिमटता गया। ऊँची समझी जाने वाली जातियों में सुरक्षित स्थान में पहुँचकर अपनी विशेषता बनाये रखने का उद्योग शुरु हुआ और इस प्रकार देश – विदेश के नाम से अपना परिचय देने की प्रथा चल पड़ी। दसवीं शताब्दी के पहले के दान – पत्रों में ब्राह्मणों के केवल गोत्र और प्रवर का उल्लेख मिलता है, किन्तु बाद के दान – पत्रों में देश और ग्राम भी दिये जाने लगे और यह संकोचनशील प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गयी।

इस प्रकार यह अद्भुत विरोधाभास है कि जाति – पाँति के कुफ्र को

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – भाग – 5 पृ0 सं0 354
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – भाग – 5 पृ0 सं0 78

तोड़ने वाले धर्म सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने के बाद हिन्दुओं की जाँति – पाँति की प्रथा और भी संकीर्ण और कठोर हो गयी और कसी जाने लगी। इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पड़ी हुई बहुत – सी जातियाँ छँट गयीं और बहुत दिनों तक ना हिन्दू ना मुसलमान बनी रहीं। बहुत–सी पाशुपत मत को मानने वाली और सँन्यासी से गृहस्थ वनी जातियाँ धीरे – धीरे मुसलमान होने लगीं। इस प्रकार काशी की जुलाहा जाति नाथमत को माननेवाली थी, जो निरन्तर उपेक्षित रहने के कारण मुसलमान होती गयी।"[1]

मुसलमानों के भारत – आगमन से दो संस्कृतियों का मिलन हुआ, हिन्दू – मुसलमानों ने एक दूसरे को समझने का प्रयास किया, कुछ राजपूत नरेशों ने अपनी स्वतंत्रता सुरक्षित रखने का प्रयास करते रहे। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति – काल की सामाजिक पृष्ठभूमि के मोलिक तथ्य प्रस्तुत किए हैं, "जिन दिनों निगुर्ण भक्ति – साहित्य का बीजारोपण हुआ, उन दिनों अनेक उथल – पुथल के वाद भारतीय जनता का स्तरभेद प्रायः स्थिर और दृढ़ हो चुका था, मोटे तोर पर हम सन् ईसवी की चोदहवीं शताब्दी में इस नवीन साधना का बीजारम्भ मान सकते हैं। इसके पहले के दो – तीन सो वर्षो में भारतीय धर्म साधना के क्षत्र में काफी उथल – पुथल हुई थी, यद्यपि मुसलमानों का प्रवेश इस देश के एक भू–भाग में सातवीं – आठवीं शताब्दी में ही हो चुका था, तथापि प्रभावशाली मुस्लिम आक्रमण दसवीं शताब्दी के बाद शुरू हुए।

यह बड़ा विकट काल था, एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे, दूसरी ओर बोद्ध साधना क्रमशः मंत्र – तंत्र, टोने – टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था, फिर भी बोद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था, जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था, यद्यपि इनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत प्रयत्न किया है कि उनके मार्ग को श्रुति सम्मत मान लिया जाय, परन्तु यह सत्य है कि अनेक शैव, शाक्त

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास पृ0 सं0 69

ऐसे समुदाय ऐसे थे, जो वेदाचार्य को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार्य मानते थे और ब्राह्मण प्राधान्य को एकदम नहीं स्वीकार करते थे।

<u>धार्मिक स्थितिः</u> – भक्तिकाल के प्रारम्भ में भारतीय समाज उन संघर्ष मय धार्मिक चेतना की परिस्थितियों से गुजर रहा था, जो नाना प्रकार के भेदों एवं विरोधों के मध्य समन्वय करने के लिए प्रयत्नशील थीं। उस युग में एक ओर वैदिक सम्प्रदाय था तो दूसरी ओर इनका विरोधी नाथ – सिद्ध सम्प्रदाय ब्राह्मण धर्म का विरोध कर रहा था। बौद्ध धर्म, हीनयान – महायान दो वर्गो में विभाजित हो चुका था। हीनयान पर वैदिक धर्म की औपनिषद् धारा का प्रभाव था, महायान जीवन और धर्म के दार्शनिक चिन्तन से मुक्त करके उसे जनसाधारण के लिए सुलभ बनाया। अशिक्षित सामान्य वर्ग को इस सम्प्रदाय के स्थविरों ने चमत्कार प्रधान निम्नकोटि की क्रियाओं से आकर्षित किया। इस कारण महायान में तन्त्र – मन्त्र, हठयोग, व्यभिचार वशीकरण आदि चमत्कार – प्रधान निम्नकोटि की क्रियाओं का प्रावल्य बढ़ने लगा। यह शैवों की वाममार्गी तन्त्र साधना का ही एक नवीन किन्तु विकृत रूप था। इनका सिद्धान्त था कि विषय भोगों के अबाध सेवन से उनके प्रति आसक्ति मिट जाती है। इसी कारण इस धर्म में मॉंस – भक्षण मदिरापान एवं डोमिनी – भोग आदि उन्मुक्त व्यवहार को प्रधानता मिली। इस वाममार्गी साधना को पाखण्डियों ने भोग – विलास का साधन बना लिया। साधकों ने इस महायान के विकृत रूप मन्त्रयान को संशोधित करके वज्रयान बनाया। चौरासी सिद्धों ने वज्रयान अर्थात् व्यक्तिगत निर्मल चरित्र पर आधारित धार्मिक साधना एवं सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया, किन्तु कुछ समय बाद यह साधना पद्धति भी विकृत हो गयी और वामपंथी साधकों ने हठयोग की साधना प्रचलित की। इन साधकों ने नारी, मद्य – मॉंस, का पूर्ण बहिष्कार करके व्यक्तिगत चरित्र की निर्मलता और दृढ़ता को ही साधना का मूल आधार बनाकर आत्म – परिष्कार एवं आत्म – निग्रह प्रधान साधना को प्रचलित किया। उन्होंने इस साधना को इतना कठोर और जटिल बना दिया कि पाखण्डियों को इसमें प्रश्रय मिलना समाप्त हो गया, भक्तकालीन सन्त कवियों पर नाथ पन्थ के हठयोग का गहरा प्रभाव पड़ा।

सुरति शब्द पुराने स्मृति शब्द का अपभ्रंश है, स्मृति अर्थात पुरानी बातों को याद करना, लेकिन इस स्मृति शब्द से जिस सुरति शब्द का विकास हुआ है, वह केवल स्मृति रूप नहीं है, उसमें प्रेम का भाव भी है, स्मरण में प्रीति होनी चाहिए और रम जाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। निरति, संसार से विरक्त होनी है, जब तक बाह्य जगत् से वैराग्य न हो, तब तक अन्तः स्थित परम प्रेयान् के साथ सुरति नहीं चल सकती। निरति बाह्यविषयों के प्रति आसक्ति। xxx शाक्त साधाकों के जटिल रूप – विधान और मन्त्र – विधान के साथ इसकी तुलना करके देखें, तो स्पष्ट पता चलेगा कि जिस बात को वे लोग कहना चाहते हैं, उसी बात को सन्त लोगों ने भी कहा है, परन्तु उसे सहज ग्राह्य और सरस बनाकर। हृदय – गुहा में स्थित परम प्रेयान् की प्रीति के रस को जिस ध्यान से और जिस स्मृति से प्राप्त किया जा सकता है, वह सहज, सरस और समझ में आने योग्य है। नाथ – साधकों के साहित्य में भी यह शब्द आ जाता है और यद्यपि तत्त्वतः वह भी क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने वाली स्मृति को ही सूचित करता है तथापि कबीरदास द्वारा प्रयुक्त सुरति शब्द की स्निग्धता और प्रीति भाव उसमें नहीं है।"[1]

निर्गुण भक्ति के बारे में डॉ0 द्विवेदी का विचार है कि, "जिन दिनों निगुर्ण भक्ति साहित्य का बीजारोपण हुआ, उन दिनों अनेक उथल – पुथल के बाद भारतीय जनता का स्तर भेद प्रायः स्थिर और दृढ़ हो चुका था। मोटे तौर पर हम सन् ईसवी की चौदहवीं शताब्दी में इस नवीन साधना का बीजारम्भ मान सकते हैं। इसके पहले दो – तीन सौ वर्षो में भारतीय धर्म – साधना के क्षेत्र में काफी उथल – पुथल हुई थी, यद्यपि मुसलमानों का प्रवेश इस देश के एक भू – भाग में सातवीं – आठवीं शताब्दी में हो चुका था, तथापि प्रभावशाली मुस्लिम आक्रमण दसवीं शताब्दी के बाद शुरू हुए, यह बड़ा विकट काल था।

एक ओर मुसलमान लोग, भारत में प्रवेश कर रहे थे, और दूसरी ओर

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – भाग – 5 पृ0 सं0 176 – 177

बौद्ध साधना क्रमशः मंत्र – तंत्र और टोने – टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चला था, फिर भी बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय, ऐंसा था, जो ब्राह्मणों और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था, यद्यपि इनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत प्रयत्न किया है कि उनके मार्ग को श्रुति सम्मत मान लिया जाए, परन्तु यह सत्य है कि अनेक शैव और शाक्त समुदाय ऐसे थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण प्राधान्य को एकदम नहीं स्वीकार थे।"[1]

"भक्ति समुदाय के पढ़ने वाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है, विशेष कर निगुर्ण भक्ति के अध्येता को वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण को अपने अज्ञान का भरोसा। एक के लिए पिण्ड ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिण्ड, एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राग पर, एक प्रेम को दुर्वल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर, एक योगी था दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का साहित्य है, जिसमें एक ओर कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घर फूँक मस्ती वाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतंत्र नहीं है, इसमें सहजयान वज्रयान की तथा शैव और तंत्र मत की अनेक साधनाएं और चिन्ताएं आ गयी हैं तथा दक्षिण के भक्ति प्रचारक, आचार्यो की शिक्षा के द्वारा वैदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएं भी।"[2]

<u>सांस्कृतिक चेतनाः</u> – भक्ति युग में हमें सांस्कृतिक चेतना के क्षेत्र में समन्वय का महान प्रयत्न दिखायी पड़ता है। सांस्कृतिक चेतना की सर्व श्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौमि सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्तन धारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं। भारतीय जीवन में समय – समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं, परन्तु इन्हीं से जीवनी – शक्ति का संचार होता रहा है कि हम डूबते – डूबते उभरते चले आए हैं, निस्तेज या

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – भाग – 5 पृ0 सं0 267

निष्प्रभ न होकर नव – जीवन की अरुणिमा से महिमा – मंडित होत रहे हैं, इन सबके मूल में हमारी समन्वय – साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है। जो ब्राह्मण युग (ई0 पू0 800 से ई0 पू0 600) से ही उत्तर भारत में व्यक्त हो चुकी थी, दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी – देवताओं के बाह्य विधाओं से बिदक कर श्रमण संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खोज निकालने का यत्न आरम्भ किया, परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर दोनों ही क्षयमान हो गये। मौर्य साम्राज्य के बिखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नये ओज ओर तेज के साथ अभ्युत्थान हुआ। पुष्यमित्र के शासन काल में समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए सूत्रो – स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गो – ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी। "मध्यकालीन हिन्दू – समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं – एक वह जो शास्त्रों का सर्मथक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है, परन्तु हम बहुधा यह पाते हैं कि दोनो पक्षों में परस्पर अन्तरावलम्बन है। कभी जन–घोषित विश्वास शास्त्र – सम्मत बन जाते हैं तो कभी शास्त्र विहित मान्यताएं जनता द्वारा अस्वीकृत हो जाती हैं। शास्त्र की दुहाई देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर है। इसी आस्था के कारण विपक्षी अथव विरोधी के प्रति सहिष्णुता भाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित उदार व्यवहार का शुभारम्भ होता है। xxx ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देश – काल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना 'धर्म' है। धर्माचार्य अथवा नैतिकता समाज परक है और धर्म – साधना व्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साधक का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है।"[1]

मध्यकाल में धर्म साधनों की बाढ़ सी आ गई और गुह्य साधनों के अन्तर्गत कृच्छ साधनाएं भी प्रवेश पा गयीं। धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्यभिचार तक पलने लगा, फलस्वरूप ज्ञान – चर्चा की आड़ में

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास: संपा0 डॉ0 नगेन्द्र पृ0 सं0 114

पाखण्ड को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गयी। बाह्याडम्बर तथा कर्म काण्डादि बाह्य विधान के प्रति व्यंग्य किये जाने लगे। इस सन्दर्भ में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का मन्तव्य है कि, "मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा, परन्तु इस व्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता की कल्पना के कारण मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा। धीरे – धीरे उसने ब्रह्म **ईश्वर** नाम दिया। ईश्वर अर्थात् समर्थ ऐश्वर्यमय। इस ऐश्वर्यमय के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धार कर्त्ता समझा। मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं है। इन्हीं मनोवृत्तियों के फलस्वरूप मनुष्य जाति ने अनेक प्रकार से चित्र, मूर्ति मन्दिर आदि निर्माण किये, अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे।"[1]

भक्ति काल की सांस्कृतिक स्थित पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 द्विवेदी का विचार है कि, "जिस काल से हिन्दी साहित्य बनना शुरू हुआ, वह काल भारतीय इतिहास का बहुत ही उथल – पुथल और परिवर्तन का काल है। इस समय देश की केन्द्रिय शक्ति क्षीण हो गयी थी और पश्चिम सीमान्त से मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। आक्रमण होना कोई नयी बात नहीं थी, इसके पहले भी भारत पर अनेक आक्रमण हो चुके थे, परन्तु वे आक्रमण अधिकतर सैनिक और राजनैतिक आक्रमण थे, परन्तु इस बार का आक्रमण एक विशिष्ट धर्ममत और संस्कृति का भी आक्रमण था। इस बार के आक्रमणकारी एक संगठित धर्म या मजहब के अनुयायी थे। मजहब और संगठित धर्मसंस्था भारत के लिए अपरिचित ही थी। इस धर्म मत में एक ईश्वर को माना जाता है, एक आचरण का पालन किया जाता है, और ये लोग जब किसी नस्ल, कबीले या जाति के व्यक्ति को एक बार अपने संगठित समूह में मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषताएं दूर हो जाती हैं। यहाँ धार्मिक साधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और समाजिक विधि निषेध एक दूसरे से गुथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियों का सम्मिश्रण था, किसी जाति का कोई व्यक्ति दूसरे में नहीं जा सकता था।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रन्थावली – भाग –5 – पृ0 सं0 – 367

मजहब ठीक इससे उल्टा है, वह व्यक्ति को अपने समूह का अंग बना देता है, और अंगीकृत होने के बाद व्यकित की जाति हमेशा के लिए गायब हो जाती है"।[1]

भक्ति काल में विधि उपासना सम्प्रदाय :

दसवीं शताव्दी तक बोद्ध धर्म विकृत होकर 'बज्रयान' और 'महायान' की तंत्र मंत्र की साधना में परिणित हो चुका था। वज्रयानी सिद्ध धीरे धीरे पतित हो गए। नाथपंथ ने समाज में दुराचार फैलाने वाले इन सिद्धों का विरोध किया। नाथपंथ में सहज जीवन और आन्तरिक सुचिता का आग्रह अधिक था। इस सम्वन्ध में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है, "वज्रयानी और नाथपन्थी योगी डटकर जातिभेद पर आघात करता था, बाह्याचार और उन्मूलक श्रेष्ठता का फटकार बताता था और चोरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकते हुए माया के मुलाम गृहस्थों से अपने को श्रेष्ठ समझता था, दक्षिण में आया हुआ भक्तिवाद समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था और ऊँच नीच मर्यादा को स्वीकार करके भी उसकी कठोरता को सिथिल करने में सफल हुआ। इनके पास अनन्य शक्ति, ऐश्वर्य और प्रेम के आकार लीलामय भगवान की भक्ति का सम्वल था।" 2

1. **रामानन्द सम्प्रदाय** : इस भक्ति आन्दोलन के आरम्भ में इस युग के महागुरु रामानंद का नाम सुनाई देता है "माघ कृष्ण सप्तमी सम्वत् 1356 वि0 अर्थात् सन् ईसवी की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में इनका जन्म हुआ था और लगभग पूरी चोदहवीं शताब्दी भर में अपने धार्मिक प्रचार का कार्य करते रहे। इनके लिखे तीन संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हैं आनन्द भाष्य दूसरा श्री रामार्चन पद्धति और तीसरा वैष्णव मताब्जभास्कर। xxxx इसकी भाषा का एक नमूना इस प्रकार है

मस्तीन सुरवा डाहिवी। आसीम ओरम थाहिवी।।
धीधी धुना नुप जाहिवी। फीकी फिना सत साहिवी।।

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 68
2. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 70

रामानुज और रामानन्द के सम्बन्ध में डॉ0 द्विवेदी कर मन्तव्य है कि "कुछ पण्डितों का दावा है कि रामानन्द चाहे जिस दृष्टि से रामानुज के मतावलम्बी क्यों न रहे हों, तत्व दृष्टि से तो उनके मतावलम्बी नहीं थे। कुछ दूसरे पण्डित ठीक इसके विरूद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं। वे तत्व दृष्टि से तो रामानन्द को रामानुज का अनुयायी मानते हैं, पर उपासना पद्धति में एकदम अलग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारी परम्पराएं रामानन्द का रामानुज सम्प्रदाय से सम्बन्ध बताती हैं, पर साथ ही कुछ ऐसी दलीलें भी उपस्थित की गईं हैं। जिससे इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है कि दोनों आचार्यो का सम्बन्ध दूर दूर का ही था। कहा गया कि रामानन्द द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में राम और सीता को जिस प्रकार एकमात्र परमाध्य माना जाता है, उस प्रकार रामानुज के प्रवर्तित श्री वेष्णव सम्प्रदाय में नहीं माना जाता। श्री वैष्णव सभी अवतारों की उपासना करते हैं, फिर भी रामानन्दी लोगों में जो मंत्र प्रचलित हैं, वे भी रामानुज सम्प्रदाय के मन्त्र से भिन्न हैं। उनका तिलक रामानुजीमत के तिलक से मिलता – जुलता है। फिर भी हू–ब–हू वही नहीं है बल्कि थोड़ा भिन्न हें। स्वयं रामानन्द जी त्रिदण्डी सँन्यासी नहीं थे, यह भी सिद्ध किया गया हैं। फिर एक बात ओर भी विचरणीय है – रामानन्दी सम्प्रदाय का नाम भी हू–ब–हू वही नहीं जो रामानुजीय सम्प्रदाय का है। इस प्रकार नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों सम्प्रदायों में सभी महत्त्वपूर्ण बातों में भेद है:

	रामानुजीय	रामानन्दीय
सम्प्रदाय	श्री वैष्णव सम्प्रदाय	ऊँ श्रीसम्प्रदाय
मन्त्र	नमो नारायण	ऊँ रामायनमः
भाष्य	श्री भाष्य	आनन्दभाष्य

फिर भी परम्परा से रामानन्द का सम्बन्ध रामानुजीय सम्प्रदाय से सिद्ध हैं। इसका एक समाधान इस प्रकार से किया गया है कि तमिल देश में बहुत पुराने जमाने से कोई राम सम्प्रदाय चला आ रहा था जो कभी श्री वैष्णवों में प्रविष्ट हो गया

था। रामानन्द उसी सम्प्रदाय के आचार्य थे।"[1]

श्री रामानुज और श्री वल्लभाचार्य ने इस काल के साहित्य को प्रधान रूप से प्रभावित किया। हिन्दी भाषी प्रदेशों में जो धर्म – साधनाएं उन दिनों प्रचलित थीं, उन पर इन आचार्यो द्वारा प्रवर्तित भक्ति – भावधारा का प्रभाव पड़ा। निगुर्ण भावापन्न योगप्रधान भावधारा के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ा और वह निगुर्ण मार्ग के रूप में प्रकट हुआ। प्रेमलीला – प्रधान सगुण भावधारा के क्षेत्र में वह श्रीकृष्णअवतार को केन्द्र करके अपूर्व प्रेमाभक्ति के रूप में प्रकट हुआ और स्मार्त्तभाव प्रधान पौराणिक विश्वासों के क्षेत्र में उसने राम – अवतार को केन्द्र करके अत्यन्त विशाल रूप में आत्म प्रकाश किया। इस प्रकार यह भक्ति का अंकुर तीन रूप में विकसित हुआ। यही भक्ति – साहित्य की हिन्दी की मुख्य भावधारा है। इसी ने उत्तर भारत के लोकचित्त को मथित और चालित किया है; इसी ने उसे नवीन लक्ष्य और नवीन आदर्श दिये हैं।

गुरु रामानन्द के बारह शिष्यों की चर्चा **नाभादास** के **भक्तमाल** में हैं।

1. अनन्तानन्द, 2. सुखानन्द, 3. सुरसुरानन्द, 4. नरहर्यानन्द, 5. भावानन्द, 6. पीपा, 7. कबीर, 8. सेना, 9. धना, 10. रेदास, 11. पद्मावती, 12. सुरसुरी। इनमें से कई भक्तों का तथाकथित छोटी जातियों में उत्पन्न कहा जाता है। उस काल में उच्च समझे जाने वाले वर्ण के लोग छोटी समझी जाने वाली जातियों के प्रति जिस दृष्टि से देखते थे, उसे देखते हुए रामानन्द का अद्भुत साहस, मानव – प्रेम और औदार्य आश्चर्यचकित करने वाले हैं। यदि नाभादास जी का वक्तव्य विश्वसनीय हो तो मानना पड़ेगा कि उन्होंने अपने शिष्यों पर किसी प्रकार का आचार धर्म लादा नहीं। प्रत्येक को अपने स्वभाव, रुचि और संस्कार के अनुसार भक्ति की साधना की छूट दी। यह महागुरु ही कर सकता है। शिष्य को अपने व्यक्तित्व को

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास पृ0 सं0 72

व्यक्तित्व को विकसित करने का पूर्ण अवसर आकाशधर्मा गुरु ही दे सकता हैं।

<u>नामदेव:</u> – नामदेव कबीर के पूर्ववर्ती निगुर्ण भाव के साधक थे। कबीर ने अपनी पुस्तकों में बड़े गौरव के साथ इनका नाम लिया है और **गुरुगन्थसाहब** में इनके भजनों का बड़े आदर के साथ संग्रह किया गया हे। कहते हैं कि ये जाति के छीपी थे। महाराष्ट्र के सतारा जिले में नरसी बैनी गाँव में 1267 ई0 में इनका जन्म बताया जाता है। इनके गुरु सन्त विसोबा खेचर थे और सन्त ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी भक्ति थी। नामदेव के भजन मराठी और हिन्दी दोनों में उपलब्ध हैं। हिन्दी भजन **गुरुग्रन्थसाहब** में संग्रहीत हैं।

<u>कबीर सम्प्रदाय का साहित्य:</u> – "यह कह सकना कठिन है कि कबीर सम्प्रदाय का संघटन कब आरम्भ हुआ। कबीरपन्थ की इस समय दो मुख्य शाखाएं हैं – कबीर – चौरा (बनारस) वाली और छत्तीसगढ़वाली। दोनों की गुरु – परम्पराएं उपलब्ध हैं। दोनों का दावा है कि उनके संस्थापक कबीर के साक्षात् शिष्य थे। अब, जहाँ तक कबीरदास का सम्बन्ध है, वे सम्प्रदाय – स्थापना के विरोधी थे, उनके पुत्र कमाल से सम्प्रदाय स्थापना के लिए प्रार्थना की गयी थी, पर उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि ऐसा करने से हमें "आध्यात्मिक गुरु हत्या का पाप लगेगा। कहते हैं इसी अपराध के कारण शिष्यों में यह उक्ति प्रचलित हुई कि 'बूड़ा वंश कबीर का जो उपजा पूत कमाल।"[1]

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि कमाल के विरोध के होते हुए भी सुरत गोपाल और धर्मदास को आश्रय करके कबीर का सम्प्रदाय गठित होकर ही रहा।

<u>सुरत गोपाली शाखा:</u> – कबीरचौरा की गुरु परम्परा इस प्रकार है। (1) कबीर (2) सुरत गोपाल (3) ज्ञानदास (4) श्यामदास (5) लालदास (6) हरिदास (7) सीतलदास (8) सुखदास (9) हुलासदास (10) माधोदास (11) कोकिलदास (12) रामदास (13) महादास (14) हरिदास

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास पृ0 सं0 85

(15) शरणदास (16) पूरनदास (17) निर्मल दास (18) रंगीदास
(19) गुरु प्रसाद (20) प्रेमदास (21) रामविलास दास

<u>धर्मदासी शाखा:</u> – इसके प्रवर्तक धर्मदास कहे जाते हैं, धर्मदासी शाखा की गद्‌दी वर्तमान में धामखेड़ में है –

(1) धर्मदास (2) चूड़ामनिनाम (3) सुदर्शन नाम (4) कुलपति नाम
(5) प्रबोध नाम (6) गुरु वाला पीर (7) केवल नाम (8) सुरतसोही नाम
(9) हक्कनाम (10) पाक नाम (11) प्रगटनाम (12) धीरजनाम
(13) उग्रनाम (14) दयानाम।

इस सम्बन्ध में डॉ० द्विवेदी का विचार है कि, "धर्मदासी शाखा के बारे में कुछ अधिक कहा जा सकता है। सोभाग्यवश इस शाखा की गुरू परम्परा भी प्राप्य है। इस शाखा के अनुयायियों का विश्वास है कि कबीरदास ने स्वयं धर्मदास के वंशजो का बयालिस पीढ़ी तक गद्‌दी पाने की भविष्यवाणी की थी और यह भी कहा था कि प्रत्येक गुरु 25 वर्ष और 21 दिन तक गद्‌दी पर विराजेगा। इस शाखा के अनुयायी इस भविष्यवाणी पर विश्वास करते आये हैं, पर हाल के गुरुओं का इतिहास इस विश्वास में बाधक बना है। इस सम्प्रदाय की जो गुरु–परम्परा प्राप्त है उसमें ग्यारहवें गुरु प्रगटनाम का स्वर्गवास 1869 ई० में हुआ।"[1]

ऐसा जान पड़ता है कि कबीर की मृत्यु के बहुत बाद धर्मदास मथुरा गये थे और उन्हें भावरूप में कबीर का साक्षात्कार हुआ था। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि कबीर साहब के तिरोधान के बहुत बाद सम्प्रदाय का संघटन हुआ था।

<u>भगताही पन्थ:</u> – धनोती मठ के भगताही पन्थ ने साहित्य को क्या दिया है, यह अभी स्पष्ट नहीं हो सका है। कहते हैं कि **बीजक** प्रथम बार यहीं से प्रचारित हुआ था। इस ग्रन्थ संस्थापक महात्मा भगवान दास थे। हाल ही में पं० राम खेलावन गोस्वामी ने मूल **बीजक** का पाठ प्रकाशित कराया है जो भगवान

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्‌भव और विकास पृ० सं० 86

गोस्वामी साहिब का पाठ बताया गया है। इस पुस्तक में इस पन्थ के इक्कीस गुरुओं का नामोल्लेख है। इस सम्बन्ध में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि, "कबीर साहेबि – भगवान गोसाई – घनश्याम गोसाई – उद्धोरण गोसाई – दवन गोसाई – गुणाकर गोसाई – गणेश गोसाई – कोकिल गोसाई – बनवारी गोसाई – नयन गोसाई – भीषम गोसाई – भूपाल गोसाई – परमेश्वर गोसाई – गुणपाल गोसाई – शेषमान गोसाई – जयमन गोसाई – हरिनाम गोसाई – स्वरूप गोसाई – रामरूप गोसाई – रघुनन्दन गोसाई – रामधारी गोसाई। मूल **बीजक** के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय ने और क्या साहित्य दिया है, यह पता नहीं।"[1]

रैदासः – रामानन्द के शिष्य कहे जाने वाले अन्य सन्तों में कुछ थोड़े से ही ऐसे हैं, जिन्हें साहित्य के इतिहास में विवेचनीय समझा जा सकता है। भिन्न कालों में जिन साधकों की रचनाएं प्राप्त हुई हैं, उनकी चर्चा यहाँ की जा रही है। इनमें प्रथम और प्रमुख तो चमार जाति के भूषण रैदास हैं जिनकी कोई 'पूरी पुस्तक अभी तक उपलब्ध नहीं है, लेकिन उनकी फुटकल वाणियाँ प्राप्त हुई हैं। कहा जाता है कि रैदास कि शिष्य उदयदास थे और उनके शिष्य वीरभानु थे, जिन्होंने पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इन सब बातों पर विचार करने से यह जान पड़ता है कि ये कबीर से कुछ बाद में उत्पन्न हुए होंगे। सम्भवतः सन् ईस्वी की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में यह वर्तमान थे। आदिग्रन्थ में इनके 100 के करीब पद संग्रहीत हैं। रैदास के भजनों में अत्यन्त शान्त और निरीह भक्त – हृदय का परिचय मिलता है। साधारणतः निगर्ण सन्तों में कुछ न कुछ सुरति, निरति और इंगला, पिंगला का विचार आ ही जाता है। रैदास के कुछ भजनों में भी वे स्पष्ट आये हैं, परन्तु रैदास की वाणियाँ इन उलझनदार बातों से मुक्त हैं। यद्यपि उनमें अद्वैत, वेदान्तियों के परिचित उपमानों तथा नाथों और निरंजनों के सहज, शून्य आदि शब्द भी आ जाते हैं, फिर भी उनमें किसी प्रकार की वक्रता या अटपटापन नहीं है और न ज्ञान के दिखावे का आडम्बर ही है।

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 89

रैदास के बारे में डॉ0 द्विवेदी का विचार है कि, "अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म – समपर्ण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम सन्तों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्सन्देह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं। सीधे – सादे पदों में सन्त कवि के हृदभाव बड़ी सफाई से प्रकट हुए हैं और वे अनायास सहृदय को प्रभावित करते हैं।"[1]

<u>सधना, सेना, पीपा, धना</u> :–

दूसरे भक्तों में सन्त सधना है, जिन्हें कसाई जाति का बताया जाता है, अनुमान किया जाता है कि नामदेव के समकालीन थे। भक्त सेना या सेन नाई जाति के थे, सन्त ज्ञानेश्वर का शिष्य बताया जाता है। इनके मराठी भाषा में लिखित पद प्राप्त हुए, सम्भवतः ये दक्षिण से चलकर उत्तर में रामानन्द के सम्पर्क में आए थे। पीपा जी रामानंद के शिष्य थे, डॉ0 फर्कुहर के अनुसार इनका 1482 ई0 में जन्म हुआ। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी इनका कार्यकाल 1418 – 68 ई0 मानते हैं, जो अधिक प्रमाणिक है ये राणा कुम्भा के समकालीन थे।

<u>बावरी साहिबा और उनका सम्प्रदाय:</u> – बाबरी साहिवा द्वारा प्रवर्तित बाबरी सम्प्रदाय के सन्त भी अपना सम्बन्ध स्वामी रामानन्द से जोड़ते हैं। सम्प्रदाय की अनुश्रुतियों के अनुसार बावरी साहिबा मायानन्द की शिष्या थीं और मायानन्द रामानन्द के प्रशिष्य और दयानन्द के शिष्य थे। इस प्रकार यह सम्प्रदाय भी अपना सम्बन्ध सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द के साथ जोड़ता है। दयानन्द और मायानन्द दोनों ही गाजीपुर जिले के पटना गाँव के निवासी बताये जाते हैं, परन्तु इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हुई। बावरी साहिबा अकबर की समकालीना थी और अच्छी कविता लिख लेती थीं। यह बावरी नाम सम्भवतः भगवत्प्रेम में मस्त रहने के कारण पड़ा था।

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 91

<u>कमालः</u> – इसी प्रकार कमाल भी कबीर साहब के पुत्र बताये जाते हैं और यह प्रसिद्ध है कि जब उनसे कबीर सम्प्रदाय की स्थापना की बात कही गयी थी तो वे राजी नहीं हुए और कबीर के दुनियादार चेलों ने खिन्न होकर कहा था:

"बूड़ा वंश कबीर का जो उपजे पूत कमाल।"

उनके नाम पर चलने वाले कुछ पद संग्रह – ग्रन्थों में मिल जाते हैं। परन्तु इनकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। इन पदों में वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों के प्रति इनकी निष्ठा प्रतीत होती है। इनकी समाधि मगहर में कबीर जी की समाधि के पास ही है।

<u>दादूदयालः</u> – राजपूताना के प्रसिद्ध सन्त दादूदयाल (1544 – 1602 ई0) का सम्बन्ध कमाल से जोड़ा जाता है। इनका जन्म स्थान अहमदाबाद बताया जाता है, परन्तु अहमदाबाद में इनका कोई स्मारक नहीं मिलता। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण वंश में उत्पन्न बताते हैं और कुछ लोग धुनिया वंश में। पं0 सुधाकर द्विवेदी ने इनको मोची वंश में उत्पन्न बताया था। दादूदयाल की वाणियों का संग्रह पहले तो इनके दो शिष्यों सन्तदास और जगन्नाथदास ने हरड़े बानी नाम देकर किया था, फिर रज्जबाजी ने अंग बन्धु नाम देकर इनका नए सिरं से सम्पादन किया। दादू की वाणियाँ अपने सहज – मधुर गुणों के आकपर्ण के कारण बराबर लोकप्रिय बनी रहीं।

डॉ0 द्विवेदी का विचार है कि, "सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना – सम्बन्धी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखते हैं। अपने जीवनकाल में ही वे इतने प्रख्यात हुए थे कि सम्राट अकबर ने उन्हें सीकरी में बुलाकर चालिस दिन तक निरन्तर सत्संग किया था, फिर भी दादू के पदो में अभिमान के भाव बिल्कुल नहीं हैं।"[1]

<u>दादू के शिष्यः</u> – रज्जब जी, जगन्नाथ और सुन्दरदास दादू के प्रिय शिष्य थे। इनमें भी रज्जबदास सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए। उनकी

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास पृ0 सं0 94

भाषा में राजस्थानीपन तथा मुसलमानीपन है, तथा कथित शास्त्रीय काव्यगुण का उसमें अभाव है, फिर भी एक आश्चर्य जनक विचार प्रौढ़ता वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। दादू के जगजीवन साहब हुए, जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया।

<u>विस्नोई सम्प्रदाय:</u> – विस्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक जम्भनाथ (1451 – 1535) जोधपुर के नागौर इलाके पयासर गाँव के रहने वाले थे। इनकी रचनाओं में योग, अजपा जाप आदि बातों की प्रधानता है।

<u>निरंजनी सम्प्रदाय :</u> – श्री हरिदास निरंजनी, निरंजनी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। ये कई सम्प्रदयों में दीक्षित होकर नाना प्रकार की साधनाओं का अनुभव कर चुके थे। पहले ये दादू के शिष्य प्रागदास (मृत्यु 1613 ई0) के शिष्य थे, फिर कबीरपन्थ की ओर आकृष्ट हुए और अन्त में नाथ सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए। इसके बाद इन्होंने निरंजनी सम्प्रदाय की स्थापना की। आचार्य द्विवेदी ने इनका समय सोलहवीं शताब्दी की उत्तरार्द्ध और सत्रहवीं शताब्दी का पूर्व माना है। इनकी रचनाओं का नमूना इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"सखी ही मास बसंत तिराजे।
गोपी ग्वाल घेरि गोकुल में वेणु मधुर ध्वनि बाजे।
भागे सुरत पाँच नग गुथ्या, मन मीती मधि आया।
विकसत कमल परमनिधि प्रगटत हरि कूँ हार चढ़ाया।
गरव गुलाव चरण तल चुरिया, अगर अबीर खिड़ाया।
परममल प्रीत परसि पूरन पिणु में प्राण समाया।
अंक नालि निहचल नव निरभय ए कौतूहल भारी।
जन हरिदास आनंद निज नगरी, खेले फाग मुरारी।"[1]

सिख सम्प्रदाय – गुरुनानक देव सिख धर्म के मूल प्रवर्तक हैं। इनका जन्म सं0 1526 (1469 ई0) की अक्षय तृतीया को पंजाब के राई भोई के तलवण्डी नामक ग्राम में हुआ था, जो अब ननकासाहेब कहलाता है और पश्चिमी पाकिस्तान में पड़ गया है। इनका स्वर्गवास सं0 1595 अर्थात् 1538 ई0 में हुआ था।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 96

आदिग्रन्थ के अन्तर्गत महला नामक प्रकरण में नानकदेव की वाणियां हैं और शब्द अर्थात् गेय पद, सलोक (श्लोक) अर्थात् दोहाबद्ध सखियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त इसमें गुरु नानकदेव की अन्य रचनाओं – जपुजी, रहिरास और सोहिला का भी संग्रह है।

गुरुनानक देव के भजनों में निरीह भक्ति – निर्भर सन्त का जीवन प्रतिफलित हुआ है। विचारों में उनका मत कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों के मत से मिलता–जुलता है, लेकिन न तो इन भजनों में कबीर का अक्खड़ पन है और न खण्डन–मण्डन की प्रवृत्ति। नानक कबीर की भाँति समाज के निचले स्तर से नहीं आए थे, इसलिए उनकी उक्तियों में भुक्त भोगी की तीव्रता नहीं है। डॉ0 द्विवेदी का विचार है कि "सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे उद्‌गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्ति शाली हो सकते हैं, यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है। इनकी भाषा में किसी प्रकार का घुमाव या जटिलता नहीं हैं, बहुत ही सीधी–सादी भाषा और बहुत ही निर्मल प्रतिपादन शैली – यही नानक की रचनाओं की विशेषता है।"[1]

शेख फरीद – नानक के समकालीन और अनुवर्त्ती सन्तों में कुछ का नाम साहित्यिक इतिहास में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनमें शेख फरीद हैं जिनका दूसरा नाम शाह ब्रह्म या इब्राहीम शाहबताया जाता है। इनके 130 सलोक (दोहे) और चार पद सिखों के आदिग्रन्थ में संग्रहीत हैं। 130 दोहों में से बाकी 18 तो विभिन्न गुरुओं के साय फरीद के संवाद के रुप में है और बाकी 112 उनके रचित जान पड़ते हैं।

गुरु अंगद – सिख गुरुओं में गुरु अंगद (जन्म 1504 ई0) अच्छे कवि हुए हैं। यह पहले शक्ति के उपासक थे, बाद में किसी से आसादी बार की कुछ सुन्दर पंक्तियाँ सुनकर गुरुनानक के प्रति अनुरक्त हो गए और उनके शिष्य हो गए। इन्होंने ही गुरुनानक की रचनाओं को एकत्र कराया, गुरुमुखी अक्षरों का संस्कार किया और लंगर द्वारा अतिथि – सत्कार की प्रथा चलायी। आदिग्रन्थ में इनके कुछ सलोक या दोहे संग्रहीत हैं। इनकी रचनाओं में सदाचार भगत्वप्रेम और गुरुभक्ति का भाव है। इनकी मृत्यु सं0 1609 अर्थात् 1548 ई0 में हुई।

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 98

गुरु अमरदास – तीसरे गुरु अमरदास (1479–1574 ई0) भी पहले वैष्णव थे और बाद में गुरु अंगद की कन्या से (जो उनके भतीजे से ब्याही थी) गुरु नानक का एक पद सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और अंगद की सेवा में उपस्थित हुए। गुरु अंगद के सामने ही यह भी बड़े विनीत और मधुर स्वभाव के थे। इनकी रचनाएं भी गुरु ग्रन्थ साहिब में संग्रहीत है जिनमें रामनाम की महिमा, गुरु का महत्व और अहंकार की अनर्थकारिता प्रकट हुई है।

गुरु रामदास – चोथे गुरु रामदास (1514 – 1581 ई0) की रचनाएं भी आदिग्रंथ के चोथे महला में संग्रहीत हैं। इनकी रचनाओं की संख्या अधिक जान पड़ती है। इनकी रचनाओं में कान्ताभाव के भजन हैं जो कभी – कभी सूरदास आदि संख्य और मधुर भाव के उपासकों की रचनाओं के साथ तुलनीय हो सकते हैं। इनमें तन्मयता और आत्म – समर्पण के भाव भरे पड़े हुए हैं।

गुरु अर्जुनदेव – पाँचवे गुरु अर्जुनदेव (1563–1606 ई0) की रचनाएं आदि–ग्रन्थ के महला पाँच में संगृहीत है। लेकिन इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आदिग्रन्थ का सम्पादन और संकलन है। उसमें संग्रहीत पदों को एकत्र करने के लिए उन्होंने स्वयं घूम–घूम कर पद संग्रह किये और प्रसिद्ध भक्तों को बुलाकर भी अच्छे सन्तों की वाणियाँ चुनवायीं। आदिग्रन्थ को उन्होंने गुरु अंगद द्वारा प्रचारित गुरुमुखी में भाई गुरुदास से लिखवाकर सं0 1661 अर्थात् 1614 ई0 में प्रस्तुत कराया। अन्य सभी गुरुओं की अपेक्षा इस ग्रन्थ में गुरु अर्जुन की रचनाएं अधिक हैं। वक्तव्य विषय वही परम्परा – प्रचलित नाम – माहात्म्य, भगवद् भक्ति और सांसारिक सुखों की नश्वरता है।

गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविन्द सिंह – परवर्ती गुरुओं में गुरु तेगबहादुर (1622 – 75 ई0) साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। ये नवें गुरु हैं। इनकी रचनाएं आदिग्रन्थ के महला नौ के अन्दर संग्रहीत हैं। विषय तो इनके भी वही हैं जो अन्य गुरुओं द्वारा नाना भाव से कहे गये हैं पर भाषा इनकी पंजाबीपन से बहुत – कुछ मुक्त है और ब्रजभाषा के नजदीक आती है। गुरुमुखी में लिखे जाने के कारण थोड़ी ब्रजभाषा के भिन्न दीखती अवश्य है, पर उतनी है नहीं।

अंतिम गुरु सुप्रसिद्ध गुरु गोविन्द (1664 – 1718 ई0) हैं जो अपनी वीरता और ईमानदारी के लिए विरोधियों में भी आदर के पात्र हो गए थे। ये स्वयं सुकवि तो थे ही अनेक अच्छे कवियों के आश्रयदाता भी थे। इनकी रचनाएं सिखों के दशम ग्रन्थ में संगृहीत हैं। इन्होंने **दुर्गासप्तशती** का एक अनुवाद **चण्डीचरित्र** के नाम से किया था और **विचित्र नाटक** नाम की एक ऐसी रचना की थी जो सचमुच ही विचित्र है। इसमें इनके जन्मों की एक कथा है। इनकी रचनाओं में चौपाई, दोहा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छन्दों का प्रयोग है। इनकी भाषा भी अन्य गुरुओं की अपेक्षा अधिक परिमार्जित प्रवाहमयी है।

आनन्दघनः – सत्रहवीं शताब्दी में आनन्दघन नाम के एक जैन सन्त कवि हो गये हैं जिनकी कई पुस्तकें (जैन धर्म – सम्बन्धी) प्राप्त हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि अन्तिम वयस में ये निगुर्ण मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए थे। **आनन्दघन चौबीसी** और **आनन्दघन बहोत्तरी** में इसी निगुर्ण भाव के भजन हैं। परन्तु इन दोनों में ही ओर सन्तों की भी वाणियाँ मिल गयी हैं।

मलूकदासः – मलूकदास नाम के एक सन्त (1574–1682 ई0) हुए हैं जिनकी गद्दियाँ कड़ा जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नेपाल और काबुल तक में स्थापित की इन्होंने नौ पुस्तकों की रचना की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के डा0 त्रिलोकी नाथ दीक्षित ने इनकी कई अप्रकाशित रचनाओं का पता लगाया है। इनकी रचनाओं में प्रायः वही सब बातें हैं जो अन्य सन्त कवियों ने लिखी हैं, यद्यपि इनके सम्प्रदाय का तत्त्ववाद अन्य सम्प्रदायों के तत्त्ववाद से कुछ भिन्न है। भाषा में प्रवाह है और अन्य सन्तों की भाषा के समान सधुक्कड़ी वृत्ति का आधिक्य नहीं है।

अक्षर अनन्यः – सत्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में अक्षर अनन्य नामक एक प्रतिभाशाली सन्त वर्त्तमान थे। ये पहले दतिया के राजा पृथ्वीचन्द के दीवान थे। इनका जन्म स्थान दतिया राज्य के अन्तर्गत सेनुहरा गाँव बताया जाता है। विरक्त होकर ये साधू हो गये। योग और वेदान्त पर इनके कई ग्रन्थ प्राप्त

होते हैं। 'राज – योग', 'विज्ञानयोग', 'ध्यानयोग', 'सिद्धान्त बोध', 'विवेक दीपिका', 'अनन्य प्रकाश', आदि इनकी पुस्तकें हैं। इनमें वैराग्यमूलक धर्म का उपदेश है और संसारसागर से तरने के लिए योग और भजन का उपदेश है।

<u>धनीश्वरी सम्प्रदायः</u> – इसका प्रवर्तन बाबा धरणीदास सं0 1722 ने किया इनके गुरु विनोदानंद थे। इनकी रचनाओं में प्रेम प्रयास, शब्द प्रगास, रतनावली आदि प्रसिद्ध हैं।

<u>शिवनारायणी सम्प्रदायः</u> – इस सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ **सन्त सागर** और **सन्त विलास** हैं। शिव नारायण के गुरु दुखहरण थे। इस पंथ के ग्यारह ग्रन्थ बताए जाते हैं, ईश्वर को निर्गुण निराकार माना है।

<u>चरणदास सम्प्रदायः</u> – चरणदास की शिष्या सहजोबाई तथा दयाबाई अपनी रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके प्रमुख 52 शिष्य थे। चरणदास की रचनाएं 21 बताई जाती हैं। इस सम्प्रदाय में विरक्त और संन्यासी दोनों प्रकार के लोग थे। इसके 52 मठ थे, अनेक स्थानों पर ये वैष्णवों से मिल गये थे।

<u>रामस्नेही सम्प्रदायः</u> – सन्त रामचरन ने रामस्नेही सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका पहला नाम रामकृष्ण था और रामनन्दी मत से प्रभावित थे वर्तमान नामकरण सं0 1855 में हुआ, इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की इनमें भगवा वस्त्रधारी साधु या वैरागी मौनी या बन्दही होते हैं।

इन सम्प्रदायों के ह्रास के क्या कारण थे, डॉ0 द्विवेदी का गहन विचार है कि, "जब किसी महापुरुष के नाम पर कोई सम्प्रदाय चल पड़ता है तो आगे चलकर उसके सभी अनुयायी कम बुद्धिमान ही होते हैं, ऐसी बात नहीं है। कभी – कभी शिष्य – परम्परा में ऐसे भी शिष्य निकल आते हैं, जो मूल सम्प्रदाय – प्रवर्त्तक से भी अधिक प्रतिभाशाली होते हैं। फिर भी सम्प्रदाय – स्थापना का अभिशाप यह है कि उसके भीतर रहने वाले की स्वाधीन चिन्ता कम हो जाती है। सम्पदाय की प्रतिष्ठा ही जब सबसे बड़ा लक्ष्य हो जाता

है तो सत्य पर से दृष्टि हट जाती है, प्रत्येक बड़े यथार्थ की सम्प्रदाय के अनुकूल संगति लगाने की चिन्ता ही बड़ी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधन की शुद्धि की परवा नहीं की जाती। परन्तु यह भी ऊपरी बात है। साधन की शुद्धि की परवा न करना भी असली कारण नहीं है वह भी कार्य हैं, क्योंकि साधन की अशुचिता की सत्य भ्रष्ट होने का कारण मान लेने पर भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि विद्वान और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी साधन की अशुचिता के शिकार क्यों बन जाते हैं? xxx समाज में मान – प्रतिष्ठा पाने का साधन पैसा है, जब चारों ओर पैसे का राज हो तब उसके आकर्षण को काट सकना कठिन है। पन्थ की प्रतिष्ठा के लिए भी पैसा चाहिए। जो लोग इस आकर्षण को नहीं काट सकने वालों की निन्दा करते हैं, वे समस्या को बहुत ऊपर – ऊपर से देखते हैं।"[1]

साहित्य का वर्गीकरण

भक्ति साहित्य किसी क्षणिक भावावेग अथवा इन्द्रिय जन्य भावोन्माद की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, अपितु यह ठोस तथा उर्वर धरातल की उपज है। इसके साधन लौकिक अवश्य है, किन्तु इसका साध्य एक ऐसी लोकोत्तर अनुभूति है जिससे भक्त के चित्त को अनुपम शान्ति और आनन्द की उपलब्धि होती है। विद्वानों ने भक्ति साहित्य को प्रवृत्यनुसार दो वर्गो में विभक्त किया है – ज्ञान मार्गी और प्रेम मार्गी। परन्तु ज्ञान अपने आप में एक उपलब्धि है क्रिया नहीं, जिसका आश्रय लेकर मनुष्य मुक्ति लाभ कर सके। फिर, ज्ञान द्वारा सत्य के स्वरूप का साक्षात्कार होने की सम्भावना में अज्ञानवादी वर्ग के लोग सन्देह प्रकट करने लगे थे। ऐसा भक्त, वास्तव में, ज्ञानमार्गी न होकर अनुभवाश्रयी होता है, और अनुभव क्रिया की आनुषंगिक प्रक्रिया है। फिर भी अधिकतर लीला – लोभी, प्रेम परायण भक्तों को प्रेममार्गी कहते समय हमें किसी वैसी आपत्ति का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि प्रेम भावना के अन्तर्गत वे सभी रागात्मक

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 105

विशेषाएं समाहित हो जाती हैं जो ऐसी भक्ति के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य समझी जा सकती है।

इसी प्रकार उपासना भेद का आश्रय लेकर प्राय: भक्ति विषयक सगुण और निगुर्ण जैसे दो वर्गो की कल्पना कर ली जाती है। सगुण भवित में जहाँ लीलावतार को आरध्य स्वीकार किया गया है, वहाँ निगुर्ण भक्ति में ब्रह्मानुभूति को स्थान दिया गया है। "सगुण भक्ति में जहाँ भगवदनुग्रह का भरोसा होता है, वहाँ निगुर्ण भक्ति में आत्म विश्वास का बल रहता है। सगुण भक्ति जहाँ बाह्य लालित्य की महिमा से मंडित है वहाँ निगुर्ण भक्ति अन्त: सौन्दर्य की गरिमा से दीप्ति।"[1]

सगुण भक्ति जहाँ साकार – सविशेष के प्रति होती है, वहाँ निगुर्ण भक्ति निराकार और निर्विशेष के प्रति। सगुण भक्ति में जहाँ स्वकीया तथा परकीया दोनों भावों का समावेश है, वहाँ निगुर्ण शक्ति रूपा नारी के प्रति निष्ठावान रहते हुए भी उसके रमणीय रूप अथवा परकीया भाव के प्रति आकर्षण का अभाव है। सगुण भक्ति में जहाँ किसी देव लोक की कल्पना की गयी है वहाँ निगुर्ण भक्ति में विश्वात्मा प्रभु के विश्व व्यापी अस्तित्व में आस्था प्रकट की गयी है। सगुण भक्त के लिए जहाँ भगवान का उपयुक्त धाम भक्त का हृदय है, वहाँ निगर्ण भक्त के लिए अभेद मूलक दृष्टि द्वारा आत्म साक्षात्कार का महत्त्व है। निगुर्ण भक्त सत्य के साधक हैं, भक्ति अथवा ऐश्वर्य के आराधक नहीं। मोक्षकामी निगुर्ण भक्त संसार को ही सत्कर्मो द्वारा स्वर्ग बनाना चाहते हैं, वे किसी काल्पनिक परलोक के अभिलाषी नहीं। सगुण और निगुर्ण भक्त दोनों ही उपासना भेद से वैष्णव हैं। निगुर्ण भक्त जहाँ नारायण की उपासना करता है, वहाँ सगुण भक्त विष्णु के लीलावतारों की भक्ति। सगुण भक्ति में लीला का माहात्म्य है और निगुर्ण भक्ति में लय का महत्त्व। सगुण भक्त जहाँ वर्ण व्यवस्था का आलोचक नहीं वहाँ निगुर्ण भक्त उनके तीव्र विरोधी तक जान पड़ते हैं। परन्तु, प्रेम और भक्ति दोनों को स्वीकार हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – सम्पा0 डॉ0 नगेन्द्र पृ0 सं0 125

निगुर्ण – काव्यगत प्रवृत्तियाँ :– प्राचीन काल से निगुर्ण ज्ञान मार्ग की पद्धति चली आ रही थी और उसने पिछले युग में सिद्धों और गोरख पंथियों की साधना को आत्मसात कर लिया था, वही भक्तिकाल में भी चलती रही। सन्त – मत में भक्ति और साधना की उच्च कोटि की अभिव्यक्ति हुई है, यद्यपि उसमें काव्य उच्च कोटि का नहीं है, तथापि हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा की अच्छी झलक है। निगुर्ण भक्त कवियों की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।

निगुर्ण की उपासनाः– इस काव्य धारा की मूल भावना, निर्गण की उपासना वह संसार के प्रत्येक कण – कण में व्याप्त है, प्रत्येक साँस में है –

"ओंकार सबे कोई सिरजै, राग स्वरूपी अंग।
निराकार निगुर्न अबिनासी, कर वाही को संग।
नाम निरंजन नैनन – मद्धे, नाना रूप धरंत।
निरंकार निर्गुन अविनासी, अपार अथाह अंग।।"[1]

गुरु की महत्ताः – इन कवियों ने गुरु को ईश्वर के समान माना है, सन्त काव्य में गुरु के महत्त्व का प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है –

"परमातम गुरु निकट विराजै
जाग जाग मन मेरे।
धाय के पीतम चरनन लागै
साईं खड़ा सिर तेरे।।"[2]

जाँति – पाँति के भेदभाव का विरोधः – ये कवि जाति – पाँति के नियमों के कट्टर विरोधी थे, इनकी दृष्टि में सब मनुष्य बराबर थे तथा भगवद् भक्ति का समान अधिकार था। डॉ० द्विवेदी लिखते हैं – "क्या हुआ जो वे ब्राह्मण थे और कवीरदास जुलाहे; क्या हुआ जो वे काशी के आचार्य थे और कबीर दास कमीनी जाति के बन्दे? प्रेम दूरी नहीं जानता, भेद नहीं मानता, जाति नहीं मानता, कुछ नहीं देखता –

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ० सं० 396 से
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ० सं० 393 से

कमोदिनी जल हरि बसे, चन्दा बसे अकास।

जो जाही का भावता, सो ताही के पास।।"[1]

धार्मिक कृत्यों का खण्डनः – "वेद पाठ, तीर्थ स्थान, व्रतोद्यापन, छुआछूत अवतारोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदास ने लिखा है। वस्तुतः सारा हिन्दू धर्म उनकी दृष्टि में एक बाह्याचार बहुल ढकोसला मात्र था। उन्होंने योग मार्ग को भी ढकोसला ही समझा था।"[2]

"करि असनान छुवो नहिं काहू, पाती फूल चढ़ाये।

मूरति से दुनिया फल माँगें, अपने हाथ बनाय।

यह जग पूजे देव – देहरा, तीरथ – वर्त – अन्हाये।

× × × × × ×

कहें कबीर जहं साँच वस्तु है, सहजे दरसन पाये।"[3]

रहस्यवादी प्रवृत्तिः – "यह उनकी अनधिकार चर्चा नहीं थी। वे समाधिगम्य परम पुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलट कर सहस्रार चक्र में ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य – साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत – वर्षी पावस का अनुभव कर चुके थे, उस महान् पद को देख आये थे, जहाँ कोई विरला ही जा सकता है –

"करत कल्लाल दरियाव के बीच में,

ब्रह्म की छौल में हंस झूले।

अर्घ औ ऊर्ध्व की पेंग बाढ़ी तहाँ,

पलट मन पवन को कँवल फूले।।

गगन गरजे तहाँ सदा पावस झरे,

होत झनकार नित बजत तूरा।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ० सं० 307 से
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ० सं० 299 से
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ० सं० 475 से

बेद – कत्तेब की गम्म नाहीं तहाँ,

कहैं कब्बीर कोई रमै सूरा।।"[1]

<u>साधारण धर्म का प्रतिपादनः</u> – सन्त कवि साधारण धर्म के मानने वाले थे, किन्तु उन्होंने साम्प्रदायिकता अथवा वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म का विरोध किया, उन्होंने जिस साधारण धर्म को स्वीकार किया वह विशुद्ध मानव धर्म ही है।

"कबीर उस समाज में पालित हुए थे जो न तो हिन्दुओं द्वारा समाहत था, न मुसलमानों द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकृत। xxx ये गरीबी में जनमते थे, गरीबी में ही पलते थे और उसी में मर जाया करते थे। ऐसे कुल में पैदा हुए व्यक्ति के लिए कल्पित ऊँच – नीच भावना और जाति – व्यवस्था का फौलादी ढाँचा तर्क और बहस की वस्तु नहीं होती, जीवन – मरण का प्रश्न होता है। कबीरदास इसी समाज के रत्न थे, वे सामाजिक विषमताओं को बौद्धिक तर्क विलास की वस्तु न समझते रहे हों, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है –

"मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?
चिउंटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट – कतरनी, सो भी साहब लखता है।"[2]

<u>वैयक्तिक साधना पर जोरः</u> – सन्त कवि प्रायः सद्गृहस्थ थे, वे नाथ पंथियों की भाँति रमते जोगी नहीं थे, वे अपने व्यवसाय में लीन रहते हुए अध्यात्म साधना में तल्लीन थे।

बाजन दे बाजंतरी, कलि ककुटी जनि छेड़।
तुझे बिरानी का परी, अपनी आप निबेर।।"[3]

<u>नाम स्मरणः</u> – सन्त कवियों ने भजन तथा नाम स्मरण को बहुत महत्त्व दिया जाता है। "जिस दिन से महागुरु रामानंद ने कबीर को भक्ति रूपी रसायन

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 319
2. कवरी वच0, पृ0 सं0 – 144
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 478

दी, उस दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधने के टण्टे को नमस्कार की दीक्षा ली, मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम – काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम जप हो गया।"[1]

> "जोलाहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर–सुर मुनि धरे ध्याना।
> ताना तिनको अहुंठा लीन्हों, चरखी चारिहुँ बेदा। xxxx
> त्रिभुवननाथ जो भाँजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा।।[2]

<u>प्रेमः–</u> "कबीर दास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखण्ड अविचलित विश्वास था उसी ने उनकी कविता में असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते वह व्यर्थ ही पाण्डित्य–प्रदर्शन से पाठकों का समय नष्ट करते हैं। प्रेम – भक्ति का यह पोधा भावुकता की आँच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारपात से मुरझता है। xxx भगवान का प्रेम बड़ी चीज है, पर उस बड़ी चीज को पाने की साधना भी बड़ी होनी चाहिए। प्रेम का यह व्यापार कुछ खाला का घर नहीं है कि बात–बात पर मचल गये और फरमाइश पूरी हुई –

> कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
> सीस उतार हाथि करि, सो पैसे घर माँहि।।

उथली भावुकता, हिस्टीरिक प्रेमान्माद और बातूनी इश्क यहाँ बेकार हैं – अपने अधिगम्य पर अखण्ड विश्वास ही इस प्रेम की कुंजी है – विश्वास, जिसमें संकोच नहीं, द्विधा नहीं, बाधा नहा –

> "प्रेम न खेतों नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
> राजा – परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाय।

---

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी - ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 478

2 कबीर वाणी – 104

सूरे सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।

आगे थैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास।।"[1]

<u>फक्कड़ता:</u> – सन्त काव्य धारा के कवियों में फक्कड़ता थी। वे सिर से पैर तक मस्त मौला थे। मस्त – जो पुराने कृत्यों का हिसाब नहीं रखता, वर्तमान कर्मो को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब – कुछ झाड़ फटकार निकल जाता है। ये फक्कड़राम किसी के धोखे में आने वाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है ओर न जमा तो राम – राम करके आगे चल दिये। योग – प्रक्रिया को उन्होंने डटकर अनुभव किया, पर जँची नहीं। उन नकटों के समान चुप्पी साधना उन्हें मालुम न था जिन्होंने इस आशा पर नाक कटा ली थी कि इस बाधा के दूर होते ही स्वर्ग दिखाई देने लगता है। उन्हें यह परवा न थी कि लोग उनकी असफलता पर क्या – क्या टिप्पणी करेंगे। उन्होंने बिना लाग–लपेट के, बिना झिझक और संकोच के ऐलान किया –

असमान का आसरा छोड़ प्यारे,

उलटि देख घट अपना जी।

तुम आप में आप तहकीक करो,

तुम छोड़ो मन की कल्पना जी।"[2]

<u>नारी के प्रति दृष्टिकोण:</u> – सन्त कवियों ने सती एवं पतिव्रता नारी की अत्यन्त प्रशंसा की है और उसके द्वारा अपनी साधना की अभिव्यक्ति की है। वे सती नारी की एक प्रति आसक्ति एवं अन्य के प्रति विरक्ति, असीम प्रेम, साहस, त्याग समर्पण आदि से प्रभावित थे। नारी के प्रति असाधारण दृष्टि ने समर्पण की भावना दी, विरह की भावना के साथ ही साथ एक प्रति आसक्ति की भावना प्रदत्त की –

"पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।

पतिव्रताके रूप पर वारों कोटि सरूप।।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 323
2. डॉ0 हजारी प्रसाद ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 320

× × × × × × × × × × × × × ×

नैना अंतरि आव तूं, ज्यों हों नैन झंपेऊँ।

ना हौं देखौं और कूं नाँ तुझ देखन देऊँ।।

× × × × × × × × × × × × × ×

तलफै विन बालम मोर जिया।

दिन नहि चैन रात नहिं निंदिया।।"[1]

<u>भाषा की सरलता :</u> – सन्त कवियों ने सरल और आडम्बर हीन भाषा का प्रयोग किया है। डॉ0 द्विवेदी के शब्दों में, "भाषा पर कवीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस वात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया – वन गया है तो सीधे – सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कवीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।"[2]

"पानी विच मीन पियासी

मोहि सुन – सुन आवे हाँसी।

घर में वस्तु नजर नहिं आवत।

वन – वन फिर उदासी।।"[3]

<u>डॉ0 हजारी प्रसाद की दृष्टि में सन्त साहित्य तथा कवीर</u>

उन दिनों उत्तर के हठ योगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एक के लिए समाज की ऊँच – नीच भावना मजाक और आक्रमण का विषय थी, दूसरे के लिए मर्यादा और स्फूर्ति का। और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओं को अन्याय समझकर भी व्यक्ति को

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 455
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 366–67
3. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 403

सबके ऊपर रखता था, वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चता का अधिकारी होकर भी अपने को 'तृणादपि सुनीचेन समझता था। योगी डट कर जाति भेद पर आघात करता था, बाह्याचार और तन्मूलक श्रेष्ठता को फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग – मार्ग का प्रत्येक अनुयायी अपने को समाज के अन्य निकृष्ट जीवों से श्रेष्ठ समझता था। xxx भक्त – जाति भेद, वर्णाश्रम – व्यवस्था और ऊँच – नीच मर्यादा को शिर सा स्वीकार कर लेता था, अपने को भवसागर में भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप – भावना के लिए बार – बार पश्चात्ताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान उसके हार्दिक अनुताप को जरूर सुन लेंगे और भवबन्धन से उसे मुक्त कर देंगे। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा, एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर। xxx

हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर – जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब – कुछ को झाड़ – फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब कुछ को छाकर उनका सर्वजनी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य – साधारण जीवन रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएं व्यर्थसिद्ध हुई हैं। xxx कबीर ने ऐसी बहुत सी बातें कहीं हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज – सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि – वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व – धर्म समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर

के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्य मात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परन्तु आजकल सर्व – धर्म समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है, वह कबीर में एकदम नही था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अन्तर संस्कारों में कुछ न कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे। उन्हें पैगम्बर के ही प्रवर्त्तित हों या उच्च से उच्च समझी जाने वाली धर्म पुस्तक से उपदिष्ट हों। ऐसा पसन्द नहीं था बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेम भक्ति का पात्र मानते थे।

प्रेम कथानकों का साहित्य

प्रेम कथानकों की परम्परा: गोस्वामी तुलसीदास के पहले लोकभाषा में प्रेम कथानकों का ऐसा साहित्य काफी अधिक संख्या में लिखा गया था जिसके कथा – अंश का आधार लोक – प्रचलित कथानक थे। कभी – कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ जुड़े होते थे और कभी इनमें के चरित नायक बिल्कुल कल्पित व्यक्ति हुआ करते थे। तुलसीदास ने कहा था, 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना' तो उनके मन में दोनों प्रकार की रचनाएं थीं। उन दिनों 'मधुमालती', 'मृगावती', 'हीर और रांझा', 'ढोला और मारू', 'सारंगा और सदावृक्ष' आदि निजन्धरी नायक–नायिकाओं की प्रेम – कहानियाँ आजकल के सस्ते ढंग के उपन्यासों का काम करती थीं। इस प्रेम – सम्बन्धी कहानियों को लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। सत्रहवीं शताब्दी के जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्म – चरित **अर्द्ध कथानक** में लिखा है कि **मधुमालती** और **मृगावती** नामक पुस्तकों के पढ़ने का उन्हें ऐसा चस्का लगा था कि दुकान का सब काम – काज छोड़ कर घर में ही बैठे रहते थे:

"अब घर में बैठे रहे नाहिंन हाट बजार।

मुधमालती मृगावती पोथी दाई उचार।

साधारणतः प्रेम – काव्यों का नाम उनकी नायिकाओं के नाम पर रखने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थीं। 'रत्नावली', 'पद्मावती', 'वासवदन्ता', 'कुवलयमाला', आदि नायिकाओं के नाम पर गद्य – काव्य, नाटक, पद्यबद्ध काव्य और चम्पू जाति की ऐसी रचनाएं प्राप्त होती हैं, जिन्हें एक शब्द में **रोमांस** कहा जा सकता है। कवियों ने लोक में प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ये कथायें लिखी होंगी। ऐसी लोक – कथाओं का सबसे बड़ा सग्रह पैशाची में लिखी गयी गुणाढ़य कवि की **बृहत कथा** थी जो मूल रूप में अब प्राप्त नहीं है, पर क्षेमेन्द्र और सोमदेव आदि कवियों द्वारा संस्कृत में रूपान्तरित होकर बची हुई है इस ग्रन्थ की कहानियाँ नरवाहन दन्त, उदयन आदि ऐतिहासिक राजाओं के नाम से सम्बद्ध है, पर अधिकाँश में नाम के अतिरिक्त बाकी सारी बातें कल्पित ही हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में भी प्रेम – कथाओं की यह परम्परा चलती रही। नवीं शताब्दी के कौतुहल नामक प्राकृत भाषा के कवि ने **लीलीवती** नामक प्रेम कथानक लिखा था। मयूर कवि ने भी **पद्मावती कथा** नाम का एक काव्य लिखा था। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर **वती** प्रत्यय युक्त नाम लोककथानकों में बहुत जनप्रिय हो गया। 'लीलावती', 'पद्मावती', आदि नाम पुराने साहित्य में मिलते हैं। पारवर्ती साहित्य में इन शब्दों की तौल पर गढ़े हुए 'कनकावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'रतनावती', आदि नाम प्रचलित हो गए थे। फिर भी 'मधुमालती', 'कामकंदला', 'रूपमंजरी', 'विद्युद्लेखा जैसे काव्यात्मक नाम एकदम भूला नहीं दिए गये। 'पद्मावत' में ऐसी प्रेम – कहानियों की एक लम्बी सूची दी गयी है जिससे पता चलता है कि उन दिनों, 'सपनावती', 'मुग्धावती', 'मिरगावती', 'मधुमालती', 'प्रेमावती', 'खैडरावती', आदि नायिकाओं को केन्द्र करके लिखी हुई या कही जाने वाली प्रेम – कहानियाँ काफी प्रचलित थी।

सूफी कवियों द्वारा निबद्ध प्रेम – कथानक: – भारतवर्ष के सूफी कवियों ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए इन कहानियों का उपयोग किया। यह कोई नयी बात नहीं हैं। प्राचीन काल में भी लोक – प्रचलित कहानियों का धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। महाभारत और पुराणों में जातक कथाओं में तथा बोद्धों के अवदान साहित्य में जैन कवियों द्वारा लिखित चरित्र काव्यों में इस पद्धति का पूरा उपयोग किया गया है यदि सूफी कवियों ने भी इस पद्धति को अपनाया तो यह कोई नयी बात नहीं थी।

प्रेम कथानकों पर आश्रित काव्य तीन श्रेणियों के प्राप्त हुए हैं:

1. आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए लिखे गए काव्य।
2. विशुद्ध लौकिक प्रेम – काव्य
3. अर्द्ध ऐतिहासिक प्रेम गाथाएं।

प्रथम श्रेणी में मुख्य रूप से सूफी कवियों की लिखी गई प्रेम – कहानियाँ आती हैं, किन्तु सूफियों के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों ने भी इस शैली को थोड़ा – बहुत अपनाया है। इसलिए इन काव्यों को दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं :–

{1}. सूफी कवियों के लिखे हुए प्रेम – काव्य और {2} अन्य भक्त कवियों द्वारा लिखे गये प्रेम – काव्य। हिन्दी साहित्य में प्रमुख और विशिष्ट होने के कारण पहले सूफी कवियों की चर्चा की जा रही है।

सूफी मत का भारतवर्ष में प्रवेश: – "सूफी – सम्प्रदाय का प्रवेश इस देश में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती {बारहवीं शताब्दी} के समय से माना जाता है। सूफियों के चार सम्प्रदाय – चिश्ती {बारहवीं शताब्दी} सोहरावर्दी {बारहवीं शताब्दी}, कादरी {पन्द्रहवीं शताब्दी} और नक्सबंदी {पन्द्रहवीं शताब्दी} इस देश में आये हैं। इनका सादा जीवन उच्च विचार और प्रेम का तत्त्ववाद भारत के धर्म – जिज्ञासुओं को धीरे – धीरे आकृष्ट करने लगा। भारतीय सूफी

सन्तों ने इसकी प्रचलित लोक – कथाओं का आश्रय करके अपने आध्यात्मिक विचार का प्रचार आरम्भ किया। इन श्रेणी का सबसे प्रथम काव्य अलाउद्दीन खिलजी के राज्य – काल के मुल्ला दाऊद है। इधर सुना गया है कि इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है, पर अभी तक यह प्रकाशित नहीं है, इसलिए इस काव्य के विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है।

कुतबन: – दूसरे कवि कुतबन है (पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त्य भाग और सोलहवीं शताब्दी का प्रथम भाग) जिन्होंने सन् 909 हिजरी अर्थात 1501 ईस्वी में **मृगावती** नामक प्रेम – काव्य लिखा। इसकी एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है। इस पुस्तक से कुतबन के सम्बन्ध में मात्र इतना ज्ञात होता है, कि वे शेख बुड्ढन के शिष्य थे। इनके जीवन काल में हुसेनशाह राज्य कर रहे थे। ये हुसेनशाह जौनपुर के शासक थे। शेरशाह इन्हीं के पुत्र थे। **मृगावती** हिजरी सन् 909 (1501 ई0) में पहले से चली आती हुई कथा को आश्रय करके लिखी गयी थी। **मृगावती** में कुछ ऐसी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया गया है जो भारतीय साहित्य में नवीन जान पड़ती है।"[1]

मंझन: – मंझन कवि के **मधुमालती** नामक काव्य की एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है। इसमें कहानी यद्यपि सम्पूर्ण रूप से भारतीय वातावरण लेकर ही आती है। तथापि कुछ ऐसी काव्य – रूढ़ियों का प्रयोग जो भारतीय कथानक साहित्य में अल्प परिचित हैं। इनमें अप्सराएं राजकुमार को उड़ाकर मधुमालती की चित्रसारी में ले आती है पर वहीं से दोनों के प्रेम का आरम्भ होता है। भारतीय साहित्य में ऊषा और अनिरुद्ध की कहानी में नायक को नायिकाओं के घर पहुँचाये जाने की कथा – शैली पायी जाती है। परन्तु यह भी वाणासुर नामक असुरराज की राजकुमारी की कथा हे और विद्वानों का विचार है कि इस कथा की कथानक शैली को भारतीय की अपेक्षा असीरियन कहना अधिक उचित है। यह कहने की शायद आवश्यकता नहीं है कि सभी असीरियन काव्य शैलियों

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 157

और काव्य – रूढ़ियाँ ईरानी साहित्य में गृहीत हो गयी थी और फारसी कवियों के माध्यम से भारतवर्ष में भी मध्ययुग में आने लगी थी। मृगावती के समान ही इस मधुमालती में भी उड़ने वाली स्त्रियों वाली कथानक – रूढ़ि का व्यवहार हुआ है। मंझन ने इस काव्य की रचना 1545 ई0 में की थी।

मलिक मुहम्मद जायसी: – सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ मलिक मुहम्मद जायसी थे। जो कहीं बाहर से जायस में आये थे और इसी धर्म – स्थान को अपना निवास – स्थान बना लिया था। इनकी प्रसिद्ध रचना पद्मावत है, अखरावट और आखिरी कलाम नामक दो रचनाएं भी प्राप्त हुई हैं। भगवान ने इन्हें रूप देने में बड़ी कंजूसी की थी किन्तु शुद्ध, निर्मल ओर प्रेमपरायण हृदय देने में बड़ी उदारता से काम लिया था। इनके जन्म समय के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। अखिरी कलाम में इन्होंने अपना जन्म हिजरी सन् की नवीं शताब्दी में हुआ बताया है। इनके जन्म के दिन बड़े जोर का भूकम्प हुआ था। इनकी मृत्यु सन् 1542 ई0 में बतायी जाती है। "पद्मावत का रचनाकाल इन्होंने 927 अर्थात 1521 ई0 में लिखा है और यह भी बताया है कि उस समय दिल्ली का सुलतान शेरशाह था। यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि शेरशाह 1540 – 45 ई0 तक दिल्ली के सिंहासन पर था। इसलिए कुछ लोगों ने 927 को 947 पढ़ लिया है और यह कहना चाहा है कि पद्मावत वस्तुतः 1540 – 1541 ई0 में शुरू किया गया। बंगाल के कवि अलावल ने पद्मावत का जो अनुवाद बंगला में किया था, उसमें उसका रचना काल 927 हिजरी ही बताया गया है। जान पड़ता है कवि ने पद्मावत का आरम्भ तो 927 हिजरी अर्थात 1521 ई0 में ही किया था, पर जब कथा समाप्ति पर आयी उस समय शेरशाह दिल्ली के तख्त पर विराजमान हो चुके थे। मलिक मुहम्मद ने अपने दो गुरुओं का उल्लेख किया है – एक तो सैयद असरफ जो शायद जायस के ही निवासी थे, दूसरे शेख मुहीउद्दीन जो निजामुद्दीन औलिया के वंशज थे।"

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास पृ0 सं0 160

उसमान :- अन्य सूफी कवियों में **चित्रावली** के लेखक उसमान प्रसिद्ध हैं। ये गाजीपुर के रहने वाले और जहाँगीर के समकालीन थे। **चित्रावली** की रचना 1613 ई0 के आस - पास हुई थी। इस काव्य में नेपाल के राजा धरणीधर के पुत्र सुजानकुमार और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम की कथा वर्णित है। राजकुमार को एक देव रूपनगर का एक उत्सव दिखाने को ले गया था और राजकुमारी की चित्रशाला में रख दिया था। चित्र देखकर राजकुमार मोहित हुआ और उसने भी अपना चित्र राजकुमारी के बगल में बना दिया, जिसे देख राजकुमारी भी प्रेमासक्त हुई। इसमें चित्र - दर्शन द्वारा प्रेम की पुरानी भारतीय कथानक - रूढ़ि का ही प्रयोग है। श्रीहर्षदेव की **रत्नावली** में प्रेमिका का चित्र देखकर नायक के चित्त में प्रेम अंकुरित हुआ था। काव्य में नायक के प्रयत्न और अन्य नायिका से विवाह आदि बातें सूफियों के प्रेम - कथानकों की शैली पर ही चली है।

जान कवि :- सत्रहवीं शताब्दी के जान कवि हाँसी वाले शेख मुहम्मद चिश्ती के शिष्य थे और बहुत प्रभावशाली कवि थे। इनकी 70 रचनाएं उपलब्ध हुई हैं, जिनमें 21 प्रेमगाथा सम्बन्धी हैं। इनकी मुख्य रचनाएं पाँच हैं, 'कनकावती', 'कामलता', 'मधुकर - मालति', 'रत्नवति' और 'छीता'।

कासिम शाह :- कासिमशाह की पुस्तक **हंस जवाहर** भी एक प्रेम - कहानी है। यह दिल्ली के बादशाह मुहम्मद (1721 - 48) ई0 के समकालीन हैं। नूर मुहम्मद की दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं,: 'इन्द्रावति' और 'अनुराग बाँसुरी'। कवि के अपने ही वक्तव्य से पता चलता है कि 'इन्द्रावति' 1744 ई0 और **अनुराग बाँसुरी** 1764 ई0 में लिखी गयी थी। ये फारसी के कवि थे और कामयाब नाम से शायरी करते थे।

अन्य सूफी कवि :- इसी तरह आलमशाह के समकालीन कवि शेख निसार हुए हैं जिनका असली नाम गुलाम असरफ था। इनका **यूसुफ जुलेखा** नाम का प्रेम - काव्य उपलब्ध हुआ है। फिर बहुत हाल के कवि, बाबूगंज (प्रतापगढ़)

निवासी ख्वाजा अहमद हैं, जिनके **नूरजहाँ** नामक काव्य में ईरान के सुल्तान मलिक शाह के पुत्र खुरशेदशाह और खतून नगर की राजकुमारी नूरजहाँ का प्रेम – प्रसंग वर्णित है। यह कहानी 1905 ई0 में लिखी गई और हाल में शेख रहीम का **भाषा** प्रेमरस और कवि नसीर का **प्रेमदर्पण** (1917 ई0) लिखा गया है। इस प्रकार सूफियों की कविता चौदहवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक अव्यवहित रूप से चलती आयी है।

लौकिक प्रेम – कथानक :– तीसरी श्रेणी में विशुद्ध लौकिक प्रेम – कथाएं आती हैं। इसमें कुछ के साथ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम जुड़े होते हैं, पर मुख्य रूप से इन्हें लौकिक प्रेम – कथा ही कह सकते हैं। राजस्थान और गुजरात में ढोला मारु की कहानी का आश्रय करके एक काव्य लिखा गया था जो क्रमशः प्रक्षेप होते रहने के कारण बढ़ता गया है। विश्वास किया जाता है कि यह ढोला कछआ वंश के राजा नल का पुत्र था जो दसवीं शताब्दी में किसी समय राज्य करता था और मारवणी का मारु राजा पिंगल की कन्या थी। इस प्रकार यह कहानी कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। ढोला मारु के जो दोहे इस समय मिलते हैं उनकी भाषा बहुत पुरानी नहीं है और दोहों में यद्यपि क्रमबद्ध कहानी का आभास मिलता है परन्तु विशेषतः वह मुक्तक के रूप में मिलते हैं।

. आचार्य द्विवेदी जी का विचार है कि, "दोहों में कथा सूत्र टूटा हुआ है, इस बात का अनुमान पुराने जमाने में ही लोगों को हो रहा था। जैसलमेर के रावल ने अपने समय में प्राप्त दोहों को एकत्र कराकर अपने आश्रित जैन कवि **कुशलाभ** को कथा सूत्र को मिलाने की आज्ञा दी। कुशलाभ ने बीच – बीच में चौपाइयाँ जोड़कर यह काम पूरा किया। यह **ढोला मारू** चौपाई नाम से प्रसिद्ध हुआ और जैन लोगों में खूब प्रचारित हुआ।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 165

राम साहित्य

प्रागैतिहासिक युग में आधुनिक युग तक मर्यादा – पुरुषोत्तम रामचन्द्र के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य से मण्डित अलौकिक व्यक्तित्व के विविध रूपों ने जन – मानस को आकृष्ट किया है। राम – काव्य परम्परा के उद्भव और विकास का अनुशीलन करने वाले विद्वानों के मतानुसार राम उत्तर–वैदिक काल के दिव्य महापुरुष हैं, वेदों में कुछ स्थलों पर **राम** शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, किन्तु उसका अर्थ दशरथ – पुत्र राम नहीं, अपितु अन्यान्य व्यक्तियों से है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर **वाल्मीकि रामायण** को आदिकाव्य मानकर रामकथा का मूल स्रोत स्वीकार किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका रचना – काल ग्यारहवीं शती ई0 पूर्व से लेकर तीसरी शती ई0 पूर्व के मध्य स्वीकार किया है। जर्मन विद्वान श्लेगल इसका रचना – काल ई0 पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी, डॉ0 माकोबी छठी और आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के बीच, डॉ0 कीथ चौथी शताब्दी ईसा पूर्व तथा डॉ0 विंटरग्रीन तीसरी शताब्दी ईसा – पूर्व स्वीकार कर सकते हैं। इसके रचना – काल में बारे में मत – वैभिन्न्य होते हुए भी अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसकी रचना महात्मा बुद्ध के अवतार से पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि इसमें गौतम बुद्ध के अवतार का उल्लेख नहीं है। **वाल्मीकि रामायण** के दाक्षिणात्य, गौड़ीय और पश्चिमोत्तरीय ये तीन पाठ उपलब्ध होते हैं और इनमें देशकाल के व्यवधान के कारण पर्याप्त विभिन्नता है। इस आदिकाव्य में राम का चित्रण उदात्त और असाधारण गुणों से सम्पन्न दिव्य महापुरुष के रूप में हुआ है।

वाल्मीकि रामायण की कथा **महाभारत** भी अनेक स्थलों पर विविध प्रसंगों में 'आरण्यक', 'द्रोण', एवं 'शान्तिपर्व' में वर्णित है। युधिष्ठिर के शोकाकुल होने पर ऋषि मार्कण्डेय द्वारा उन्हें सुनाया गया रामोपाख्यान अन्य पर्वों में उपलब्ध रामकथा की अपेक्षा सर्वाधिक विस्तृत है। सीता की अग्नि – परीक्षा आदि कुछ प्रसंग इसमें भी नहीं हैं। कतिपय प्रसंगों के न होने

अथवा किंचित परिवर्तित रूप में होने के कारण ही यह माना जाता है कि महाभारत में उपलब्ध रामकथा वाल्मीकि रामायण से प्रभावित होने के साथ-साथ राम - कथा के लोक - प्रचलित मौखिक रूपों पर भी आधृत है। उनका स्वरूप अवतारी स्वरूप है।"[1]

रामकथा का अनुरागमयी भक्ति - भावना की दृष्टि से आख्यान अगस्त्य संहिता, राघवीय संहिता, रामपूर्व तापनीय उपनिषद रामोत्तर तापनीय उपनिषद् राम रहस्योपनिषद् प्रभृति धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, अद्भुत रामयण, भुशुण्डि रामायण, हनुमत संहिता राघवोल्लास आदि ग्रन्थों में भी रामकथा की धार्मिक एवं दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। विष्णु पुराण, भागवत पुराण और कूर्म पुराण में रामकथा सर्वाधिक वैविध्य सम्पन्न है। वाराह, अग्नि, लिंग, वामन, ब्रह्म, गरुड़, स्कन्द, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, आदि पुराणों में भी रामकथा के अनेक प्रसंग दृष्टिगत होते हैं। इनमें परब्रह्म स्वरूप में राम की प्रतिष्ठा हुई है।

<u>बौद्ध एवं जैन - ग्रन्थों में राम कथा</u> :- संस्कृत - ग्रन्थों के साथ - साथ राम कथा बौद्ध एवं जैन - ग्रन्थों में भी मिलती है, किन्तु इनमें रामकथा के अनेक घटना प्रसंगों को पूर्वाग्रह से प्रेरित होकर विकृत एवं परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध एवं जैन - ग्रन्थों का उद्देश्य मर्यादा पुरुषोत्तम राम के औदात्य को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा अपने - अपने धर्मों की सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुकूल रामकथा को नयी भाव - भूमि प्रदान करना रहा है। बौद्ध जातक - कथाओं में रामकथा - 'दशरथ जातक', 'अनामर्क जातक', तथा चीनी त्रिपिटिक के अन्तर्गत दशरथ - कथानक में उपलब्ध होती है। बौद्ध ग्रन्थों की अपेक्षा जैन - ग्रन्थों में राम कथा का वर्णन अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक हुआ है। विमलसूरि - रचित पउमचरियम् भाव एवं शैली दोनों दृष्टियों से अत्यन्त परिष्कृत रचना है। रामकथा के उद्भव और विकास के सन्दर्भ में ही नहीं, तत्सामयिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के अध्ययन एवं भाषाशास्त्रीय

अनुशीलन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व रचित **वसुदेव हिण्डी** में कृष्ण कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन हे ओर इसी ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठों में रामकथा का संक्षेपण भी प्रस्तुत किया गया हे। "जैन ग्रन्थों की इस परम्परा में भुवनतुंग सूरि प्रणीत **सियाचरियम्** तथा **रामचरियम्**, रविषेण–कृत, 'पद्मचरित' तथा 'गुणभद्ररचित', 'उत्तर पुराण' भी उल्लेख है। हरिषेण के 'कथाकोष' (दसवीं शती) में भी 'रामायण कथानकम्' तथा 'योगशास्त्र' की टीका में भी रामकथा के अनेक प्रसंग हैं।"[1]

उपयुक्त सभी ग्रन्थों की रचना जैन धर्म की दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में हुई है, इसलिए इनमें राम को सर्वत्र परब्रह्म के रूप में ग्रहण न कर उनका चित्रण असाधारण शक्तियों से सम्पन्न महापुरुष के रूप में ही हुआ हे। पुराण ग्रन्थों में उपलब्ध अवतारवाद की भावना भी इन ग्रन्थों में जेन धर्म की परिपुष्टि के लिए परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं; जेसे कि इन ग्रन्थों में।

राम के वन – गमन के उपरान्त पुत्र – वियोग से राजा दशरथ की मृत्यु का वर्णन नहीं है, अपितु उनके द्वारा जेन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर संन्यास ग्रहण कर लेने का वर्णन इनमें मिलता है। राम द्वारा भी समय – समय पर जेन मुनियों से सहायता प्राप्त करने का वर्णन इन ग्रन्थों में हुआ है। आठवीं–नवीं शताब्दी के मध्य स्वयम्भू – प्रणीत **परमचिरउ** । राम की माता का नाम पुष्पदन्त के अनुसार **सुबला** था। स्वयम्भू ने राम के एक ही विवाह का वर्णन किया हे ओर पुष्पदन्त के अनुसार राम के आठ विवाह हुए थे। पुष्पदन्त आदि जेन कवियों ने राम वन गमन, सीता की अग्नि – परीक्षा सदृश मार्मिक प्रसंगों का भी वर्णन नहीं किया हे।

बोद्ध एवं जेन ग्रन्थों में उपलब्ध रामकथा के सन्दर्भ में भारतीय अवतारवाद एवं वेष्णव भक्ति – भावना के उद्भव और विकास के क्रमबद्ध विश्लेषण से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मर्यादा – पुरुषोत्तम राम की परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा होने से पूर्व वीरपूजा के रूप में उनकी उपासना

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 – 197

बहुत पहले जन – साधारण में प्रचलित हो चुकी थी। वैदिक युग से लेकर पौराणिक युग तक जैसे – जैसे ज्ञान एवं कर्म की अपेक्षा भक्ति का विकास होता गया, वैसे – वैसे विष्णु के अवतार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा दृढ़ होती चली गयी। वैष्णव भक्ति के उद्‌भव और विकास की इस परम्परा में रामानुज, रामानन्द आदि आचार्यो ने रामकथा को दर्शन एवं भक्ति की सहजग्राह मनोवेज्ञानिक भाव – भूमि प्रदान की।

दक्षिण के आलवारों में रामभक्ति :–

वेष्णव भक्ति के इस विकास – क्रम में रामभक्ति सर्वप्रथम दक्षिण के आलवार सन्तों की वाणी के माध्यम से प्रस्फुटित हुई और तदुपरान्त उत्तरी भारत में उनका विकास हुआ। ये आलवार संख्या में बारह थे। इनमें से काठकोप अथवा नम्मालवार राम की पादुका के अवतार माने जाते हैं। सर्वप्रथम इनकी रचना **तिरुवायमोलि** में अनन्य रामभक्ति का वर्णन मिलता है। इनकी अन्य तीन प्रसिद्ध रचनाएं हैं – 'तिरुविरुतम', 'तिरुवर्गशरियेम' तथा 'परियतिरुवन्दादि'। सातवें आलवार केरल के चेरवंशी राजा कुलशेखर भी अनन्य राम – भक्त थे। एक बार रामकथा के अन्तर्गत सीता हरण का प्रसंग सुनते ही भावावेश में इन्होंने तुरन्त लंका पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी थी। 'पेरु माल तिरुभोवि' में इनके रामभक्ति विषयक सरस गीत संकलित है। शठकोप एवं कुलशेखर के अतिरिक्त अन्य आलवार सन्तों के गीतों में भी ऊँच – नीच के भावों से विनिर्मुक्त राम भक्ति के विविध रूपों का प्रतिपादन हुआ है। सेद्धान्तिक दृष्टि से श्री सनक ब्रह्म, रुद्र – इन चार वेष्णव सम्प्रदायों में से श्री एवं ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्यो ने रामभक्ति को विशेष परिपुष्टि प्रदान की। श्री सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री रंगनाथ मुनि (824 – 924) ने आलवार सन्तों के लोक – प्रचलित पदों को **प्रबन्धम** शीर्षक से चार भागों में संकलित किया। नाथ मुनि के परवर्ती श्री सम्प्रदाय के पुण्डरीकाक्ष, राम मिश्र, यमुनाचार्य आदि आचार्यो ने भी अपनी वाणी के

द्वारा रामभक्ति को आधिकाधिक पल्लवित किया। आचार्य रामानुज का स्थान इस आचार्य परम्परा में अप्रतिम है। ये शेष अथवा लक्ष्मण के अवतार माने जाते हैं। ब्रह्म सम्प्रदाय की भक्ति – परम्परा में मध्वाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उत्तरी भारत में राम – भक्ति का प्रर्वतन आचार्य रामानुज की परम्परा में राघवानन्द द्वारा प्रारम्भ हुआ और उनके शिष्य रामानन्द ने इसे युगानुकूल भाव – भूमि प्रदान की। आचार्य रामानन्द ने ही सर्वप्रथम संकुचित रूढ़ियों में आबद्ध और बाह्य आक्रमणों से सन्त्रस्त समसामयिक हिन्दू समाज को रामभक्ति का अभेद्य कवच प्रदान किया। धनुषबाणधारी राम के लोकरक्षक रूप की उपासना प्रारम्भ कर उन्होंने एक ओर हिन्दू समाज की पराजित मनोवृत्ति को उद्‌बद्ध किया और दूसरी ओर बलपूर्वक मुसलमान बनाए गये हिन्दुओं को रामतारक मन्त्र देकर पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित करने की नयी व्यवस्था भी स्थापित की। "भक्ति – भावना को ऊँच – नीच एवं बाह्य आडम्बरों से मुक्त करने का श्रेय भी आचार्य रामानन्द को प्राप्त हुआ है। इनकी शिष्य परम्परा में निगुर्णापासक एवं सगुणोपासक दोनों ही थे। हिन्दी का भक्तिकालीन रामकाव्य मुख्यतः इन्हीं के सिद्धान्तों से अनुप्रेरित है।"[1]

<u>हिन्दी रामकाव्यः</u> – रामकथा के ओज एवं माधुर्य को जन – मानस की भाव – भूमि पर अधिष्ठित करने का श्रेय भक्तिकालीन भक्त कवियों को ही प्राप्त है। रीतिकालीन रामकाव्य के प्रणेताओं की दृष्टि तो अपने समसामयिक कृष्णकाव्य – प्रणेताओं की भाँति राजदरबारों के ऐश्वर्य से इतनी अधिक अभिभूत हो चुकी थी कि उन्हें राम के लोकरक्षक रूप की अपेक्षा उनके रसिक रूप में अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ और अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों की मर्यादा को वे विस्मृत करते चले गए। भक्तिकाल का राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण भी राम के लोकरक्षक रूप की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक अनुकूल था। विदेशी शक्तियां से आक्रान्त, सामाजिक दृष्टि से वेषम्य – पीड़ित, धार्मिक धरातल पर सिद्धों एवं तान्त्रिकों के विविध मत – मतान्तरों से ग्रस्त नैराश्य – मुक्त हिन्दू जनता को राम के असुर – संहारक, शरणागत – प्रतिपालक अलोकिक रूप ने

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 199

मधुमय सम्बल प्रदान किया। उत्तरी भारत में राम – भक्ति के प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय आचार्य रामानन्द को प्राप्त है। रामकाव्य – परम्परा के अन्तर्गत 'रामरक्षा – स्त्रोत' उनकी प्रसिद्ध रचना है। उनके शिष्यों ने राम के निर्गुण – निराकार और सगुण – साकार रूप की उपासना के आधार पर राम – भक्ति को दो पृथक् भावधाराओं के रूप में पल्लवित किया। "तुलसीदास से पूर्व के रामभक्त कवियों में विष्णुदास का नाम उल्लेख है। नागरी – प्रचारिणी सभा की विभिन्न खोज – रिपोर्टों में इनके द्वारा रचित पाँच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है – महाभारत कथा, रुक्मिणी मंगल, स्वर्गारोहण, पर्व और स्नेहलीला। सभा के 1941 – 43 ई0 के विवरण में **वाल्मीकि रामायण** के हिन्दी रूपान्तरकर्त्ता के रूप में भी विष्णुदास का उल्लेख मिलता है। ईश्वरदास प्रणीत भरत – **मिलाप** तथा अंगद – पैज भी तुलसी पूर्व रामकाव्य परम्परा की प्रमुख रचनाएं हैं। रामकाव्य परम्परा में कुछ जैन – कवियों की रचनाएं भी उल्लेख हैं, जिनमें से मुनि लावण्य प्रणीत **रावण – मन्दोदरी संवाद** ब्रह्मजिनदास रचित **रामचरितमानस** और **हनुमन्तगामी कथा** तथा **हनुमान चरित** प्रमुख हैं।"[1]

<u>रामानन्द</u>: स्वामी रामानन्द जी की जन्मतिथि और जन्मस्थान अभी तक विवादास्पद है। अंग्रेज लेखक फर्कुहर ने इनका समय 1400 से 1470 ई0 तक स्थिर किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पन्द्रहवीं शती के द्वितीय चरण (1450) से सोलहवीं शती के प्रथम चरण के बीच (1525) इनका समय माना है। रामानन्द का जन्म काशी में हुआ था और श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य राघवानन्द से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखते हुए भी इन्होंने भक्ति मार्ग का सभी को समान भाव से अधिकारी माना और निम्न वर्ग के भक्तों को अपना शिष्यत्व प्रदान किया। कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा आदि इनके शिष्य थे।

स्वामी रामानन्द संस्कृत के पण्डित थे। **वैष्णवमताब्द भास्कर** और **श्रीरामार्चन – पद्धति** इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय को रामानुज – सम्प्रदाय से पृथक सिद्ध करने के लिए **ब्रह्मसूत्र** और **गीता** पर इनके नाम से

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 सं0 201

भाष्यों का प्रचार किया गया है, किन्तु उनकी प्रमाणिकता अद्यावधि संदिग्ध बनी हुई है।

रामानन्द के हिन्दी में रचित कुछ पद सुप्रसिद्ध हैं। इन पदों के विषय में प्रमाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है।

अग्रदासः – स्वामी रामानन्द की शिष्य – परम्परा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुए। इनको शास्त्रीय साहित्य का ज्ञान था।

ईश्वरदासः – ईश्वरदास की जन्मतिथि उनकी प्रसिद्ध कृति **सत्यवती कथा** के रचना काल (1501) के आधार पर अनुमति की जाती है। **सत्यवती कथा** की रचना यदि ईश्वरदास ने युवावस्था में की होगी, तो उनका जन्म 1480 ई0 के आस – पास माना जा सकता है। ईश्वरदास की रामकथा से सम्बद्ध रचना **भरत मिलाप** है, जिसका उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज – विवरण में हुआ है। ईश्वरदास की एक अनय रचना **अंगद पेज** भी मिलती है।

गोस्वामी तुलसीदासः – संयोग से निर्गुण मार्ग की राम भक्ति को आरम्भ में ही कबीर ओर नानक जेसे शक्तिशाली सन्त मिल गए, परन्तु सगुण मार्ग की राम भक्ति को कुछ विलम्ब से तुलसीदास जैसा भक्त प्राप्त हुआ। यह खेद की बात है कि इतने बड़ महापुरूष की जन्म तिथि और जन्म स्थान का कुछ पता नहीं चलता। इधर इस प्रकार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी हे कि तुलसीदास के साथ अपने गाँव या कुल या प्रदेश का कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ, तुलसीदास के शिष्यों की 'डायरी' से लेकर उनके सगे–सम्बन्धियों के ग्रन्थ तक उपलब्ध होने लगे। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है ''तुलसीदास के पूर्व–पुरुष एटा जिले के रामपुर नामक ग्राम में, जिसे उनके चचेरे भाई नन्ददास ने नाम बदल कर श्यामपुर कर दिया था, रहते थे। यह स्थान सोरों से दो मील दूर हे। विशेष परिस्थितियों के कारण तुलसीदास के पिता आत्माराम शुक्ल को सपरिवार सोरों जाना पड़ा। पर उनके भाई (नन्द दास के पिता) उसी गाँव में रहे। तुलसीदास की दाहावली के अनेक दोहों से इस तथ्य का समर्थन किया गया हे कि उनका निवास

स्थान सोरों के इसी मोहल्ले में था। उनकी ससुराल बन्दरिया ग्राम में थी। इधर नन्ददास के एक पुत्र कृष्णदास का भी पता चला है। उनकी लिखी दो पोथियाँ भी प्राप्त हुयी हैं जिनमें एक का नाम 'सूकर-क्षेत्र-महात्म्य' है और दूसरी का 'वर्षफल'। दोनों में ही कृष्णदास ने सावधानी के साथ अपने पिता के नाम के साथ अपने बड़े चाचा के नाम का उल्लेख किया है। और अपनी माता कमला और चाची रत्नावली के चरणों की वन्दना की है। 'सूकर-क्षेत्र-महात्म्य' सं0 1670 (1613 ई0) में लिखा गया और 'वर्षफल' सं0 1657 (1600 ई0) में। दोनों में रत्नावली माता का स्मरण किया गया। इन कृष्णदास के लिखी गई एक रामायण की खण्डित प्रति भी मिली है। जो सं0 1643 (1586 ई0) की लिखी गई है। इसमें भी लिपिककार लक्ष्मनदास यह लिखना नहीं भूले हैंकि "श्री तुलसीदास गुरू की आज्ञा सों उनके भ्राता-सुत कृष्णदास सोरों क्षेत्र निवासी हेत लिखित।" फिर नन्ददास के पुत्र का नाम कृष्णदास भी उचित ही जान पड़ता है। सब मिलाकर सोरों से प्राप्त होने वाली सामग्री जितनी साफ-सुथरी और सुन्दर योजना समन्वित है, उतनी हिन्दी साहित्य के इतिहास में अन्यत्र नहीं देखी गई। इस सामग्री ऐसी कोई बात आई ही नहीं है जिसके विषय में आधुनिक पण्डितों में मतभेद हो सके। ये सिर्फ एक बात का पक्का समर्थन करती है कि तुलसीदास सोरों के निवासी थे। और तो और स्वयं माता रत्नावली के लिखे दोहे भी मिल गए हैं। और उसमें देवर-नन्द की चर्चा छूटने नहीं पाई है। इस प्रकार के एक मन, एक चित्त, एक प्राण-लेखक साहित्य में दुर्लभ हैं। मुझे सोरों के प्रमाणिक या अप्रमाणिक होने के पक्ष में कुछ भी नहीं कहना है। जहाँ पुस्तकों से पढ़कर समझने का प्रश्न है मेरा विचार है कि सोरों के पक्ष में दिए जाने प्रमाण बहुत महत्वपूर्ण न होते हुए भी वजनदार हैं। उनको यों नहीं टाल दिया जा सकता हैपरन्तु यदि इस प्रकार सुचिन्तित योजना के साथ प्रमाणों की वृद्धि होती गयी तो निर्णय करना कठिन हो जाएगा। कि सोरों कि वास्तविक जनश्रुति और अनुश्रुति क्या है। फिर तो तुलसीदास और नन्ददास के जन्म स्थान का प्रश्न हमेशा के लिए धूमिल हो जाएगा।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास पृ0 सं0 - 139-40

तुलसीदास का देखा हुआ समाज :- तुलसीदास की जो पुस्तकें प्रमाणिक मानी जाती है, उनको देखने से स्पष्ट होता है कि जिस काल में उनका जन्म हुआ था, उन्होंने जिस समाज को देखा था, वह बहुत ऊँचे आदर्शों पर नहीं चल रहा था। उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में डूबे हुए थे, और निचले स्तर के स्त्री-पुरुष दरिद्र, रोगी और अशिक्षित थे। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "वस्तुतः मुस्लिम-सम्पर्क के बाद हिन्दू समाज में आत्म - रक्षा की जो भावना उत्पन्न हुई थी, उसने समाज में अनावश्यक सावधानी का भाव भर दिया था। जाति-पाँति की प्रथा और भी कठोर हो उठी थी। जन्म से ही नीच माने जाने वाले लोगों में यदि कुछ भी स्वाधीन विचार उत्पन्न हुआ करता, तो वे इस कठोर बन्धन की विषम वेदना से विचलित हो जाते और साधु बन जाते थे। इस बात को यदि सहानुभूति की दृष्टि से देखा जाय तो यह आवश्यक सामाजिक रोग के रूप में दिखेगी।"[1]

धार्मिक स्थिति :- तुलसीदास के युग में हिन्दुओं के समाज का फौलादी ढाँचा जहाँ एक तरफ अतिरिक्त सावधानी के कारण अधिकाधिक कसा जा रहा था, वहाँ उसी कसाव के परिणाम स्वरूप धार्मिक ओर साहित्यिक क्षेत्र में यथा स्थिति मर्यादा पर कसक चोटें भी की जा रही थी। डॉ0 द्विवेदी के शब्दों में "लोग पेट के लिए ऊँचे-नीचे सब कर्म करने को प्रस्तुत थे। भिक्षा जीवी ब्राह्मणों में भीरुता आ गई थी। पण्डितों और ज्ञानियों की दुनिया अलग थी।"[2]

रामभक्ति साहित्य की विशेषता :- रामभक्ति का साहित्य का सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य है। "राम को आश्रय करके लिखे गए साहित्य में सामाजिक विधि-निषेध की ओर काफी ध्यान दिया गया है। राम भक्ति के साहित्य मर्यादाओं का इतना अधिक ध्यान रखा गया हे कम प्रतिभाशाली कवियों के हाथ पकड़कर वह ऊपरी सतह की नैतिकता के रूप में प्रकट हुआ है।"[3]

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 –135
2. हिन्दी साहित्य का : उद्भव और विकास –पृ0 सं0 136
3. हिन्दी साहित्य का: उद्भव और विकास – पृ0 सं0 150

कृष्ण भक्ति का प्रभाव :- कृष्ण भक्ति की एकान्तिक प्रेम साधना ने धीरे-धीरे रामभक्ति के साहित्य और साधना को भी प्रभावित किया है। डॉ द्विवेदी के शब्दों में "अठाहरवीं शताब्दी के बाद अयोध्या के रामायत वैष्णवों में इस प्रकार की मधुर-भाव की साधना का सूत्र-पात्र हुआ है। मधुर भाव की उपासना कुछ इतनी आकर्षक और मनोहर है कि भक्त-हृदय उसकी ओर आँख नहीं मूँद सकता। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने प्रधान रूप से दास्य-भाव का प्रचार किया है, पर 'गीतावली' के उत्तर काण्ड में कृष्ण भक्ति कवियों की भाँति माधुर्य की ओर आकृष्ट हुए दिखते हैं।"[1]

मधुर भाव का प्रवेश :-तुलसीदास मर्यादा प्रेमी कवि हैं, और अपनी माधुर्य भावना में भी सावधान हैं, किन्तु अठाहरवीं शताब्दी के बाद अयोध्या में माधुर्य भाव की उपासना का पूर्ण समावेश हुआ है-

"महाप्रभु चैतन्यदेव राधाभाव से भगवान का भजन करते थे, परन्तु उन लोगों ने भी इस साधना को आन्तरिक भावना पर आश्रित बनाए रखा। कभी किसी ने बाह्य रूप में स्त्रीवेश धरके भगवान के सामने हाव-भाव नहीं दिखाया। परन्तु अयोध्या के नवीन माधुर्योपासकों ने स्त्रीवेश धारण करके लालसाहब (श्री रामचन्द्र) को नाना श्रृंगारिक चेष्टाओं से प्रसन्न करने की साधना प्रवर्तित की है। इन माधुर्यभावोपासक भक्तों में भी रामोपासना का प्रधान गुण मर्यादा का पालन एकदम गायब नहीं हो गया है।"[2]

समन्वय बुद्धि :- राम साहित्य की विशेषता जुड़ी है समन्वय वादी दृष्टिकोण से। "उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग औरअनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पण्डित और अपण्डित का समन्वय।"[3]

भाषा का प्रभुत्व :- राम काव्य की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसका परिमार्जित रूप है। अवधी तया ब्रजभाषा का लालित्य सर्वत्र दृष्टिगत होता है "जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती हैं, वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडराकर प्रतिपादित

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास - पृ0 सं0 -151
2. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 - 151
3. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास - पृ0 सं0 - 142

सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता है।"[1]

तुलसी के अतिरिक्त अन्य रामभक्तों में

<u>नाभादास</u> :– कृष्णदास पयहारी के ही शिष्य नाभादास थे, जिनका "भक्तमाल" अपने ढ़ग का अपूर्व ग्रन्थ है, ये तुलसीदास के समकालीन थे। "भक्तमाल" की विशेषता बताते हुए डॉ द्विवेदी लिखते हैं "यह ऐसा अपूर्व ग्रन्थ है कि परवर्त्ती काल में इसकी एक अपनी परम्परा स्थापित हो गई है, इस पुस्तक में ही भक्तों के नाम के साथ सिद्धियों और चमत्कारों का बीज–वपन हुआ है।"[2]

<u>प्रियादास</u> :– नाभादास जी के शिष्य प्रियादास ने 'भक्तमाल' पर टीका कवित्त–सवैयों में लिखी है, जिसमें जीवन वृत्त की अपेक्षा चमत्कारों का ही विस्तार है। "भक्तमाल" के वेष्णव भक्तों की मान –रक्षा का भार भगवान पर आ गया है। भक्त अपना निरीह भाव छोड़ने को बाध्य नहीं, उस पर जो विपत्ति आती है, वह भगवान की शरणागति से दूर हो जाती है, इस नई प्रवृत्ति ने भक्तों को बहुत लोक प्रिय बनाया। सटीक भक्तकाल का एक अनुवाद बंगला में श्री कृष्णदास या लालदास नामक भक्त ने किया।"[3]

<u>केशवदास</u> :– रामचरित सदा से भारतीय साहित्य का विषय रहा है, केशवदास की प्रसिद्ध 'रामचन्द्रिका' इसी चरित को आश्रय करके लिखी गई है। आचार्य द्विवेदी जी ने 'केशव' को भक्तिकाल और रीतिकाल दोनों का कवि माना है – "रसिक प्रिया, कविप्रिया काव्यशास्त्र की पुस्तकें हैं। जिन दिनों वे इन्हें लिख रहे थे, उन्हीं दिनों वाल्मीकि मुनि ने उन्हें स्वप्न में ऐसी बेकार बातों से विरत होने का उपदेश दिया है, पर विरत होते थोड़ी देर लगी, 'रामचन्द्रिका के आरम्भ में उनका काव्यशास्त्र शिक्षक रूप ही प्रधान हो उठा है। वस्तुतः केशवदास रीतिकाल के ही आचार्य हैं। खोज की रिर्पोटों में 'बाल–चरित्र' और 'हनुमान–जन्म–लीला' नाम की दो और पुस्तकें केशवदास लिखित पाई गईं हैं।"[4]

गोस्वामी तुलसी के लोक व्यापी प्रभाव ने जहाँ रामचरित को अत्यन्त लोक प्रिय बना दिया, वहीं रामचरित सम्बन्धी अन्यान्य काव्यों को श्री हीन, फीका बना दिया"

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 –144
2. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0– 146
3. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 146
4. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 148–49

"उदयराम ने 1566 ई0 में "हनुमान्नाटक" के आधार पर इसी नाम की पुस्तक लिखी। प्राणचन्द चोहान ने 1610 ई0 में 'रामायण महानाटक' की रचना की। लालदास ने 1643 में "अवध विलास" लिखा और 1693 में "बाल भक्ति नेह प्रकाश" और दयाल मंजरी नाम के ग्रन्थ लिखे, जिनमें प्रथम पुस्तक "सीता राम की कहानी" है।"[1]

सन् 1703 ई0 में अयोध्या के महन्त श्री राम प्रिया शरण ने सीतायन लिखा प्रेम सखी ने "जानकी राम का नख शिख– 'होरी छन्दादि प्रबन्ध, "कवित्तादि प्रबन्ध" नाम की पुस्तकें लिखीं। अठाहरवीं शताब्दी के अयोध्या – निवासी जानकी रसिक शरण जी ने "अवधी सागर" नामक ग्रन्थ की रचना की।"[2]

विश्वनाथ सिंह :– रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह राम भक्त थे। इन्होंने रामकथा का आश्रय लेकर कई काव्य लिखे, जिनमें 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक बहुत महत्वपूर्ण है।। "इसमें रामचन्द्र जी का नाम "हितकारी" है– रावण का "दिक्–शिरा" है, सुग्रीव का सुगल है, अंगद का "भुजभूषण" है, और हनुमान जी का नाम "त्रेतामल्ल" है। इस प्रकार महाराज विश्वनाथ सिंह जी ने रामनाथ के पात्रों के नाम बदल दिए हैं, यद्यपि यह बदलना सार्थक है, इस नाटक में ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया गया है।"[3]

स्व सुखी सम्प्रदाय :–अयोध्या के श्री राम चरण दास जी, जो सखी सम्प्रदाय के स्वसुखी शाखा के प्रवर्त्तक हैं, इन्होंने 'दृष्टान्त बोधिका', 'कतिवली रामायण', 'पदावली', 'रामचरित्र' और रसमालिका"। उन्नीसवीं शताब्दी के श्री जानकी चरण के दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं ' प्रेम प्रधान', 'सियाराम रस मंजरी'।

तत्सुखी शाखा :– सखी सम्प्रदाय के तत्सुखी शाखा के प्रवर्त्तक श्री जीवाराम जी जिनका भक्त नाम युगल प्रिया था की भी दो रचनाएं मिली हैं **पदावली और इष्टयाम।** नेह प्रकाश जनक लाड़िली शरण ने लिखी, 'सीताराम सिद्धान्त–मुक्तावली' और ' सीताराम सिद्धान्त– अनन्य तरंगिणी' रसिक अली ने लिखी। "युगलानन्द शरण जी के शिष्य

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 –150
2. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 152
3. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 153

जानकीशरण जी हुए जिनका भक्त नाम प्रीतिलता था; इनके शिष्य श्री राम वल्लभाशरण जी हुए जिनका साधनानाम युगलबिहारिनी जी था। प्रीतिलता के लिखे तेतिस ग्रन्थ हैं जो सब अप्रकाशित हैं। इनकी रचनाओं में कुछ तो सिद्धान्तरव्यापक ग्रन्थ हैं – 'नाम तत्त्व – सिद्धान्त, नाम रहस्यमयी, सीताराम रहस्य दर्पण इत्यादि, कुछ उपदेशपरक हैं जेसे – वेराग्य – प्रबोधिक बहत्तरी, हितोपदेश शतक, 'उपदेश पेटिका।"[1]

कृष्ण साहित्य

यदि रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर राम – भक्ति का प्रचार किया तो निम्बार्क और विष्णुस्वामी के आदर्शो को सामने रखकर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की ही भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति **भागवत – पुराण** से ली गई है जिसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का ही अधिक महत्त्व है, आत्म – चिंतन की अपेक्षा आत्म – समर्पण की भावना का प्राधान्य है। ऋग्वेद संहिता में कृष्ण का नाम कई स्थलों में आया है। यजुर्वेद में भी कृष्ण केसी नामक असुर को मारने वाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद में भी कृष्ण उल्लेख है जिन्हें ऋषि अंगरिस का शिष्य और देवकी का पुत्र कहा है। इसके पश्चात् वासुदेव धर्म के उत्थान के साथ वासुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा हुई, जो एक ऐतिहासिक पुरुष, द्वारिका का राजा तथा महाभारत कराने वाले समझे जाते थे। वैदिक कृष्ण और उपनिषदों से कृष्ण से इसका योग हुआ और कदाचित इस प्रकार महाभारत के ज्ञानी और योद्धा कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। पंतजलि के समय में वासुदेव धर्म के पुनरुत्थान के कारण महाभारत के कृष्ण को परम भार्गव मान लिया गया और उन्हें वेदिक देवता विष्णु और नारायण से मिला दिया गया।

निम्बार्क से पहले भागवत पुराण के आधार पर माधव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परन्तु इसमें अद्वेतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना को

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास, पृ0 सं0 153

ही स्थान दिया गया है। ईसा की 15 वीं शताब्दी में कृष्ण भक्त का जो प्रचार हुआ, उसमें वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की स्थापना की वहाँ भक्ति के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग चलाया। शुद्धाद्वैत और पुष्टि मार्ग के योग से उन्होंने श्री कृष्ण को ब्रह्म मानकर उन्हीं की कृपा पर जीव के सत्-चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप की भी कल्पना की।

महाप्रभु ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म और दिव्य गुण सम्पन्न **पुरुषोत्तम** माना है। उनके लोक को वैकुण्ठ माना है। जिसका एक खण्ड गोलोक है। इसके अन्तर्गत वृन्दावन, यमुना, गोवर्धन, निकुन्ज आदि सभी आते हैं और इनमें कृष्ण जी अलक्षण भाव से गोचारण रास क्रिया आदि किया करते हैं। इस नित्य क्रीड़ा स्थल में यदि जीव प्रविष्ट हो जाता है तो वह मोक्ष करता है। जीव का इसमें प्रविष्ट होना भगवदनुग्रह से होता है। इस भगवदनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि मानते हैं। वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का बहुत अधिक प्रचार किया और शीघ्र ही लोक प्रिय बना दिया। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि "लीला के पद बहुत पहले से ही लिखे जाने लगे थे। कब से लिखे जाने लगे, यह तो कहना कठिन है किन्तु दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों के गेय पदों में कृष्ण लीला गान करने की प्रथा अवश्य चल पड़ी थी। बारहवीं शताब्दी के कवि जयदेव का **गीतगोविन्द** इसी प्रकार का मात्रिक छन्दों के गेय पदों में लिखा गया था। पण्डितों का अनुमान है कि उन दिनों उड़ीसा में इसी प्रकार के गान लोक भाषा में प्रचलित रहे होंगे। उन्हीं के अनुकरण पर जयदेव ने यह गान लिखे होंगे। बौद्ध सिद्धों के गेय पद इतना तो सूचित करते ही है कि पूर्वी भारत में गेय पदों का साहित्य बहुत पहले से रचित होने लगा था। जयदेव का जन्म बंगाल के वीर भूमि नामक जिले के केन्दुलि (केन्द्रिविल्व) ग्राम में हुआ था। इधर कुछ उड़िया विद्वानों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि उनकी जन्म भूमि उड़ीसा में ही थी। उनकी जन्म भूमि चाहे जहाँ भी रही हो, इतना तो निश्चित ही है कि उनकी साधना भूमि जगन्नाथपुरी ही थी। जयदेव के बाद लोकभाषा में गेय पदों को कृष्ण लीला - परक साहित्य मिथिला के विद्यापति और बंगाल के चण्डीदास नामक दो कवियों ने लिखा। विद्यापति की पदावली का

परिचय तो हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को है ही। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि श्रीकृष्ण लीला से सम्बद्ध गेय पद के साहित्य की उत्सभूमि पूर्वी भारत ही है और वहीं से चलकर यह पृथा पश्चिमी भारत में आयी है। बौद्ध सिद्धों के ज्ञान, जयदेव का गीत गोविन्द, चण्डीदास और विद्यापति के पद– सभी इस प्रकार के विश्वास को बल देते हैं।"[1]

श्रीकृष्ण लीला का गान करने के पहले जयदेव ने दशावतार का स्मरण कर लिया है, ऐसा प्रतीत होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में दशावतार वर्णन बहुत आवश्यक समझा जाने लगा। मूल रासों में भी दशावतारवर्णन परक कुछ कविताएं अवश्य रही होंगी। रासो का **दशम** (दशावतार चरित) बारहवीं शताब्दी की रचना है तो पश्चिम भारत के लीला वाले साहित्य के रूप का सुन्दर परिचय देता है। क्षेमेन्द्र के काव्य के साथ मिलाकर देखा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीकृष्ण लीला – विषयक काव्य और गेय पद दोनों ही की परम्परा पश्चिम भारत में एकदम अपरिचित नहीं थी। सूरदास के साहित्य में वह एकाएक नहीं प्रकट हुई है। महाप्रभु बल्लभाचार्य के पुष्टि–सम्प्रदाय में अनेक वैष्णव दीक्षित हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण–भक्ति का प्रचार किया, इसमें अष्टछाप के कवि बहुत प्रसिद्ध हैं, जिसकी स्थापना बल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ ने की थी। उसी अष्टछाप में सूरदास–नन्ददास आदि ब्रजभाषा और कृष्ण–काव्य के श्रेष्ठ कवि थे।

सूरदासः– प्रसिद्ध है कि कविवर सूरदास महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य थे। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियों के अनुसार वे बल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। बल्लभाचार्य की शरण में आने के पहले सूरदास की काफी ख्याति हो चुकी थी। **चौरासी वैष्णवन की वार्ता** के अनुसार इनका जन्म–स्थान रुनकता या रेणुका–क्षेत्र है। ये मुथरा और वृन्दावन के बीच गऊघाट पर रहते थे, भजन गाया करते थे और सेवक अर्थात शिष्य बनाया करते थे। **चौरासी वैष्णवन की वार्ता** से स्पष्ट है कि महाप्रभु के तिरोधान के बहुत बाद तक सूरदास जीवित रहे। अनुमान किया जाता है कि सन् 1523 ई0 के आसपास व वल्लभाचार्य जी के सम्पर्क में आये होंगे। महाप्रभु ने इन्हें श्रीनाथ जी के सामने कीर्तन करने का भार दिया था, परन्तु जब कृष्णदास मन्दिर के अधिकारी

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास : पृ0 सं0 106

नियुक्त हुए तो सूरदास को वहाँ से हटकर पारसोली ग्राम में चला जाना पड़ा था और वहीं उनकी मृत्यु भी हुयी। उनकी मृत्यु के समय वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उपस्थित थे। विट्ठलनाथ जी की मृत्यु 1589 ई0 में हुयी थी, इसलिए सूरदास जी की मृत्यु उसके पहले ही हो गयी थी। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है, "जब महाप्रभु उधर पधारे तो सूरदास के सेवकों ने उन्हें सूचना दी कि दिग्विजयी महाप्रभु बल्लभाचार्य पधारे हैं, जिन्होंने सब पण्डितों को जीतकर भक्तिमार्ग की स्थापना की है। यह सुनकर सूरदास जी उनसे मिलने गये। उस समय महाप्रभु भोग लगाकर और स्वयं भी प्रसाद पाकर गद्दी पर विराजमान थे। सूरदास जी को देखकर उन्होंने भगवद्भजन करने का आदेश दिया। आज्ञा पाकर सूरदास जी ने दो भजन गाये – "प्रभु हों सब पतितन को टीकों" और "हों हरि सब पतितन को नायक"। महाप्रभु ने दो ही भजन सुने और फिर डाँटकर कहा, "सूर ह्वेके ऐसो घिघियात काहे को हो, कछु भगवत लीला वर्णन करो।" किन्तु सूरदास को भगवत् लीला का कुछ ज्ञान नहीं था। तब श्री महाप्रभु जी ने पहले तो सूरदास जी को नाम सुनाया, पीछे समर्पण करवाया और फिर भागवत्–दशमस्कन्ध की अनुक्रमणिका कही, और तब "श्री सूरदास जी ने भगवत्लीला–वर्णन करो।" इस घटना से यह सूचित होता है कि वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले जो सूरदास भजन बनाया करते थे, उसमें लीला का कोई स्थान नहीं था। लीला का वर्णन सूरदास की वल्लभाचार्य से पाई हुई विशेष दृष्टि है।"[1]

क्या सूरदास जन्मान्ध थे? – यह प्रश्न बार–बार सजग पाठकों के मन में उभरता है कि सूर जन्मान्ध थे या किसी घटना के कारण उनकी नेत्र ज्योति जाती रही। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि, "कहा जाता है कि सूरदास ने अपनी प्रेमिका से आँख फुड़वा ली थी, घटना इस प्रकार है, "उस युवती ने समझा, आज भाग्य जगे जो महात्मा हमारे घर पधारे। युवती ने पूँछा – "क्या सेवा करूं?"

महात्मा ने कहा, "दो तीक्ष्ण कांटे ले आओ।" युवती ने तत्काल आज्ञा पालन की। साधु बोला: देवि, तुम्हें क्या मालूम है, मैंने इन पापी आँखों को बन्द करके तुम्हें देखा है। मेरी विभोर वासना तुम्हारे इसी मुख की ओर दौड़ पड़ी थी। उस समय

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ0 सं0 109

तुम्हारे विमल हृदय रूपी आइने में मेरे कलुष-निःश्वास की कुछ छाया पड़ी थी। लज्जा ने सहसा आकर वस्त्र की भाँति रंगीन आवरण से तुम्हारे मुख को इन लुब्ध नयनों से बचाने के लिए ढक लिया था। वह मेरी मोहमयी चंचल लालसा काले भौंरे की भाँति तुम्हारे दृष्टि-पथ के चारों ओर क्या गुनगुना रही थी।

युवती कुछ समझ न पायी। आश्चर्य से उस तरुण साधु की ओर ताकती रह गयी।

साधु ने कहा, "लो, इन तीक्ष्ण काँटों से मेरी काली आँखे फोड़ दो। जिन आँखों की प्यास तुम्हारे लिए है, वे तुम्हारे ही हों।"

युवक कवि हो गया; कवि, भक्त। चक्षुष्मान अन्धा हो गया; अन्धा, प्रज्ञाचक्षु।

कहते हैं कि उस दिन से राधिका ने भारतवर्ष के घरों में आश्रय लिया और कृष्ण ने सर्वत्र। वह अन्ध गायक न वृद्ध हुआ न मरा। उसने जो कुछ गाया वह उसके लाख-लाख गानों के रूप में फैल गया। लोग हंसते थे उसके गानों में रोते थे उसके गानों में और सोते - जागते थे उसके गानों में।"[1]

डॉ0 द्विवेदी का विचार है कि सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती नहीं मानना चाहिए। सूरदास का साहित्य कभी जन्मान्ध व्यक्ति का लिखा साहित्य नहीं हो सकता।"[2]

<u>साहित्य की विशेषता</u> :-

1. <u>प्रेमतत्त्व</u> :- प्रेम के इस स्वच्छन्द और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह भी इस प्रेम के योग्य है, "प्रेम का वही रूप जिसमें संयोग में कभी विरहाशंका का अनुमान नहीं किया, वियोग में इस मूर्ति को धारण कर सकता है। वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है, उनके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रूदन में हास और हास में रूदन की चातुरी भी नहीं है,

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली - भाग - 4 - पृ0 सं0 124

2. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास पृ0 सं0 110

इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है –

"प्रथम सनेह दुहुँन मन जान्यो।
सेन सेन कीनी सब बातें गुप्त प्रीति सिसुता प्रगटान्यौ।"[1]

भक्ति :– सूरदास भक्त थे, सूरसागर का कोई भी पाठक कह जाता है कि सूरदास उस श्रेणी के भक्त नहीं जैसे तुलसीदास। सूरदास की भक्ति में वात्सल्य भाव और सख्य – भाव की प्रधानता है, "आरम्भ में सूरदास, जान पड़ता है, सख्य या वात्सल्य की अपेक्षा दास्य की ओर अधिक झुके थे। –

"प्रभु हों सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब धौस चारि के हों तो जनमत ही कौ।।"[2]

3. बाललीला वर्णन :– हिन्दी के कितने ही लब्ध प्रतिष्ठ समालोचकों को सन्देह है कि संसार के दूसरे कवि ने इस प्रकार की लीला का वर्णन किया है या नहीं। xxx इस बात में तो उसे भी सन्देह है कि भारत वर्ष – उत्तर भारतवर्ष के किसी वैष्णव कवि ने इतनी सफलता से इस पूर्णता के साथ बाल – लीला का चित्रण किया होगा x–x बाललीला में सूरदास पूरी तरह रम जाते हैं। वे पाठकों को सावधान करना भी प्रायः भूल जाते हैं कि यह प्राकृत जन की लीला नहीं है, कुछ थोड़े प्रसंगों में वे लोकोत्तरता की याद भी दिला देते हैं –

"कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रंग खेलत।"[3]

4. वाग्वेदग्धता :– सूर साहित्य की विशेषताओं भ्रमरगीत परम्परा के साथ गोपिकाओं का वाग्वेदग्ध भी है –

"निर्गुण कौन देश को वासी।
मधुकर हँसि समुझाय, सोंह दै बूझति साँच न हाँसी।।"[4]

5. ब्रजभाषा – अलंकार योजना: –

"उन्होंने एक इतः पूर्ण काव्य में अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर, मधुर और आकर्षक बना दिया कि लगभग चार सौ वर्षो तक उत्तर – पश्चिम भारत की

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 90
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 115
3. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 186
4. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – " " "

कविता का सारा राग – विराग, प्रेम – प्रतीति, भजन – भाव उसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ। xxx सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकारशास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे दौड़ा करता है, उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है, संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। पन्ने पढ़ते जाइए, केवल उपमाओं – रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाट, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार।

"नैन मीन मकराकृत कुण्डल भुजबल सुभग भुजंग।
मुकुतमाल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिये संग।।"[1]

<u>अष्टछाप</u> :– महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने महाप्रभु के शिष्यों में से चार और अपने शिष्यों में से चार कवि भक्तों को चुनकर अष्टछाप की स्थापना की थी। सूरदास के अतिरिक्त कवि हैं –

<u>कृष्णदास</u> :– महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य कृष्णदास का जन्म सं0 1552 में अहमादाबाद राज्य के चिलोत्तरा ग्राम में हुआ। इनकी कविता का परिचय, "कृष्णदास जी का कीर्तन" में मिलता। इनकी रासलीला में अधिक थी," कृष्ण अधिकारी शूद्र थे, किन्तु अपनी योग्यता के बल पर श्रीनाथ जी के मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए थे। गुरू और सम्प्रदाय की मानरक्षा के लिए वे अच्छा – बुरा सद करने को प्रस्तुत थे। उनकी भक्ति का बाह्य रूप अनेक प्रकार के अवांछित और विसदृश रूपों में प्रकट हुआ हे, किन्तु उसमें सच्चाई और निष्ठा है, इसमें सन्देह नहीं।"[2]

<u>कुम्भनदास</u> :– इनका जन्म जमुनावती नामक ग्राम में सं0 1525 में हुआ, ये अष्टछाप के कवियों में अपनी गायन माधुरी के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता बड़ी भावमयी और रसभरी है। "कुम्भनदास – जैसे मस्तमौला फक्कड़ उस काल में कम हुए होंगे। ये भी शूद्र थे। अकबर ने फतेहपुर सीकरी बुलवाया, पैदल ही गये और श्री नाथ जी दर्शन न कर सकने व्याकुल होकर लौट आए –

"सन्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गए हरिनाम।।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।।"[3]

---

1. डॉ0 हाजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 182
2. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास – पृ0 सं0 116
3. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास – पृ0 सं0 117

परमानंद दास :- इनका जन्म सं0 1553 के लगभग कन्नौज नामक स्थान में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनकी पुस्तक **परमानंद सागर** प्रसिद्ध है। कहते हैं इसमें भी लक्षावधि पद थे परन्तु खोज से जो प्रति प्राप्त हुई उसमें 835 ही पद हैं, इनके पदों में भाषा का लालित्य दर्शनीय है।"[1]

नन्ददास :- अष्टछाप कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का प्रमुख स्थान है, इनका जन्मकाल सं0 1590 के लगभग ठहरता है। इनकी कई पुस्तकें प्राप्त हुई हैं, जिनमें "रास पंचाध्यायी", "सिद्धान्त पंचाध्यायी", "अनेकार्थ मंजरी", "मान मंजरी", "रूप मंजरी", "रस मंजरी", "विरह मंजरी", "भ्रमरगीत", "श्याम सगाई", "रुक्मिणी मंगल", "सुदामाचरित" मुख्य हैं। "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" में इनके सम्बन्ध में बताया गया कि तुलसीदास के छोटे भाई थे। "निस्सन्देह नन्ददास उच्च कोटि के भावुक भक्त थे। परन्तु सूरदास की भाँति सहज कवित्व से ही सन्तुष्ट नहीं होते थे। उनकी रचनाओं में विद्याध्ययनजन्य ग्रन्थिलता वर्तमान है। उनकी भाषा प्रौढ़ और मार्जित है, विचार पद्धति शास्त्रीय और पुष्टिमार्ग सम्मत है।"[2]

चतुर्भजदासः – गोसाई विट्ठलनाथ जी के शिष्य चतुर्भजदास कुम्भनदास जी के पुत्र थे. इनका जन्म सन् 1557 जमुनावती नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने कृष्ण की बाल लीलाओं का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है, "इनकी तीन पुस्तकें – "द्वादश यश", "हितजू को मंगल",(?) और "भक्ति प्रकाश" तथा कुछ फुटकल पद भी प्राप्त हुए हैं। भाषा और कविता साधारण कोटि की है।"[3]

छीतस्वामीः – इनका जन्म सं0 1537 में मथुरा में हुआ। पहले ये पंडा थे, बाद में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए। "महाराज बीरबल इनके यजमान थे, शुरू में यथेष्ट अक्खड़ और उद्दण्ड थे, पर गोस्वामी जी की सेवा में आने के बाद विनम्र और मृदुल स्वभाव के भक्त हो गये, इनकी कोई पुस्तक नहीं मिली, फुटकल कुछ पद ही प्राप्त हुए हैं।"[4]

गोविन्द स्वामीः – गोसाई विट्ठलनाथ जी के शिष्य गोविन्द स्वामी का जन्म आन्तरी

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 117
2. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 119
3. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 119
4. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 119

नामक ग्राम में सं0 1562 में हुआ। आप विरक्त होकर श्रीनाथ जी की सेवा में लगे रहे। आप अपनी गायन माधुरी के लिए प्रसिद्ध हैं। "विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे थे। इनके मनोहर गान की ख्याति ऐसी थी कि स्वयं तानसेन उनके गाने सुनने उपस्थित हुए थे।"[1]

अष्टछाप के कवियों की विशेषता: – गोसाई विट्ठलनाथ जी ने जिस समय अष्टछाप की स्थापना की थी, उस समय ब्रज–भाषा–साहित्य का अधिक प्रचार नहीं था। किन्तु उनके प्रश्रय के कारण साम्प्रदायिक भक्तों में इसका व्यापक प्रचार हो गया। इनके अनुसरण पर वैष्णव धर्म के अन्य कई सम्प्रदायों ने भी ब्रजभाषा काव्य को प्रश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घकाल तक ब्रज–भाषा–साहित्य की अतिशय उन्नति होती रही। सच बात तो यह है कि अष्टछाप ने ब्रजभाषा के पद्यात्मक भक्ति–साहित्य पर इतना व्यापक प्रभाव डाला है कि कई शताब्दियों के पश्चात् अब तक भी उनका महत्त्व अक्षुण्ण है। डॉ0 द्विवेदी के शब्दों में, "इन कवियों ने उसमें नया प्राण संचरित किया और नया तेज भर दिया। परवर्ती काल की ब्रजभाषा को लीलानिकेत भगवान श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकान्त भाव से बाँध देने का श्रेय इन्हीं कवियों को प्राप्त है।"[2]

मीराबाई: – कर्नल टॉड के अनुसार ये महाराणा कुम्भा की स्त्री थीं, किन्तु मुंशी देवी प्रसाद ओर महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचन्द ओझा जैसे इतिहास लेखकों को यह बात इतिहास–विरुद्ध जान पड़ी। परम्परा के अनुसार मीराबाई राव जोधाजी के वंश में उत्पन्न हुई थीं। इनके पदों में प्रायः ही उनके लिए मेड़वाणी शब्द का प्रयोग है, जिससे सूचित होता है कि वे मेड़वा की रहने वाली थीं। नाभादास जी के **भक्तमाल** और उस पर प्रियादास की टीका में इस बात का बहुत उल्लेख है कि किस प्रकार राणा ने मीराई को साधुसंग के विरत करना चाहा था और जहर देकर मार डालना चाहा था। सबसे पहले विलियम क्रुक ने संकेत किया था कि मीराबाई वस्तुतः राणा कुम्भा की स्त्री नहीं थी बल्कि राणा साँगा के पुत्र भोजराज को ब्याही गयी थीं। किंवदन्तियाँ उनका जीवोस्वामी, रैदास, तुलसीदास और कृष्णदास अधिकारी आदि से साक्षात्कार या पत्रव्यवहार होने का समर्थन करती हैं। परन्तु ऐतिहासिक पण्डितों का अनुमान है कि मीराबाई की मृत्यु 1546 ई0 में हो चुकी थी। इसलिए तुलसीदास का पत्र लिखने

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 119
2. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 120

की बात किंवदन्ती मात्र है। डॉ0 द्विवेदी, मीराबाई के साहित्य की विशेषता की चर्चा करते हुए कहते हैं कि, "मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्मसर्पण का भाव है। इनके माधुर्य ने हिन्दी-भाषी क्षेत्र के बाहर के भी सहृदयों को आकृष्ट और प्रभावित किया है। माधुर्य भाव के अन्यान्य भक्त कवियों की भाँति मीरा का प्रेम निवेदन और विरह-व्याकुलता अभिमानाश्रित और अध्यन्तरित नहीं है। बल्कि सहज और साक्षात् सम्बन्धित है। इसलिए इन पदों में जिस श्रेणी की अनुभूति प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह सहृदय को स्पन्दित और चालित करती है और अपने रंग में रंग डालती है।"[1]

गोस्वामी हितहरिवंश: - राधा वल्लभी सम्प्रदाय के आचार्य गोस्वामी हितहरिवंश का जन्म गोड़ ब्राह्मण वंश में हुआ था। इस सम्प्रदाय में भक्त पं0 गोपाल प्रसाद शर्मा ने इनका जन्म सं0 1530 (1473 ई0) में माना है।

हितहरिवंश जी बड़े उच्चकोटि के कवि थे, उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार राधाकृष्ण का विशुद्ध शृंगार वर्णन किया है। आपकी रचनाएं बड़ी सरस हैं। इनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं - 'राधा सुधा निधि'(संस्कृत), 'हित चौरासी पद'(हिन्दी)। इनके अतिरिक्त हिन्दी में 77 फुटकर पद मिलते हैं।

डॉ0 द्विवेदी लिखते हैं कि, "श्री नाभाजी के उक्त छप्पय से स्पष्ट है कि गोसाई हितहरिवंश की उपासना - पद्धति अन्यान्य सम्प्रदायों की भक्ति-पद्धति से भिन्न थी। इसे कोई विरला ही जान सकता है। इस मत की प्रधान उल्लेख योग्य बातें ये हैं - 1. श्री राधाचरण की प्रधानता, 2. कुंजकेलि दम्पत्ति की खवासी अर्थात् किंकरी और सखी-भाव, 3. महाप्रसाद की निष्ठा, 4. विधि-निषेध का सर्वथा त्याग, 5. अनन्य दास-भाव। xxx श्री राधादेवी के सम्बन्ध में ऐसी मोहक और आकर्षक कविता वही लिख सकता है जिसने सर्वात्मना अपने को उनके प्रीति प्रसाद के लिए ही समर्पित कर दिया हो।"[2]

इस काल के कुछ अन्य कवि: - लालचदास (1528 ई0), जिनकी भाषा अवधी है और दोहा-चौपाई की शैली अधिक मान्य है; (2) सूरदास मदनमोहन (अकबर के

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास - पृ0 सं0 121
2. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास - पृ0 सं0 123

समकालीन), जिनकी बहुत-सी कविताएं सूरदास की कविताओं में घुल गयी हैं और जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे अकबर के अमीन थे और उनके खजाने का तेरह लाख रूपया साधु-सेवा में विना अनुमति के व्यय कर दिया था; (3) 'सुदामाचरित' के लोकप्रिय लेखक नरोत्तमदास (1545 ई0); (4) चैतन्य महाप्रभु के दीक्षाप्राप्य शिष्य और उन्हें भगवान की कथा सुनाने वाले दक्षिणी ब्राह्मण गदाधर भट्ट, जो संस्कृत के दिग्गज पण्डित होकर भी ब्रजभाषा में बड़ी मधुर कविता लिखा करते थे; (5) निम्बार्कमतान्तर्गत टट्टी सम्प्रदाय के आचार्य संगीत कला विशारद स्वामी हरिदास (अकबर के समकालीन), इनके विषय में प्रसिद्ध है कि वेश बदलकर देशपति अकबर और तानसेन इनके गान सुना करते थे और जिनकी कोई एक निश्चित पुस्तक तो नहीं परन्तु **हरिदास जी के ग्रन्थ, स्वामी हरिदास जी के पद, हरिदास जी की बानी** आदि संग्रह ग्रन्थ मिलते हैं और नाभाजी के अनुसार जिनके दरबाजे पर दर्शनार्थ बड़े - बड़े राजा भी खड़े रहा करते थे; (6) **युगल शतक** के तन्मयी भाव की कविता के लेखक श्री भट्ट (सन् 1535 ई0), जिनको नाभाजी ने 'मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुवलित छवि' का निरखनहार बताया है; (7) वुन्देलखण्ड के लोकप्रिय कवि व्यासजी (सोलहवीं शताब्दी), जो बृन्दावन आकर राधा वल्लभी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और पहले ओरछा नरेश मधुकर शाह के राजगुरू और वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षिए हुए और बाद में हितहरिवंश जी के शिष्य हो गये। जिनकी राधाभाव की कविताएं जितनी मधुर हैं, उतनी ही प्रभावशालिनी, और जिनके **रास पंचाध्यायी** को गलती से लोगों ने सूरसागर में मिला दिया है; (8) स्वप्न में हितहरिवंशजी के शिष्य वने ध्रुवदास जी जिन्होंने पद, दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त आदि में छोट-बड़े चालीस ग्रन्थ लिखे हैं और नाभाजी के **भक्तमाल** के अनुकरण पर भक्त-नामावली नाम की महत्त्वपूर्ण रचना लिखी है; (9) ज्ञान-भक्ति-वैराग्य के मधुर कवि निपट निरंजन (जन्म 1539 ई0); (10) **भ्रमरगीत** के विषय पर **प्रेमवसंगिणी** काव्य के लेखक लक्ष्मीनारायण नारायण; (11) 'बलभद्री व्याकरण', 'हनुमन्नाटक', 'गोवर्द्धन सतसई की टीका', 'भूषण विचार' और 'नख-शिख' के लेखक महा कवि केशवदास के वड़े भाई बलभ मिश्र; (12) राधाकृष्ण के एकत्व ख्यापक 'केलिकल्लोल' के लेखक प्रेमकवि मोहन (जन्म 1617 ई0); (13) 'अलकशतक'

और 'तिलशतक' के यशस्वी लेखक मुबारक, जिनकी चोट करने वाली उत्प्रेक्षाएं और चित्र खड़ा कर देने वाली उपमाएं बेजोड़ मानी जाती हैं; (14) अनेक जैन ग्रन्थों के रचयिता और प्रथम हिन्दी आत्मकथा के लेखक जौनपुर के बनारसीदास (जन्म 1586 ई0); (15) वल्लभाख्यान की ब्रजभाषा टीका के लेखक वल्लभमतानुयायी ब्रजभार दीक्षित; (16-21) सुन्दरदास, चतुरदास, भुवाल, धर्मदास, शुकदेव मिश्र, रसिकदास आदि कृष्ण भक्त कवि हुए हैं।

अकबरी दरबार के कवि :- "अकबर के दरबार में अनेक उच्चकोटि के हिन्दी कवि हुए हैं। इन सबमें श्रेष्ठ खानखाना अब्दुर्रहीम हैं, जो अमीर - खुसरो की भाँति तुर्की, फारसी, अरबी और संस्कृत भाषाओं के जानकार थे और जिनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त महान और उदार थी। इनका जन्म सन् 1567 ई0 में हुआ था और मुगल दरबार के कई राजाओं का आश्रय प्राप्त करने का सौभाग्य इन्हें मिल चुका था। जीवन के इतने उतार - चढ़ाव देखने वाले कवि बहुत विरले होते हैं। इनके दोहों में वैभव के दोष और गुण बहुत स्पष्ट झलकते हैं।

डॉ0 द्विवेदी कहते हैं कि, "रहीम की रचनाएं जीवन रस से परिपूर्ण हैं। मानसिक औदार्य, सांस्कृतिक विशालता और धार्मिक सहिष्णुता के विषय में रहीम की तुलना गिने-चुने लोगों में की जा सकती है। इतने विस्तृत सांस्कृतिक आधारफलक पर जीवन को देखनेवाले कवि के **खेटकौतुकम्** जैसे अरबी-फारसी संस्कृत-हिन्दी के मिश्रण का कौतुक और **मदनाष्टक** की मौज आश्चर्य और कुतूहल का विषय बन जाती है। निस्सन्देह इस कवि का हृदय मानवीय रस से परिपूर्ण और अनासक्त तथा अनाविल सौन्दर्य दृष्टि से समृद्ध था।"[1]

गंग: - अकबर के दरबार में एक और बड़े श्रेष्ठ कवि थे गंग (कविता काल 1600 ई0), जिनकी कोई स्वतन्त्र रचना तो प्राप्त नहीं है, परन्तु फुटकल पद, कवित्त आदि अनेक प्राप्त हुए हैं। फिर महापात्र नरहरि बन्दीजन (1515-1610 ई0), जिनके 'रुक्मणी-मंगल', 'छप्पयनीति' और 'कवित्त संग्रह' प्राप्त हैं; महाराज बीरबल

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास - पृ0 सं0 126

जो सम्राट अकबर के अत्यन्त अन्तरंग और सहृदय मित्र और मन्त्री बताये जाते हैं; महाराज टोडरमल, जो अकबर के भू-कर विभाग के मन्त्री थे; तथा अकबर के दरबारी कछवाहा सरदार मनोहर कवि आदि कवि अकबर के दरबार में हिन्दी कविता के उन्नायक थे।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "श्रीकृष्ण भक्ति-विषयक काव्य में एक ऐसा माधुर्य हे जो धर्म ओर विश्वास के बन्धनों से बहुत ऊपर है। इस काल में मुगल सम्राटों का शासन था। कितने ही भक्तों के विषय में प्रसिद्ध हे कि उन्हें सम्राट अकबर ने बुलाकर सम्मानित किया। सूरदास, कुम्भनदास, स्वामी हरिदास आदि के मधुरभाव से भावित भजनों ने सम्राट का हृदय हरण किया था।"[1]

<u>रसखानि</u> :- श्रीकृष्ण भक्ति के साहित्य में जिस मधुर भाव पर बहुत अधिक बल दिया गया है, उसमें विश्वजनीन तत्त्व हे। धर्म-सम्प्रदाय और विश्वासों के बाहरी बन्धन उस विश्वजनीन माधर्य तत्त्व के आकर्षण को रोक नहीं सके हैं। उन दिनों अनक मुस्लिम सहृदय इस मधुर भाव की भक्ति-साधना से आकृष्ट हुए थे। इन सबमें प्रमुख हैं, "बादसा वंश की ठसक" छोड़ने वाले सुजान रसखानि। इन नाम के दो मुसलमान भक्त कवि बताये जाते हैं। एक तो सैयद इब्राहिम पिहानी वाले और दूसरे गोसाई विट्ठलनाथ जी के कृपापात्र शिष्य सुजान रसखान। दूसरे अधिक प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः ये पठान थे, इसीलिए अपने का 'बादसा वंश का' लिखा है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "दो सो बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनके आरम्भिक योवन-काल की कुत्सित प्रेम-भावना का उल्लेख है। कहते हैं, चार महात्माओं के सत्संग से इनकी गलत ढंग की प्रेम-भावना भगवद् भक्ति में बदल गयी। इनकी दो रचनाएं प्राप्त हैं - 'सुजान रसखान और प्रेम वाटिका 'सुजान रसखान' में 129 पद्य हैं, जिनमें अधिकाँश सवैया और कवित्त हैं। कुछ थोड़े से दोहे भी हैं। किन्तु 'प्रेमवाटिका' केवल दोहों में लिखी गयी है। दोहों की संख्या 52 है। सहज आत्म-समर्पण, अखण्ड विश्वास और अनन्य निष्ठा

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास - पृ0 सं0 127

की दृष्टि से रसखानि की रचनाओं की तुलना बहुत थोड़ भक्त कवियों से की जा सकती है। इन्होंने अपनी 'प्रेमवाटिका' 1614 ई0 में लिखी थी।[1]

धुवदास: – सत्रहवीं शताब्दी में भक्त कवियों की परम्परा बराबर चलती रही। परन्तु आरम्भिक भक्ति–आन्दोलन–काल में जेसे मनस्वी और शक्तिशाली साहित्यकार पेदा हुए, वेसे इस काल में नहीं हो सके। फिर भी बृजभाषा को भक्त कवियों ने निरन्तर मधुर और सरस बनाया। भक्तिभाव इन दिनों में भी हिन्दी साहित्य की प्रधान चालक शक्ति बना रहा। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में धुवदास का जन्म हुआ, जो गोस्वामी हितहरिवंश की परम्परा में पड़ते हैं। इनका काव्य–रचनाकाल सत्रहवीं शताब्दी ही है। इनकी लगभग 40 पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। कई रचनाएं दोहा – चोपाई में लिखी गयी हैं। 'नेहमंजरी', 'रहस्यमंजरी', 'रतिमंजरी', 'प्रेमलता', आदि पुस्तकें दोहा में चोपाई वाली शैली में लिखी गयी हैं।

आनन्दघन: – जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे और सुजान नाम की किसी वेश्या पर आसक्त थे। कहते हैं कि एक बार बादशाह की आज्ञा पाकर भी इन्होंने गान नहीं किया, परन्तु सुजान के इशारे पर गाने लगे। इससे बादशाह बहुत असन्तुष्ट हुए। बाद में ये वृन्दावन में आकर रहने लगे, और भक्तिपरक रचाएं लिखने लगे। वृद्धावस्था में भी ये सुजान शब्द को नहीं भूले। अपनी कविताओं में सुजान शब्द का व्यवहार ये किसी–न–किसी बहाने अवश्य कर देते हैं। भक्तिपक्ष में 'सुजान' शब्द श्रीकृष्ण का वाचक है। इनकी कविता में बड़ी तन्मय भावना है। इनकी मृत्यु नादिरशाह के सिपाहियों के हाथ सन् 1739 ई0 में हुई। इनके 'कृपाकाण्ड निबन्ध', 'रसकेलिवल्ली', 'सुजान–सागर' और 'बानी' नाम के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। 'बानी' में राधाकृष्ण के विहार और अष्टयाम के पद हैं। शुद्ध ब्रजभाषा के पद–लिखन में बहुत थोड़े कवियों के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

नागरीदास: – कृष्णगढ़ के राजा यशवन्तसिंह नागरीदास नाम से भक्ति–साहित्य में प्रख्यात हैं। ये वल्लभ–कुल के शिष्य थे। नागरीदास नाम के और भी कई महात्मा हो गये हैं। प्रथम नागरीदास की कथा 'चोरासी वेष्णवन की वार्ता" में आयी है। ;

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 127

ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे, और आगरे के निवासी थे।

<u>अलबेली अली:</u> – भक्ति काव्य की परम्परा वृन्दावन में अद्यवधि चलती आयी है। अठारवीं शती के आरम्भ में महात्मा वंशी अली के कृपा पात्र शिष्य श्री अलबेली अलीजी नामक महात्मा हुए, जिनकी एक पुस्तक 'समय प्रबन्ध–पदावली' बाबू जगन्नाथ द्वारा सम्पादित होकर 1901 ई0 में प्रकाशित हुई।

<u>चाचा वृन्दावनदास:</u> – डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "राधावल्लभीय सम्प्रदाय में गोस्वामी हितरूपजी हुए, जिनके शिष्य चाचा वृन्दावनदास हुए, जो तत्कालीन गोसाई जी के भ्राता होने के कारण चाचाजी कहलाने लगे। इनका कविता–काल 1738 ई0 से आरम्भ होता है, और कहा जाता है कि इनके बनाये पदों की संख्या लक्षावधि थी। दुर्भाग्यवश इनकी सब रचनाएं प्रकाशित नहीं हुई हैं, और सम्भवतः प्राप्य भी नहीं हैं। इनकी ग्यारह पुस्तकें उपलब्ध नहीं हुई हैं।"[1]

<u>भागवत रसिक</u> :– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में श्री हरिदास जी के **टट्टी संस्थान** में श्री भागवत रसिक नामक भक्त हुए, जो इस संस्थान के अन्तिम आचार्य ललित मोहिनी दासजी के शिष्य थे। यद्यपि इन्हें गद्दी का अधिकार प्राप्त हो रहा था, तथापि इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इनकी एक पुस्तक 'अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ' लखनऊ के केदारनाथ जी वैश्य ने छपवाया था। इनके लिखे कुण्डलिया छन्द भक्ति–निरूपण के सम्बन्ध में बेजोड़ हैं।"

<u>हठी:</u> – डॉ0 द्विवेदी के अनुसार, "इसी समय श्री हितहरिवंश जी परम्परा में हठी नाम के कवि हुए, जिन्होंने, 'राधासुधा शतक' नाम का काव्य लिखा। राधिका के सम्बन्ध में इतने भक्ति भरे कवित्त शायद ही किसी दूसरे कवि ने लिखे हों। राधिका के चरणों के प्रति इनकी भक्ति–भावना बड़ी ही मधुर है। इस काल के बहुत कम भक्ति कवियों में इतनी काव्य मर्मज्ञता रही होगी। खूब भक्ति भाव के साथ काव्य – मर्मज्ञता के मणिकांचन योग के कारण इनकी कविता सहृदयों को आकृष्ट करती है।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 130
2. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 130

सहचरिशरण :- फिर टट्टी संस्थान की परम्परा में ही सहचारिशरण नाम के भक्त कवि हुए, जो अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान थे। इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं:- (1) **ललित प्रकाश** (2) **सरस मंजावली।**

प्रेम भक्ति का साहित्य: - डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "सत्रहवीं शताब्दी के बाद के भक्ति-साहितय में सखी-भाव की साधना का प्राधान्य हो गया। इस काल के तीन शक्तिशाली सम्प्रदायों ने इस भाव-धारा को प्रोत्साहित किया; (1) महाप्रभु चेतन्य के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित **गौड़ीय वेष्णव सम्प्रदाय**, (2) गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा संस्थापित **राधावल्लभीय सम्प्रदाय** और (3) गोस्वामी हरिदास द्वारा पोषित **टट्टी-संस्थान** इन सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित भक्ति-सिद्धान्तों में आत्मसर्पण का वेग है, और इस आत्म-समर्पण स्त्री रूप में सबसे अधिक अभिव्यक्त होता है। स्त्री आत्म-समर्पण का प्रत्यक्ष विग्रह है। आगे चलकर भक्तों ने इस भाव को बड़ी सरस और मधुर भाषा में व्यक्त किया है। [1]

कृष्ण काव्यधारा में सुर का स्थान: - सूर साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका विषय अलोकिक होते हुए भी वह इतना सामान्य है कि साधारण बुद्धि और हृदय वाला व्यक्ति भी उससे सहज में आनन्द पा सकता है। सूर के समस्त चित्र मानवीय और सामान्य हैं। यशोदा माँ, नन्द पिता; कृष्ण पुत्र, सखा और विलास प्रिय हैं। गोपियाँ अनन्य प्रेम की अधिकारिणी प्रेमिकाएं हैं। राधा चन्चल, अल्हड़ किशोरी, विलास-चतुरा नायिका है, प्रोषितपतिका है और अन्त में सामान्य भार्या हैं जो आपने पति से अनन्य रूप में प्रेम करती है।

डॉ० द्विवेदी कहते हैं, "सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञानमार्गी भी नहीं थे। किसी को कुछ सिखाने का भान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं भी सम्प्रदाय मतवाद या व्यक्ति-विशेष के प्रति कटु नहीं हुए। यह भी उनके सरल हृदय का निदर्शक है।" xxx

"भक्तों में मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्ति

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास - पृ० सं० 131

और कवि जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। सूरदास की भक्ति में दास्य (प्रीति-रीति) सख्य ओर मधुर, इन तीनों भावों का सम्मिश्रण है।"[2]

कृष्ण काव्य धारा के दोषों की चर्चा करते हुए डॉ0 द्विवेदी लिखते हैं, "श्रीकृष्ण भक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को बाह्य विषयों की आसक्ति से तो अलग कर देता है, लेकिन उसे शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता। वह मनुष्य की सरसता को उद्बुद्ध करता है; उसकी अन्तर्निहित अनुराग लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है, और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है। यह प्रेम-साधना ऐकान्तिक है, वह अपने भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान के अनन्य गामी प्रेम की शरण में ले जाती है। यही उसका दोष है; क्योंकि जीवन केवल निष्ठा तक ही सीमित नहीं, यह केवल उसका एक पक्ष है। मनुष्य को पूर्ण रूप से सजग बनाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है, जो उसको कर्तव्य पथ पर चालित करे कृष्ण भक्ति के सहित्य ने इस पक्ष को एकदम भुला दिया। इसका परिणाम हुआ कि इतना मधुर साहित्य एकदम क्षीण बल हो गया।"[3]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – 4 – पृ0 सं0 183
2. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 132

अध्याय – 6

आचार्य द्विवेदी एवं रीतिकाव्य

नामकरण – विमर्शः – हिन्दी – साहित्य – रचना के दो सौ वर्ष (सं0 1700–1900) का समय साधारण तथा रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। आचार्य पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी – साहित्य का इतिहास में हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को दो भागों में विभाजित किया है – पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल। साहित्य के मध्यकाल का दो भागों में विभाजन करना कुछ कारण रखता है। वस्तुतः साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में एक मोड़ आता है, तभी से नवीन प्रवृत्तियों का काल मान लिया जाता है। आचार्य शुक्ल ने अपनी पुस्तक के वक्तव्य में कहा है – "जब तक पूर्व और उत्तर के अलग – अलग लक्षण न बताये जायेंगे, तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इस प्रकार थोड़े – थोड़े अन्तर पर होने वाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल – प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल में होने वाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए।" वस्तुतः मध्यकाल के प्रारम्भ से जो भक्ति – काव्य की धारा प्रवाहित हो रही थी, सम्वत् 1700 के लगभग उसके नवीन मोड़ की सूचना मिलती है। शुक्ल जी ने यह नवीन मोड़ चिन्तामणि त्रिपाठी (लगभग सं0 1700) से माना है और इस प्रकार इस भक्ति काव्य से पृथक प्रवृत्तियों के काल का नाम उन्होंने रीतिकाल रख दिया। उनके वक्तव्य को पढ़ने से मालुम पड़ता है कि भक्ति काल की भाँति वह रीतिबद्ध रचना की परम्परा के भी उप – विभाग करना चाहते थे – "रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली है उसका उप विभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है?"

मिश्रबन्धुओं ने इस काल को अलंकृत काल कहा है, जैसा कि संस्कृत महाकाव्य परम्परा में भारवि, माघ और श्री हर्ष का **अलंकृत काल** था, किन्तु यह नामकरण विद्वानों को स्वीकृत न हो सका।

शुक्ल जी के उपर्युक्त वक्तव्य पर ध्यानपूर्वक विचार करने से यह मालूम पड़ता है कि उन्हें रीतिबद्ध राचनाओं में कई प्रकार की रचनाएं मिलीं, किन्तु वे स्पष्टतः उनका पार्थक्य न कर सके। यही नहीं, वस्तुतः शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल का रीतिकाल नाम रखकर भी सन्तुष्ट न हुए। उन्हें रीतिकाल नाकरण का कोई पुष्ट आधार नहीं मिला – "रीतिबद्ध ग्रन्थों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाए, पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।" इसके आगे भी एक बात और कहने की है। वह यह है कि सम्वत् 1986 में जब शुक्ल जी के इतिहास का प्रथम संस्करण निकला था, तब उन्हें घनानंद आदि कुछ मुख्य – मुख्य कवियों का परिचय भी विशेष रूप में नहीं दिया था। यह 11 वर्ष बाद सं0 1997 के संशाधित और परिवर्तित संस्करण में जोड़ा गया। उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने रीतिकाल के अन्तर्गत रीतिमुक्त धारा के कुछ महान कवियों को उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों में विशेष योग देने वाला नहीं माना है।

पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नामकरण – शृंगारकालः – आचार्य पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इस विवेच्यकाल का नामकरण शृंगारकाल किया है। **घनानन्द कवित्त** की प्रस्तावना में उन्होंने इस पर विचार किया है। प्रायः रीतिकाल नामकरण के समर्थकों ने रीतिमुक्त कवियों को अपने रास्ते से हटाने का बड़ा सुगम उपाय उन्हें **फुटकल** खाते में अलग डालना समझा है। मिश्रजी के शब्दों में – "हिन्दी साहित्य का काल – विभाजन करते हुए इतिहासकारों ने रीतिकाल के भीतर कुछ ऐसे कवियों को **फुटकल खाते** में डाल दिया है जो रीतिकाल की अधिक व्यापक प्रवृत्ति शृंगार या प्रेम के उन्मत्त **गायक** थे।"[1]

पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन शब्दों में कहा है, "भक्ति काल के बीतते न बीतते हिन्दी में शृंगार की धारा वेग से प्रवाहित हुई। शृंगार अभिव्यक्ति के लिए अधिकतर कवियों ने रीति को अर्थात् रस, नायक – नायिका,

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ0 सं0 – 286

अलंकार, पिंगल आदि काव्यांशों के भेदोपभेदों का आधार बनाया। पर ये वस्तुतः काव्य पक्ष ही सामने करने वाले थे, शास्त्र – पक्ष नहीं। बात यह थी कि संस्कृत में साहित्य का शास्त्र – पद अपने समृद्ध रूप में इन्हें विवेचित उपलब्ध हो गया, अतः स्वतः छानबीन करने की इन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ी। ..... फल यह हुआ कि इनकी रचना शास्त्र में गिनाई सामग्री से आगे नहीं बढ़ सकी। ये केवल **शास्त्र – स्थिति – सम्पादन** ही करते रह गये, भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति पर से इनकी दृष्टि स्वतः हट गयी।"[1]

<u>रीतिकाल नाम की लोकप्रियता:</u> – आगे चलकर अन्य हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में शुक्ल जी द्वारा दिया हुआ उत्तर मध्यकाल का **रीतिकाल** नाम रूढ़ हो गया। बाबू श्याम सुन्दरदास भी हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में शृंगार रस की प्रचुरता एवं **रीतिमुक्त** कवियों का महत्त्व स्वीकार करके भी इसका नामकरण **रीतिकाल** के अतिरिक्त अन्यथा न कर सके – राजाओं से पुरस्कार पाने तथा जनता द्वारा समादृत होने के कारण रीतिकाल की कविता शृंगार रसमयी हो गयी और अन्य प्रकार की कविताएं उनके सामने दब सी गयी। ..... शृंगार रस के मुक्तक पद्य यद्यपि अधिकतर अलंकारों और नायिकाओं के उदाहरणस्वरूप ही लिखे गये, यद्यपि लिखने का लक्ष्य भी अधिकतर आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना था, तथापि कुछ कवियों की कृति में शुद्ध प्रेम के ऐसे सरस छन्द मिलते हैं; ऐसे सौन्दर्य की पवित्र विवृति पाई जाती है कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि कवि शुद्ध आन्तरिक प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्‌देश्य से कविता करते थे। यह ठीक है कि अधिकाँश कवियों ने सौन्दर्य को केवल उद्‌दीपन मानकर नायक – नायिका के रतिभाव की व्यंजना की है, पर कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने रीति के प्रतिबन्धों के बाहर जाकर स्वकीय सुन्दर रीति से सौन्दर्य की वह सृष्टि की है, जो मनोमुग्धकारिणी है।" आगे चलकर बाबू जी कहते हैं – "हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के सौन्दर्योपासक **और** प्रेमी कवियों का स्थान अमर है।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य की **प्रवृत्तियाँ** पृ0 सं0 – 287
2. हिन्दी साहित्य की **प्रवृत्तियाँ** पृ0 सं0 – 284

इन दो बातों पर ध्यान पूर्वक विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर मध्यकाल का **रीतिकाल** नामकरण उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस नामकरण से तत्कालीन साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति श्रृंगार एवं प्रेम का पूर्ण परिचय नहीं मिलता मूलतः रीति की परिपाटी का पालन करने वाले कवि और रीतिमुक्त स्वच्छन्द कवि दोनों ही श्रृंगार रस को लेकर चलते हैं।

शुक्ल जी के इस नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि, ''यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार – शास्त्र का ही जोर है जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त रीति' या 'सुकविरीति' कहने लगे थे। सम्भवतः इन्हीं शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्ल जी ने इस श्रेणी की रचनाओं को रीतिकाव्य कहा। उन्होंने विक्रम सं0 1700 से 1900 (1643 – 1843 ई0) तक के काल को रीतिकाल माना है।[1]

<u>रीति शब्द की व्याख्या:–</u> संस्कृत – काव्यशास्त्र के अन्तर्गत **रीति** शब्द उस काव्यांग – विशेष के लिए रूढ़ है, जिसे काव्य की आत्मा के रूप में घोषित कर आचार्य वामन ने तत्सम्बन्धी पृथक् सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके अनुसार गुण – विशिष्ट रचना – अर्थात् पद संघटना पद्धति – विशेष का नाम **रीति** है। इधर व्याकरण के आधार पर गत्यर्थक **रीङ्** धातु से **क्तिच्** प्रत्यय करके इसकी जो त्युत्पात कही जाती है, उससे यह **मार्ग** का वाचक ठहरता है। इस प्रकार उक्त दोनों शास्त्रों में इस अकेले ही शब्द के दो पृथक् प्रयोग कहे जा सकते हैं। किन्तु, वास्तव में यह पार्थक्य किसी मौलिक विभेद का द्योतक न होकर व्यावहारिक विकास का ही परिणाम रहा है। बात यह है कि व्यक्ति अथवा वर्ग–विशेष अपने भावों की अभिव्यक्ति – व्यापारगत अनुकरण और अनुसरण का लक्ष्य हो जाती हैं तो उनकी विधात्री पद्धति–विशेष लोक व्यवहार में **मार्ग** शब्द से ही अभिहित होती है। दण्डी का यह कथन कि काव्य रचना के तो ये दो मार्ग– **वैदर्भ** और गौड़ ही होते हैं, पर कवि में आश्रित होने के कारण इसके अनन्त भेद हो जाते हैं, स्पष्टतः प्रदेश (अर्थात वर्ग – विशेष) तथा व्यक्ति को

---

1. **हिन्दी साहित्य– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ0 सं0 291**

अभिव्यक्ति – पद्धति की **मार्ग** संज्ञा द्वारा स्वीकृति है। वामन में भी, सम्भवत: रचना पद्धति के लिए **मार्ग** के इस परम्परागत प्रयोग को दृष्टि में रखकर ही उसके पर्याय–रूप में **रीति** शब्द को ग्रहण किया है; कारण, दण्डी ने जिन दो मार्गों और उनके नियामक दश गुणों का उल्लेख किया है, वे वामन ने भी ग्रहण कर रखे हैं। आगे परवर्ती आचार्यों में भोज ने तो स्पष्ट शब्दों में **रीति** की उपर्युक्त व्युत्पत्ति दर्शाते हुए उसे मार्ग का ही पर्याय माना है। ऐसी दशा में यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि संस्कृत – काव्यशास्त्र में **रीति** शब्द काव्य रचना के मार्ग अथवा पद्धति – विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों में भी अनेक ऐसे हैं, जिन्होंने काव्य रचना पद्धति को **रीति** और उसके पर्याय **पन्थ** से ही अभिहित किया है। यथा –

1. चिन्तामणि – रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार।

(कविकुल कल्पतरु – प्रथम प्रकरण)

2. मतिराम – सो विश्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कवि रसरीति।

(रसराज)

3. भूषण – सुकबिन हूँ की कछु कृपा समुझि कबिन को पंथ।

(शिवराज भूषण)

4. देव – (क) अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति

(ख) भाषा प्राकृत संस्कृत देखि महाकवि पंथ।

(शब्द रसायन – एकादश प्रकाश)

5. भिखारीदास – (क) काव्य की रीति सिख्यो सुकवीन्ह सों।

(काव्य निर्णय – प्रथमोल्लास)

(ख) जातें कुछ हों हूँ लह्यो कविताई को पंथ।

(शृंगार – निर्णय)

इनके अतिरिक्त हिन्दी के आधुनिक इतिहासकारों तथा आलोचकों ने भी इसी अर्थ में **रीति** शब्द का प्रयोग किया है। मिश्र बन्धुओं ने **आचार्य** के कर्त्तव्य कर्म को दर्शाते हुए इस शब्द का जो स्पष्टीकरण किया है, वह अपने आप में

पर्याप्त है: "आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार में यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी।"[1] (मिश्र बन्धु विनोद, भाग – 2) अतएव व्युत्पत्ति, प्रयोग और परम्परा के आधार पर कहा जा सकता है कि रीति शब्द संस्कृत के समान हिन्दी में भी बहुत पहले से काव्य – रचना पद्धति के लिए रूढ़ है।" रीति शब्द को इसी रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हुए कह सकते हैं कि **रीतिकाव्य** वह काव्य है जिसकी रचना विशिष्ट पद्धति अथवा नियमों को दृष्टि में रखकर की गयी हो। हिन्दी – भाषा – साहित्य के उत्तर – मध्यकाल में अनेक कवियों ने संस्कृत – काव्यशास्त्र के नियमों की बंधी – बंधायी परिपाटी पर अपने काव्य की रचना की। इसीलिए आज उन्हें रीतिकवि और उनके काव्य को 'रीतिकाव्य' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

रीतिकवियों का वर्गीकरण :– रीति निरूपण के आधार पर रीतिकवियों के मुख्यतः दो वर्ग किए जा सकते हैं – 1. सर्वांग निरूपक और 2. विशिष्टांग निरूपक। इनमें सर्वांग निरूपक वे हैं, जिन्होंने काव्य के समस्त अंगों – काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य भेद, काव्य की आत्मा (रूप अथवा ध्वनि) शब्द शक्ति, गुण, दोष, रीति, अलंकार और छन्द का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है। चिन्तामणि, कुलपति, सुरतिमिश्र, श्रीपति, देव, दास, जनराज आदि ऐसे ही आचार्य हैं। इन्होंने एक अथवा अनेक ग्रन्थों के भीतर इन सभी अंगों का विवेचन किया है विशिष्टांग – निरूपक आचार्यों नें काव्य के सभी अंगों को अपने विवेचन का विषय न बनाकर उनके तीन महत्वपूर्ण अंगों – रस, अलंकार और छन्द में से एक, दो अथवातीनों का निरूपण एक अथवा अनेक ग्रन्थों में किया है। इसमें रस – निरूपण करने वालों के भी तीन वर्ग किए जा

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 – 309
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 – 309

सकते हैं – (क) समस्त रस के निरुपक (ख) शृंगार रस निरुपक और (ग) शृंगार रस के आलम्बन नायक – नायिकाओं के भेदोपभेदों के निरुपक। "समस्त रसों का निरुपण करने वालों में तोष, याकूब खाँ, राम सिंह, सेवादास, बेनी प्रवीन, पद्माकर आदि का; शृंगार रस का निरुपण करने वालों में मतिराम, उदयनाथ, कवीन्द्र, चन्द्रदास, भगवन्त सिंह, कृष्ण कवि आदि का; तथा नायक – नायिका भेद विवेचकों में कालिदास, यशोदानन्दन, गिरिधरदास आदि का नाम लिया जा सकता है। अलंकार – निरुपक आचार्यो में मतिराम, भूषण गोप, दलपतिराय, रघुनाथ, गोविन्द दूलह, बैरीसाल, सेवादास, पद्माकर आदि तथा छन्दों – निरुपक आचार्यो में मतिराम, सुखदेव मिश्र, माखन, जयकृष्ण भुजंग, दास, दशरथ, नन्द किशोर, रामसहाय आदि उल्लेखनीय हैं।"[1]

रीतिकालीन कविता के प्रसंग में विद्वानों ने तीन प्रकार का विवरण दिया है – एक रीतिबद्ध, दूसरा रीतिसिद्ध और तीसरा रीतिमुक्त। रीतिमुक्त के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है, परन्तु **रीतिबद्ध** शब्द के विषय में मतभेद प्राप्त होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार **रीतिबन्द्ध** रचना लक्षणों और उदाहरण से युक्त होती है, परन्तु डॉ0 नगेन्द्र इस प्रकार की रचनाओं को रीतिबद्ध कहने के पक्ष में नहीं है,। इन कवियों को वे रीतिकार या आचार्य कवि मानते हैं। रीतिकार आचार्य कवि उनके मत से वे कवि हैं, जिन्होंने काव्य – शास्त्र की शिक्षा देने के लिए रीतिग्रन्थ का प्रणयन किया। उनका प्रमुख उद्देश्य या तो काव्य की शिक्षा देना है या किसी काव्यशास्त्रीय विषय का सोदाहरण प्रतिपादन करना। उनकी दृष्टि में रीतिबद्ध कवि वे हैं, जिन्होंने रीतिग्रन्थों की रचना न करके काव्य – सिद्धान्तों या लक्षण के अनुसार काव्य रचना की है।"[2] अलंकार रस, नायिका भेद, ध्वनि आदि उनके ध्यान में तो रहे हैं, परन्तु उनका प्रत्यक्षतः निरुपण इन कवियों ने नहीं किया; वरन् उनके अनुसार उत्कृष्ट काव्य का सृजन किया है। ऐसी दशा में मूलतः वे कवि हैं, आचार्य नहीं। इसीलिए

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 322
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 359

उन्हें रीतिबद्ध कवि मानना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ऐसे कवियों को रीतिसिद्ध **कवि** कहते हैं। अतः इस प्रसंग में यहाँ अचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी के अनुसार जो रीतिसिद्ध कवि हैं, तथा डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार जो रीतिबद्ध कवि हैं, उन्हीं का विवेचनात्मक परिचय रीतिबद्ध कवियों के अन्तर्गत आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

<u>रीतिमुक्त काव्य</u> – इस धारा का नामकरण कुछ लोगों ने तो **रीतिमुक्त** और कुछ ने **स्वच्छन्द काव्यधारा** किया है। "**रीतिमुक्त** का सीधा अर्थ यही है कि यह धारा रीति – परम्परा के साहित्यिक बन्धनों और रूढ़ियों से मुक्त है। यह शब्द स्पष्टतः इस धारा का दूसरी समसामयिक काव्य प्रवृत्ति से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। **रीतिमुक्त** नामकरण विवाद – रहित और निरापद है, पर दूसरा नाम विवेचन की अपेक्षा रखता है; क्योंकि यही शब्द पश्चिमी साहित्य की एक प्रसिद्ध महती काव्यधारा के लिए रूढ़ है। तो क्या रीतिकाल की यह काव्यधारा किसी प्रकार योरोप की स्वच्छन्द काव्यधारा से सम्बद्ध है? लेकिन सम्बन्ध के लिए जो ऐतिहासिक आधार चाहिए, वे यहाँ नाम को भी नहीं हैं।"[1]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन कवियों का वर्णन इस प्रकार किया है – "उसी काल में स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले ऐसे कवियों का भी प्रादुर्भाव हुआ जो रीति का बन्धन तोड़ डालना चाहते थे। शास्त्र में गिनाई हुई सूची तक ही रहने वाले नहीं थे। ये प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए हृदय का पूर्ण योग संघटित करने के अभिलाषुक थे। रीतिबद्ध होकर एक ओर काव्य – रचना अधिकतर बहिर्वृत्ति के निरूपण में व्यस्त थी, दूसरी ओर इनके हृदय का वेग अन्तर्वृत्ति के निरूपण का अवकाश चाहता था। अतः इन्होंने रीति – पद्धति का अतिक्रम किया।"[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में श्रृंगारकाल के अन्तर्गत रीतिमुक्त धारा का वर्णन किया है। उन्होंने इस वर्ग के कवियों को **रीतिकाल के अन्य कवि** शीर्षक अध्याय में रखा है। उन्होंने इनका परिचय इन

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – 370
2. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – 331

शब्दों से प्रारम्भ किया है – "अब यहाँ इस काल के भीतर हाने वाले उन कवियों का उल्लेख होगा जिन्होंने रीतिग्रन्थ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं।"[1]

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी ने तीन अन्य प्रकार के रीतिमुक्त कवियों की चर्चा की है – एक तो, कथात्मक प्रबन्धों से भिन्न वर्णनात्मक निबन्धों के रचयिता। इन्होंने दानलीला, मानलीला, जल – विहार, वन – विहार, मृगया, झूला, होली वर्णन इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएं की हैं। इनमें बड़े विस्तार के साथ वस्तु – वर्णन मिलता है। दूसरे ज्ञानोपदेशक, जो ब्रह्म ज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य में कहते हैं। ऐसे ग्रन्थकारों को उन्होंने **पद्यकार** संज्ञा दी है। इनमें प्रायः बोधवृत्ति जाग्रत करने के लिए रूपक, उपमा का प्रयोग है। कुछ भावुक कवि अन्योक्तियों के सहारे भगवद्प्रेम, विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं। तीसरे, वीररस की फुटकल कविताओं के रचयिता, जो आश्रयदाताओं की प्रशंशा में उनकी युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसात्मक कविता रचा करते थे; जैसे भूषण की **शिवाबावनी** और **छत्रसाल दशक**; पद्माकार की **हिम्मत बहादुरी विरुदावली**।

रीतिमुक्त साहित्यः – यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में रीतिबद्ध काव्य लिखन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि इस काल में रीतिमुक्त काव्य लिखे ही नहीं गये। "रीतिमुक्त साहित्य की भी कई धाराएं हैं। कुछ तो रीतिमुक्त शृंगारी कविताएं हैं; कुछ पौराणिक और लौकिक प्रबन्ध – काव्य हैं, कुछ नीति और उपदेश – विषयक कविताएं हैं और कुछ भक्ति और ज्ञान – विषयक उपदेश के काव्य हैं। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग रीतिमुक्त साहित्य का है। प्रेम कथानकों, सन्त और भक्त कवियों की रचनाओं और अन्य प्रसंगों में हमने इस काल के कुछ रीतिमुक्त साहित्य का परिचय पाया है।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ0 सं0 331
2. हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 – 197

शृंगारी कवियों का प्रधानता इस काल में बराबर बनी रही। सत्रहवीं शताब्दी से ही, ऐसे कवियों का पता लगने लगता है जो ठीक रीति – काव्य के लेखक नहीं कहे जा सकते। मुक्त भावधारा के प्रेमी कवियों में से कुछ ने तो अन्तिम वयस में भक्ति मार्ग का अवलम्बन किया इनके हृदय का लौकिक प्रेम अन्त तक उदान्त भाव में परिणित होकर भगवद् – भक्ति के रूप में प्रकट हुआ। मध्यकाल के सभी बड़े भक्त कवियों के नाम के साथ इस प्रकार की कहानियाँ जुड़ी हुई हैं जो बताती हैं कि आरम्भ में ये भक्त गण लौकिक प्रेमासक्ति के अत्यन्त निकृष्ट आवेग के शिकार थे। परन्तु कुछ थोड़े से कवि ऐसे भी हैं जिनके सम्बन्ध में ऐसी कोई कहानी नहीं है। वे स्वच्छन्द के मार्ग में विचरण करने वाले कवि रहे और अन्त तक वैसे ही बने रहे। रीतिकालीन काव्य पर श्रीकृष्ण लीली का प्रभाव बराबर बना रहा। "स्वच्छन्द प्रेमी कवियों में भी गोपी और गुपाल के नाम आ ही जाते हैं। कभी – कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इस कवि को शृंगारी कवि कहा जाए या भक्त कवि। साधारणतः जो कवि अन्तिम वयस में विरक्त हो गये हैं; या जिनके भजनों को भक्त सम्प्रदायों ने प्रेरणा का स्रोत समझा है उनकी गणना हमने भक्त कवियों में की है। रसखान और घनआनन्द प्रथम श्रेणी में पड़ते हैं, विद्यापति दूसरी श्रेणी में। बाकी कवियों को शृंगारी मानना उचित है।"[1]

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में रीतिबद्ध कवियों को रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि माना है और रीतिमुक्त कवियों से उनकी भिन्नता निरूपण करते हुए लिखा है, "ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अन्तर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है।"[2] रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों का वर्ण्य – विषय शृंगार है और रचना शैली में भी

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 – 198
2. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ0 सं0 – 288

किसी प्रकार का भेद नहीं है, किन्तु रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में बन्धन मुक्तता के कारण मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या कुछ अधिक है। इन्होंने अपनी कविता रीति के अनुकूल (लक्षणबद्ध) लिखकर अपनी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल लिखी है। इसीलिए ये कवि स्वच्छन्द धारा के कवि कहलाते हैं। इन्होंने अपनी स्वच्छन्द वृत्ति से रचना की।

परिस्थितियाँ:

रानीतिक अवस्था:– राजनीतिक दृष्टि से यह काल मुगलों के शासन के वैभव के चरमोत्कर्ष और उसके बाद उत्तरोत्तर ह्रास, पतन तथा विनाश का युग कहा जा सकता है। शाहजहाँ के शासन – काल में मुगल – वैभव अपनी चरम सीमा पर रहा। जहाँगीर ने अपने शासन – काल में राज्य का जो विस्तार किया था, शाहजहाँ ने उसकी वृद्धि इतनी की कि उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण में अहमदाबादनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य तथा उत्तर पश्चिम में सिंध के लहरी बन्दरगाह से लेकर आसाम में सिलहट और अफगान प्रदेश के बिस्त के किले से लेकर दक्षिण के ओसा तक एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना हो गयी थी। राजपूतों ने भी विश्वासपात्र एवं स्वामिभक्त सेवक होकर दिल्ली के शासन की अधीनता स्वीकार कर ली थी। देश में सामान्य रूप से शान्ति थी; औरंगजेब के शासन में अशान्ति फैलने लगी थी। "रीतिकाव्य की रचना के क्षेत्रों – अवध, राजस्थान और बुन्देलखण्ड की कथा भी ऐसी ही है। अवध के विलासी शासकों का अन्त भी मुगल – सम्राज्य के समाज कारुणिक रहा। राजस्थान ने भी विलास और बहुपत्नी – प्रथा इतनी बढ़ गयी कि औरंगजेब के बाद राजपुरुष कुचक्रों, षड़यन्त्रों और आन्तरिक कलह के शिकार होकर इतने निर्वीर्य होते गये कि पतनोन्मुख अव्यवस्थित मुगलों से अपने पुराने गौरव और राज्य को भी प्राप्त न कर सके। हाँ, बुन्देलों ने अवश्य ही मरहठों के साथ लाभ उठाने का प्रयत्न किया; पर राजपूतों के थोथे अहंकार एवं पारस्परिक विद्वेष के कारण पूर्ण सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार मुगल साम्राज्य के समान ही हिन्दू रजवाड़ों और अवध

के नवाबों को अन्ततः अपना कारुणिक अन्त देखना पड़ा।"[1]

<u>सामाजिक अवस्था:</u> – सामाजिक दृष्टि से भी इस काल को आदि से अन्त तक घोर अधःपतन का युग ही कहा जाना चाहिए। इस काल में सामन्तवाद का बोलवाला था; और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनका प्रत्यक्ष अथव परोक्ष प्रभाव जन – सामान्य के जीवन पर पड़ रहा था। सामाजिक व्यवस्था का केन्द्रविन्दु बादशाह था और उसके आधीन थे मनसबदार अथवा अमीर – उमराव। उनके बाद ओहदों के अनुसार दूसरे कर्मचारी आते थे और सबका कर्त्तव्य – कर्म अपने से ऊपर वालों का प्रसन्न करना था – नीचेवालों को ये मात्र सम्पत्ति समझते थे; उनका अस्तित्व केवल अपने लिए मानते थे। ऊपर से नीचे तक यह शासकों का वर्ग था। शासित वर्ग में एक ओर श्रमजीवी और कृपक आते थे और दूसरी ओर सेठ, साहूकार, दुकानदार और व्यापारी।

"जनसाधारण की चिकित्सा, शिक्षा, सम्पत्ति – रक्षा आदि का भी इस काल में कोई प्रवन्ध न था। ऐसी शोचनीय अवस्था में यदि लोग भाग्यवादी अथवा नैतिक मूल्यों से रहित थे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कार्य – सिद्धि के लिए उत्कोच लेना – देना तो साधारण बात थी ही, विलासिता भी इसी कारण बढ़ गयी। नारी को अपनी सम्पत्ति मानकर ही उनका भोग इनके जीवन का मूल मन्त्र हो गया था। विलास के उपकरणों की खोज और उनका संग्रह तथा सुरा – सुन्दरी की आराधना अभिजात वर्ग का शगल था और मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों में उसका बोलबाला उसके अनुकरण के कारण था।"[2]

<u>धार्मिक पराभव का काल:</u> यह काल – धार्मिक दृष्टि से भक्ति के पराभव का काल है। भक्तिकाल में एक महत्त्वपूर्ण भक्ति की लहर बड़ी व्यापक एवं प्रबल थी, अब वह शान्त एवं विकृत हो गयी थी। इसके कई कारण थे। राजनीतिक स्थिति भी इसके लिए उत्तरदायी है। किन्तु प्रमुखतया महान व्यक्तित्व का अभाव

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 297
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 सं0 297

ही भक्ति – धारा की विकृति का कारण बना। कृष्ण की मधुर भाव की भक्ति अव नायक – नायिका भेद – निरूपण में काम आने लगी और सम्पूर्ण श्रृंगारी साहित्य में कृष्ण, राधा और गोपियाँ प्रमुख विवेच्य हो गयीं। भक्ति सम्प्रदाय की चारों शाखाओं का पराभव विविध कारणों से हुआ, जिनका संकेत हम भक्ति – साहित्य के विवेचन में कर चुके हैं। उक्त कारणों से ही इस काल में धर्माश्रय में भी उत्कृष्ट साहित्य की रचना न हो सकी। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह घोर पराभव का काल था। प्राचीन संस्कृति के मूलाधार भुला दिये गये थे और एक नई संक्रान्तिकालीन – संस्कृति का उद्‌भव हो रहा था, जिसका मुख्य आधार मुगलों से विरासत में मिली हुयी विलासिता की वृत्ति थी।

साहित्यिक पृष्ठभूमि और नवीन प्रवृत्तियाँ:– इस काल की साहित्यिक पृष्ठभूमि का भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। इससे पूर्व जो कृष्ण की मधुर – भक्ति (सखि – भाव) प्रचलित हुई थी और **अष्टयाम** इत्यादि विलास – लीलाओं के ग्रन्थों की रचना हुई थी – उसका पूर्ण परिपाक इस युग में दिखाई पड़ता है। कृष्ण भक्ति शाखा की क्या कहें, राम भक्ति शाखा में भी सखि भाव की मधुर उपासना का विकास हो रहा था ओर राम – सीता की **अष्टयाम** विलास – लीलाओं का वर्णन जोर पकड़ रहा था। संतो के ज्ञानमार्ग में गतानुगतिकता के विकास होने से कोई मोलिक उद्‌भावना नहीं हुई। सूफी मत का साहित्य भी अवनति की ओर था। इस प्रकार भक्तिकाल के अन्तिम समय में श्रृंगार की भावना का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। "**श्रृंगारकाल** का साहित्य प्रमुख रूप से राजयाश्रय में रचा गया। कुछ लोक – रचनाएं मिलती हैं; जैसे भूषण इत्यादि की। किन्तु मूलतः ये कवि भी राज्यों से ही सम्बन्धित थे। भाषा की दृष्टि से इस काल हिन्दी प्रदेश में विभिन्न भाषाओं का व्यवहार हा रहा था किन्तु श्रृंगारी भावनाओं को व्यक्त करने वाली प्रमुख भाषा ब्रज – भाषा ही रही। उसमें आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में – "विश्रामदायक और विनोदन गुणों का खूब मार्जन हुआ।"[1] भक्तिकाल में ब्रज और अवधी दोनों ही प्रमुख भाषाएं थीं। धीरे – धीरे ये दोनों भाषाएं परिमार्जित और परिनिष्ठित हुईं। इन पर प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव पड़ा, बुन्देलीखण्डी, अवधी, और राजस्थानी का, तथा विदेशी प्रभाव;

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास

जैसे– फारसी पढ़ रहा था। वस्तुतः श्रृंगार काल के साहित्य का सृजन अवध प्रान्त और राजस्थान में हुआ। इसलिए इसकी भाषा में अवधी एवं बुन्देलखण्डी और राजस्थानी के प्रयोग मिलते हैं।

<u>कलात्मक परिस्थितियाँ:</u> – रीतिकाल में कला के क्षेत्र में प्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रधान थी। सामन्ती वातावरण में पल्लवित होने वाली कला में वासना – परकता सहज स्वाभाविक है। इस युग की कला में परम्पराबद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह हुआ और मौलिकता का अभाव रहा तथा नग्नता एवं अश्लीलता का आधिक्य है। आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए इस कला में प्रदर्शन प्रधान नायक – नायिकाओं की रूढ़िबद्ध प्रतिकृतियाँ निर्मित होती हैं। रीतिकाल की चित्रकला में रूढ़िबद्ध चित्र, पौराणिक चित्र तथा राग – रागनियों के प्रतीक चित्रों का बाहुल्य है। इन चित्रों में युग – प्रवृत्ति के अनुरूप कलाकार की रुग्ण शृंगारिकता की प्रधानता है। कृष्ण और राधा तथा शिव और पार्वती के शृंगार प्रधान चित्रों का निर्माण हुआ। यही स्थिति शृंगार युग की मूर्तिकला की रही। उसमें परम्पराबद्ध अलंकरण शैली, चमत्कार वृत्ति, रोमानी वातावरण का प्रदर्शन तथा दरबारी वैभव एवं विलास की प्रधानता है। संगीत के क्षेत्र में भी आश्रयदाता की प्रसन्नता के लिए शृंगारपरक प्रतिपाद्य एवं चमत्कारवादिता का प्राधान्य रहा। इस प्रकार शृंगारकाल कला एवं काव्य दोनों ही क्षेत्रों में सामान्य प्रवृत्तियाँ थीं।"[1]

<u>रीतिबद्ध काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ</u> – रीतिकाल का साहित्य मध्यकालीन दरबारी संस्कृति का प्रतीक है। राज्याश्रय में पली इस कविता में रीति और अलंकार का प्राधान्य हो गया है।

[1] <u>शृंगार रस का प्राधान्य</u> :– रीतिकाल की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि इसमें तीन प्रकार के कवि मिलते हैं – रीतिबद्ध, रीतिमुक्त या स्वच्छन्तावादी और वीरकाव्य की रचना करने वाले। किन्तु इन धाराओं के काव्य का अध्ययन करने से स्पष्ट विदित होता है कि शृंगार की भावना इनके काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। वीरकाव्य रचयिता भी अपने प्रारम्भिक जीवन में शृंगारी कविता लिखते थे। शृंगार रस को इस युग में रसराज की संज्ञा प्रदान की गई। यथा –

नवहू रसको भाव बहुतिन के भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि नायक है सिंगार।।

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ0 सं0 –292

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "श्रृंगार रस मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु है। संसार के साहित्य में इसी रस का बोलबाला है, वीररस और धर्म सम्बन्धी रचनाओं में भी सर्वत्र ही रस ने अपना प्रभाव विस्तार किया है।"[1]

<u>भक्ति का व्यापक प्रभाव</u> :- भक्ति काल कवियों की रचनाओं का प्रभाव रीतिबद्ध कवियों पर पड़ा। राधा – कृष्ण की प्रेमलीलाओं का चित्रण इन कवियों ने बढ़ – चढ़कर प्रस्तुत किया। जैसा कि डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है– "पन्द्रहवीं सत्रवहीं शती तक के साहित्य में भक्ति भावना की प्रबलता ने सभी प्रकार की लौकिक रचनाओं को प्रभावित किया। यहाँ तक कि उसने राजस्तुतिमूलक और घोर श्रृंगार – परक काव्यों को भी अपने रंग में रंग दिया। वस्तुतः पन्द्रहवीं – सोलहवीं शताब्दी के भक्त कवियों ने ऐहिकता परक रचनाओं की कमर तोड़ दी। वे यदि जीवित बचीं भी तो चलने और आगे बढ़ने की शक्ति से वंचित रहकर ही।

भक्त कवियों की गोपी – गोपाल – लीला ने क्षीण रूप में जीवित रहने वाली लौकिक रस की काव्यधारा ने थोड़ा सहारा दिया, और इस जरा से सहारे को पा करके लौकिक रस की कविताएं सिर उठाने लगीं। शुरू – शुरू में इनकी धारा बहुत क्षीण थी; किन्तु जेसे – जेसे भक्ति काल के आरम्भिक उन्मेष का उत्साह शिथिल पड़ता गया, और भक्तों में भी गतानुगतिकता की मात्रा बढ़ती गयी, वेसे – वेसे लौकिक रस की कविता भी तेजी से सिर उठाती गयी। सत्रहवीं शताब्दी के बाद लगभग प्रत्येक कवि की कविता में श्रीकृष्ण और गोपियों का नाम तो अवश्य आ जाता है, पर प्रधानता ऐहिकता – परक श्रृंगार रस को ही रह जाती है। वहाँ से भक्तों की संख्या तो नहीं घटती, और भक्ति का उत्साह सम्पूर्ण रूप से वर्तमान भी रहता है, किन्तु भक्ति साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति नहीं रह जाती। यहाँ आकर कविता को प्रेरणा देने वाली शक्ति अलंकार, रस और नायिका – भेद हो जाते हैं। यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार शास्त्र का ही जोर है।[2]

<u>दरबारी संस्कृति और काम – वासना का उद्दीपनः</u> – रीतिबद्ध कविता का प्रेरणा स्रोत प्रायः दरबारी संस्कृति थी। इसके अन्तर्गत श्रृंगारी – भावना को व्यक्त करने के लिए ही प्रयुक्त हुई है। रीतिबद्ध कवियों के आश्रयदाता सामन्त, सरदार,

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 169
2. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 170

राजा और महाराजा आदि उच्च वर्ग के लोग मुगलों से विरासत में मिली, विलासिता में डूबे हुए थे, इसलिए उनकी प्रेरणा से रचे हुए काव्य में स्वाभावतया ही लौकिक प्रेम और उसके व्यंजन बाह्य सोन्दर्य के वर्णन बहुत अधिक हैं। वर्णनों में अलंकरण की कुशलता भी दर्शनीय है। बिहारी की ऊहात्मक उक्तियाँ इसका उदाहरण हैं।

"पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।

नित प्रति पून्यो ही रहत, आनन ओर उजास।।"[1]

इन शृंगारी भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम कृष्ण राधा की मधुर भाव की भक्ति बनी ओर राधा – कृष्ण साधारण नायक – नायिका के रूप में चित्रित किये जाने लगे।

<u>काम – प्रवृत्ति का स्वच्छन्द निरूपण:</u> – युग के नैतिक आदर्शो की अनुमति होने के कारण रीतिकाल में काम प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। आध्यात्मिक आवरण में ही शृंगारिक कविता न होती थी, वरन् स्वतन्त्र रूप से भी होती थी। कवि लोग राजाओं की कुत्सित प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए नग्न शृंगार का चित्रण करते थे। परन्तु इस निर्बाध वासना तृप्ति का एक दुष्परिणाम भी हुआ, वह यह कि काम जीवन का अन्तरंग साधक तत्व न रहकर बहिरंग साध्य बन गया। इसीलिए इस काल की रीतिबद्ध कविता की शृंगारिकता में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर वासना की झलक ही मिलती हे और उसमें भी सूक्ष्म आन्तरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम की भावना हृदय की प्रवृत्ति है, जो एकोन्मुखी होती है, किन्तु विलास या रसिकता उपभोग की भावना है, जो अनेकोन्मुखी होती है। इसी कारण प्रेम में तीव्रता होती है, रसिकता में केवल तरलता। डॉ0 द्विवेदी लिखते हैं कि, "रीतिकाल का काव्य यद्यपि शृंगार प्रधान है, पर इस शृंगाररस की साधना में जीवन की सन्तुलित दृष्टि का अभाव है; जैसे सब ओर से चोट खाकर, किसी ओर रास्ता न पाकर बुद्धि घर के भीतर सिमट गयी हो, जैसे जीवन के व्यापक क्षेत्रों में मनोनिवेश

---

1. बिहारी सतसई

का अवसर न मिलने के कारण मनोरंजन का एकमात्र साधन नारी – देह की शोभाओं और चेष्टाओं के अवलोकन – कीर्तन तक ही सीमाबद्ध हो गया है। इस श्रृंगार में न तो प्रिया का व्यक्तित्व उभर पाया है – उसका साधारण नारीत्व ही आकर्षण का एकमात्र हेतु है।"[1]

<u>श्रृंगार भावना को भक्ति का आवरण:</u> रीतिकालिक कवियों ने अपनी भक्ति भावना को प्रस्तुत तो किया है लेकिन भक्ति तो एक बहाना मात्र था, उसके मूल में श्रृंगार भावना का आवरण चढ़ा हुआ था। यद्यपि प्राय: सभी कवियों ने श्रृंगार की रस राजता की घोषणा की थी, तथापि इसको तर्कसंगत परिणति तक घसीट ले जाने का साहस कम कवियों में रहा। इस श्रृंगार भावना को उन्होंने भक्ति का आवरण दिया। राधा–रानी और गोपाललाल घूम फिर कर सभी प्रकार की श्रृंगार चेष्टाओं के विषय बन जाते हैं। यह भक्ति भावना इन कवियों के लिए सामाजिक कवच का काम करती है, साथ ही ये उनके मन को प्रबोध भी देती हैं :

आगे के सुकवि रीझिहें तो कविताई
न तो राधिका गोपिन्द सुमिरन को बहानो है।[1]

<u>गार्हस्थिक श्रृंगार –परकीया प्रेम – वर्णन का अभाव</u> :– श्रृंगार के विभिन्न अंगों उपांगों का इन कवियों ने सुन्दर वर्णन किया है। इस श्रृंगार के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इसका स्वरूप गार्हस्थिक है। भारतीय श्रृंगार – परम्परा में पूर्वानुराग, संजोग, प्रवास, वियोग आदि सभी दिशाओं में गार्हस्थ तत्व बना रहता है। रीतिबद्ध श्रृंगारी कविता में नागरिकता का समावेश तो हुआ, किन्तु दरबारी वेश्या विलास अथवा बाजार रूप – सौन्दर्य की बू नही आई। राजाओं के दरबार में वेश्याएं रहती थी किन्तु उनके आश्रित कवि स्वकीया नायिका के प्रेम का ही गायन करते थे। परकीया प्रेम वर्णन का उनके काव्य में इसी कारण अभाव ही रहा। इसी प्रकार हम देखते हैं कि रीतिबद्ध कविता में श्रृंगार का मूलाधार रसिकता है, प्रेम नहीं। इस रसिकता में इन्द्रियजन भावना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 –177

नारी सौन्दर्य चित्रण :- श्रृंगार कालीन काव्य में नारी के रूप - चित्रण को बहुत महत्व दिया गया है। सौन्दर्य के अखण्ड और सत्य स्वरूप का निरूपण करते हुए संस्कृत के महाकवि माघ ने अपने महाकाव्य 'शिशुपाल बध' में लिखा हा कि जो क्षण क्षण नवीनता को प्राप्त करे वही रूप की रमणीयता है-

क्षणे - क्षणे यन्नवतामुपेति तदेव रूपं रमणीयतायाः।[1]

कविवर विहारी लाल की नायिका का रूप - यौन्दर्य इस कसौटी पर सटीक बेठता है, देखिए -

लिखनि बैठि जाकी सबी, गहि - गहि गरब जरूर।

भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।।

यह मन माहिनी मुग्धा नायिका है। मतिराम ने भी सौन्दर्य की इसी कसोटी का अपनाया है-

ज्यों - ज्यों निहारिए नेरे ह्वे त्यों - त्यों खरी बिकसे सी निकाई।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि अमूर्त सौन्दर्य को मूर्त रूप प्रदान करता है, मूर्त उपादानों के माध्यम से सहृदय के लिए उसे सुलभ बनाता है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "श्रृंगारकालीन काव्य में नारी काई व्यक्ति या समाज के संघटन की इकाई नहीं है बल्किसब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथा सम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है।"[2] देव ने कहा है-

कोन गने पुरबन नगर कामिनि एकै रीति।

देखत हरे विवेक को चित्त हरे करि प्रीति।।

इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, यह केवल पुरुष के आकर्षण का केन्द्र भर है।

अलंकरण का प्राधान्य :- रीतिकाल को मिश्र बन्धुओं ने अलंकृत काल नाम दिया। इस काल के कवियों ने संस्कृत साहित्य से पुष्ट अलंकार शास्त्र को अपनी कविता में स्थान दिया, और अपने को आचार्य सिद्ध करने का प्रयास किया। अलंकार ग्रन्थों में केशव की 'कविप्रिया' महाराज जसवन्त सिंह का 'भाषा भूषण' मतिराम का 'ललित ललाम' महाराज राम सिंह का 'अलंकार दर्पण' प्रसिद्ध है। डॉ0 हजारी

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - पृ0 सं0 - 296

प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि संस्कृत के परवर्त्ती अलंकार – गंन्थ में भी विवेचन कम है, पूर्वाचार्यों के निर्णीत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण तथा शिक्षण और प्रचारण ही अधिक है। इन्हीं ग्रन्थों का ही हिन्दी के रीतिकालीन कवि अनुकरण कर रहे थ।[1]

<u>लक्षण ग्रन्थों की प्रचुरता</u> :– रीतिकाल में 'रीतिबद्ध' कवियों की प्रमुखता है, इन कवियों ने रीतिशास्त्र की भूमिका पर अपनी कविता का निर्माण किया है। केशव – चिन्तामणि त्रिपाठी, मतिराम, भूषण, जसवन्त सिंह, भिखारी दास, देवमण्डन, कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, सूरति मिश्र, बेनी बन्दीजन, बेनी प्रवीन, पद्माकर, ग्वाल – प्रताप शाहि प्रसिद्ध रीतिबद्ध कवि हैं। एक बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि रीतिबद्ध कवि संस्कृत के लक्षण ग्रन्थकारों से एक बात में आगे बढ़ गए है, वह है इनकी सरस कविता। तमाम आलोचक इन रीतिबद्ध कवियों की मौलिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाते है। "इन ग्रन्थों में शास्त्रीय विवेचना की प्रौढ़ता भी नहीं रह गई है। काव्यशास्त्र का सांगोपांग विवेचन करने वाले इन कवियों ने कोई नई बात नहीं कही।"[2]

<u>**प्रकृति चित्रण**</u> :–रीतिकाल की कविता में प्रकृति का वैसा बिम्ब ग्राही चित्रण नहीं मिलता जेसा बाल्मीकि रामायण और कालिदास के काव्य एवं नाटकों में मिलता है। प्रकृति के प्रति इस काल के कवि प्रायः तटस्थ थे। सेनापति एक मात्र ऐसे कवि हैं जिन्हें ऋतु वर्णन में पर्याप्त सफलता मिली है। इस काल के कवियों के प्रकृति के उद्दीपन रूप में चित्रण परम्परा मुक्त है।

रीतिकाल में प्रकृति के आलम्बन रूप में चित्रण का प्रायः अभाव पाया जाता है। वैसे तो यदि सेनापति के **कवित्त रत्नाकर** को रीतिकालीन कविता मान लें तो प्रकृति के आलम्बन रूप में भी बड़े सुन्दर चित्रण मिल जाते हैं। यथा वृष राशि में स्थित सूर्य का यह वर्णन है –

> "वृष को तरनि तेज सहस्रों किरन करि,
> ज्वालन के जात विकराल बरसत हैं।
> तचहि घरनि जग जाति झरनि सीरी,
> छाँह कौं पकरि पंथी पंछी विरमत हैं।।

इसी प्रकार केशव की रामचन्द्रिका में प्रकृति का चित्रण मिलता है

---

1. **हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 175**
2. **हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास – पृ0 सं0 179**

किन्तु प्रकृति रीतिकालीन कविता में प्रमुख रूप से अलंकरण एवं उद्दीपन रूप में आई है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि रीति कवियों ने षड् ऋतुओं का वर्णन उद्दीपन रूप में किया है।[1]

<u>वीर रस की कविता:</u> – श्रृंगार के साथ – साथ इस काल में उत्कृष्ट रचनाएं हुई हैं जो अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। मुसलमान शासन भारत में विदेशी था। भारतीय जनता ने इनके अत्याचारों से पीड़ित होकर इनके विरुद्ध सिर उठाया। मराठे, सिख और कुछ रजवाड़ इस विद्रोह को आगे बढ़ाने वाले थे। मराठों में वीर छत्रपति शिवाजी का नाम बहुत ऊँचा है। कविवर भूषण ने अपने उत्कृष्ट वीर काव्य का आलम्बन महाराष्ट्र केसरी छत्रपति शिवाजी महाराजा को बनाया।

वीर बुन्देला छत्रसाल भी ऐसा ही उत्कृष्ट राष्ट्रीय वीर था। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने हिन्दू वीरों की वीरता के सम्बन्ध में उत्कृष्ट वीर रस की कविता का सृजन किया। केशवदास, जटमल, मतिराम, मान, श्रीधर उर्फ मुरलीधर, गोरेलाल, कवि सदानन्द, गुलाब चतुर्वेदी, शम्भुनाथ मिश्र, छत्रसिंह कायस्थ, चन्द्रशेखर आदि कवियों ने भी वीररस की अच्छी कविता प्रस्तुत की है।[2]

<u>भक्ति और नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ:</u> – रीतिकालीन कवियों की एक विशेषता यह भी है कि उनके काव्य में भक्ति और नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ बिखरी हुई मिल जाती हैं। ये सूक्तियाँ मार्मिक हैं –

> "रीझ है सुकवि जो तो जानो कविताई,
>
> न तो राधिका – सुमिरन को बहानो है।

परिस्थितियों से विवश **ग्वाल** कवि को राधा – कृष्ण के श्रृंगारी वर्णन प्रस्तुत करने पड़े, उन्होंने राधा – कृष्ण से क्षमा याचना की –

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 180
2. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ0 सं0 303

"श्री राधा पदपद्म को, प्रनमि – प्रनमि कवि ग्वाल।

छमवत है अपराध को, कियौ जु कथन रसाल।।"

राधा और कृष्ण का प्रेम भी मानवीय प्रेम के रूप में चित्रित है, तथापि इन कवियों की भक्ति इन पदों में सदा प्रच्छन्न भाव से वर्तमान रहती है।"[1]

<u>नारी के प्रेमिका स्वरूप का प्राधान्य</u> :– रीतिकालीन कविता में नारी केवल पुरुष के रति भाव का आलम्बन मात्र बनकर रह गयी है, उसके सामाजिक अस्तित्व का उद्घाटन नहीं हो पाया – घनानंद – देव बिहारी, मतिराम की नायिकाओं के हाव – भाव, विलास चेष्टाएं, नख – शिख वर्णन ही चित्रित हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "रीति – कवियों ने नायिका के अंग की शोभा और कान्ति का बड़ा ही हृदयहारी और कभी – कभी फड़का देने वाला वर्णन किया है। पजनेस, ग्वाल, चन्द्रशेखर बाजपेयी जैसे कवियों ने मुख के तिल और मस्से को भी वर्णन करने से नहीं छोड़ा; और तो चेचक के दाग का भी रस लेके वर्णन किया है।"[2]

<u>ब्रजभाषा का प्राधान्य</u>:– भाषा की दृष्टि से समृद्ध – परिपुष्ट काल कहा जा सकता है, ब्रज भाषा का कोश बहुत भरा गया, वह वहुत उन्नत हो गयी वास्तव में ब्रजभाषा का चरमोन्नति काल था। रीतिकाल के कारण ही आधुनिक काल के प्रारम्भिक युग में ब्रज भाषा और खड़ी बोली के बीच आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। डॉ० द्विवेदी ने इसी कारण से लिखा कि "ब्रज भाषा के लालित्य के कारण ही आधुनिक काल के कुछ कवि मानते थे कि कविता तो ब्रजभाषा में ही लिखी जा सकती है।"

<u>मुक्तक शैली का प्राधान्य</u> :– इस काल में प्रवन्ध शैली में अनेक काव्य लिखे गये, किन्तु वे विशिष्टिता को प्राप्त नहीं कर सके। अपने आश्रयदाता राजाओं की मानसिक भूख को मिटाने के लिए मुक्तक का प्रयोग किया। रीतिबद्ध कवियों ने दोहा – कवित्त और सवैया का रीतिमुक्त कवियों ने कवित्त–सवैया शैली का प्रयोग किया।

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ० सं० 180
2. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ० सं० 180

फारसी शैली का प्रभावः – रीतिबद्ध कवियों की भाषा में मुसलमानी संस्कृति एवं फारसी शैली का गहरा प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है।

"तत्कालीन राजा – महाराजाओं के दरबारों में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण होने से रीतिबद्ध कवियों में कहीं – कहीं फारसी के लच्छेदार शब्द सुनाई पड़ जाते हैं।"[1]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वयं स्वीकार करते हैं कि "भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ।"

रीतिग्रन्थों का प्रर्वतक कौन? :– हिन्दी रीति ग्रन्थों की परम्परा कब से चली, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। भक्त कवियों में सर्वप्रथम नन्ददास (लगभग सं0 1600) ने **रसमंजरी** में नायिका भेद का निरूपण किया है किन्तु भानुदत्त (14श0) की संस्कृत में लिखी **रसमंजरी** का यह पद्य में अनुवाद ही है। कुछ विद्वान कृपाराम की **हित तरंगिणी** (सं0 1598) को नायिका भेद की प्रथम भाषा – पुस्तक मानते हैं, किन्तु श्री चन्द्रवली पाण्डे के अनुसार यह परवर्ती काल की रचना है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर रचनाकाल सं0 1798 ठहराता है। इसलिए इसका विवेचन बाद में करना ही ठीक रहेगा। काव्यांगों का सम्यक् विवेचन भाषा में सबसे पहले आचार्य केशवदास ने किया। डॉ0 श्याम सुन्दर दास इनको हिन्दी रीति – ग्रन्थों का प्रर्वतक मानते हैं। इनकी **कविप्रिया** और **रसिक प्रिया** मे क्रमशः अलंकार और रसों का विवेचन हुआ है। शुक्ल जी ने इससे पहले एक और लेखक **करनेस बन्दीजन** के तीन अलंकार ग्रन्थों की चर्चा की है – कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण। किन्तु इन ग्रन्थों का कोई पता नहीं चलता। इसीलिए ये ग्रन्थ नोटिस मात्र हैं। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार, "हिन्दी में रति ग्रन्थों की अविरल और अखण्ड परम्परा का प्रवाह केशव की **कविप्रिया** के पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।" आगे शुक्ल जी स्पष्ट करते हैं – "हिन्दी रीति ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली। अतः रीतिकाल का

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ0 सं0 301

आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए। इस प्रकार हिन्दी में रीतिग्रन्थों के प्रर्वतक के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। शुक्ल जी ने केशवदास की रीतिग्रन्थों का प्रवर्तक मानने के विरुद्ध दो तर्क उपस्थित किये हैं। पहला यह है कि केशव की **कविप्रिया** के पचास वर्ष बाद तक हिन्दी में कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। दूसरा यह कि बाद में जो रीतिग्रन्थों की परम्परा चली वह केशव के दिखाये हुए पुराने आचार्यो (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली, जिसमें अलंकार – अलंकार्य्य का भेद हो गया था। हिन्दी के अलंकार ग्रन्थों में **चन्द्रलोक** और **कुवलयानन्द** के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रन्थों में **काव्य प्रकाश** और **साहित्य दर्पण** का भी आधार पाया जाता है। काव्य का स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रन्थों का मत ग्रहण किया। इसके उपरान्त तो लक्षण ग्रन्थों की भरमार सी होने लगी। कवियों ने कविता लिखने की यह प्रणाली बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना, फिर उनके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना।"

डॉ0 श्याम सुन्दर दास का मत भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है। वे केशव को रीतिकाल का आदि प्रवर्तक मानते हैं, "यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशव दास भक्ति काल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा **रामचन्द्रिका** आदि ग्रन्थ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिन्दी काव्य धारा से पृथक् होकर चमत्कारवादी कवि हो गये और हिन्दी में रीतिग्रन्थों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाये।" डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि केशव ही रीति ग्रन्थों के विवेचक हैं साथ ही उनका विचार है कि कवि को जिस प्रकार का संवेदनशील और प्रेषण धर्म वाला हृदय मिलना चाहिए वैसा केशव दास को नहीं मिला था। यह कारण है इनकी राम चन्द्रिका में अलंकारों का बाहुल्य हो गया और काव्य पक्ष बिल्कुल दब गया है।

डॉ0 द्विवेदी केशव को रीतिग्रन्थों के विवेचक मानने के पीछे तर्क देते हैं कि उन्होंने लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे, उन्होंने रसवादी आचार्यो को अनुसरण न करके दण्डी आदि पुराने अलंकार – चमत्कारवादी कवियों का अनुसरण किया है। **रसिकप्रिया** सहृदय पाठकों के लिए लिखी गयी। डॉ0 द्विवेदी आचार्य शुक्ल के उस तर्क का भी खण्डन कर देते हैं जिसमें केशव को हृदयहीन कवि कहा गया है, लेकिन वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि लाक्षणिक ग्रन्थों में मौलिकता का नितान्त अभाव है।

प्रमुख रीति – ग्रन्थकार :– चिन्तामणि – इतिहास में कानपुर जिले के तिकवाँ गाँव के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के **समान** भाग्यशाली पिता बहुत कम होते होंगे। इनके चार पुत्र थे, चारों कवि। सबसे बड़े चिन्तामणि थे, जिनका जन्म सन् ईस्वी की सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही (1609 ई0) इनका **कविकुल कल्पतरु** नाना दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। यद्यपि **शिवसिंह सरोज** में इनकी कई और रचनाओं (छन्द विचार, काव्य विवेक, काव्य प्रकाश, रामायण) की चर्चा है और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज – रिपोर्ट में **रसमंजरी** नामक एक अन्य रचना भी इनकी लिखी बताई गयी है (जो वस्तुतः **शृंगार मंजरी** है और भानुदत्त की **रसमंजरी** पर आधारित है। परन्तु इनके यश का मुख्य हेतु तो **कविकुल कल्पतरु** ही है। यह पुस्तक **काव्य प्रकाश** के आदर्श पर लिखी गयी है।

भूषण :– चिन्तामणि का सबसे अधिक आश्रय और सम्मान देने वाले मुसलमान बादशाह और सरदार ही बताये गये हैं परन्तु उनके छोटे भाइ भूषण (जन्म 1613 ई0) शिवाजी के आश्रित थे और उनकी वीरदर्प भरी उक्तियों से मुगल साम्राज्य की जड़ हिलाने में सहायक हुए। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने उन्हें **कविभूषण** की उपाधि दी थी, तबसे इनका नाम भूषण पड़ गया। महाराज छत्रसाल भी इनके प्रशंसकों में से थे और भूषण भी दोनों की वीरता पर मुग्ध थे। शृंगार के व्यापक प्रभाव को अतिक्रम कराके ये अपनी कविता को वीररस की गंगा में स्नान करा सके। यद्यपि उस वीर – काव्य में परम्परागत रुढ़ियों का और चारण कवियों की उस प्रथा का प्रभावपूर्ण रूप से पालन किया गया है जिसमें ध्वनि को अर्थ

से अधिक महत्त्व दिया जाता है और उसकी प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिए शब्दों को यथेच्छ तोड़ा – मरोड़ा जाता है, फिर भी भूषण की कविता में प्राण हैं।

<u>मतिरामः</u> – मतिराम सम्भवतः भूषण से उमर में बड़े थे। दोनों भाइयों की भाषा, भाव, प्रकृति सबसे अद्‌भुत अन्तर है। मतिराम भाषा की नाड़ी पहचानते हैं। इनके **रसराज** और **ललितललाम** ग्रन्थ तो रीति – काव्य हैं, किन्तु **सतसई** बिहारी – सतसई के समान सरस मुक्तकों का संग्रह है। भाषा के सहज प्रवाह और भावों के अनाडम्बर प्रकाशन में मतिराम के साथ भाषा के बहुत थोड़े कवियों की तुलना की जा सकती है। यद्यपि **रसराज** और **ललितललाम** में लक्षण और उदाहरण के बहाने ही कविता लिखी गयी है, पर भावों का सरस चित्रण दुर्लभ है।

<u>जसवन्तसिंह ओर भिखारी दासः</u> – मारवाड़ के महाराज जसवन्त सिंह (जन्म सन् 1626) का **भाषाभूषण** हिन्दी का बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। मतिराम अपने उदाहरणों के सरस कवित्तव के कारण प्रसिद्ध हैं, पर महाराज जसवन्त सिंह अपने लक्षणों ओर उनके यथार्थ उदाहरणों के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। इनके ग्रन्थ का प्रधान आधार और आदर्श जयदेव का **चन्द्रालोक** है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक **भाषा – भूषण** अलंकार – जिज्ञासु हिन्दी कवियों के पठन – पाठन का ग्रन्थ रहा है। इसके समान लोकप्रिय ग्रन्थ केवल भिखारीदास का **काव्य – निर्णय** ही हो सका है। ये भिखारीदास या दास प्रतापगढ़ जिले के कायस्थ थे और काव्य शास्त्र के व्युत्पन्न विद्वान थे, इनकी रचनाएं अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग की हैं। इनकी लिखी प्रसिद्ध पुस्तकें ये हैं – **रस सारांश** (1742 ई0) **छन्दार्णव पिंगल** (1742 ई0) **काव्यनिर्णय** (1746 ई0) **शृंगारनिर्णय** (1750 ई0) **नामप्रकाश कोश** (1738 ई0) **विष्णुपुराण भाषा** इत्यादि। दास हिन्दी के अच्छे आचार्यो में गिने जाते हैं। बहुत से लेखकों ने इन्हें अच्छा मौलिक चिन्तक माना है। परन्तु यह भी अन्य रीतिकारों की भाँति पुरानी वस्तुओं का ही नवीन संग्रह कर रहे थे। भाषा इनकी निस्सन्देह परिमार्जित है और उदाहरणों के रूप में लिखे गये छन्दों में कवित्व भी कहीं – कहीं अच्छा निखरा है। इनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण इनका **काव्यनिर्णय** ही है।

देव कवि: – देव (जन्म 1673 ई0) बहुत प्रभावशाली कवि थे। ये इटावे के रहने वाले थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है, कुछ ने सनाढ्य। दूसरा मत अधिक मान्य पड़ता है। इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। इतिहास – लेखकों ने कभी – 72 और कभी 80 ग्रन्थ इनके लिखे गिनाये हैं, पर सब मिलते नहीं। कई आश्रयदाताओं के दरबार में इन्हें भटकना पड़ा था। सबको खुश करने के लिए कई ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी थी। कभी – कभी नया नाम देकर पुराना मसाला डाल देने का कौशल भी अंगीकार करना पड़ा। इसलिए कितनी ही पुस्तकों में नाममात्र का अन्तर है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी 25 पुस्तकें बतायी हैं।

यद्यपि लक्षण – लक्ष्य के रूप में देन ने ये ही रीति – ग्रन्थ लिखे हैं, पर उनके अन्य ग्रन्थों में भी रीतिकाव्य के सभी गुण प्राप्त होते हैं। **प्रेमचन्द्रिका रस विलास**, **प्रेमपचीसी** आदि पुस्तकों में देव बहुत उत्तम कवि के रूप में विराजमान हैं। यद्यपि मतिराम की भाँति भाषा का सहज प्रवाह और भावों की समंजस योजना देव की कविता में नहीं है तथापि अर्थ – गाम्भीर्य और सरस वाग्विन्यास में वे बहुत ही ऊँचे कवि हैं। जब कवि वे सहज और अनाडम्बर भाषा का प्रयोग करते हैं तभी उनकी रचना अत्यन्त उत्कृष्ट होकर प्रकट होती है, पर जब वे सूक्ति – योजना और वाग्वैदग्ध्य के आयोजन में जुट जाते हैं तब उसमें फीकापन आ जाता है।

गद्य का प्रयोग: – देव ने **काव्यप्रकाश** का अच्छा अध्ययन किया होगा। **काव्य रसायन** या **शब्द रसायन** प्रधान रूप से **काव्य प्रकाश** पर ही आधारित है। विकसित गद्य का आश्रय न पा सकने के कारण इनके सुलझे विचार भी उलझने को बाध्य हुए हैं। इनके पहले कुलपति मिश्र ने भी (जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) अपने 'रसरहस्य' में 'काव्यप्रकाश' का ही आधार लिया था। उन्होंने पद्य को साहित्यिक विवेचना के लिए अशक्त समझकर कुछ –कुछ गद्य का भी आश्रय लिया था। आगरे के कनोजिया ब्राह्मण सूरति मिश्र काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। उन्होंने 'काव्य सिद्धान्त', 'रस रत्नमाला', 'अलंकार माला', 'रस ग्राहक चन्द्रिका', 'नख शिख', 'रसालंकार' आदि पुस्तकें तो लिखी ही, बिहारी की **सतसई** और केशव की **कविप्रिया** और

रसिकप्रिया पर टीकाएं भी लिखी और इस कार्य के द्वारा अलंकार – विवेचना में गद्य का उपयोग किया। परन्तु सब मिलाकर गद्य वाले प्रयत्न बहुत शक्तिशाली रूप नहीं धारण कर सके।

<u>कुछ प्रसिद्ध अलंकारिक कवि</u> :– कुमार मणिलाल (भट्ट) का **रसिक रसाल** किन्तु कविवर भिखारी दास के पूर्व सबसे प्रौढ़ आलोचक कालपी के श्री पति ही कहे जा सकते हैं। ये एक प्रकार से भिखारी दास के पथ प्रदर्शक रहे। इनका लिखा हुआ **काव्य सरोज** और **काव्य कल्पद्रुम** प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। काशी निवासी गंजन कवि का **कमरूद्दीनहुलास** अच्छा ग्रन्थ है। माथुर ब्राह्मण और भरतपुर के महराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के आश्रित सोमनाथ का **रसपीयूषनिधि** (सन् 1773 ई0), जिसमें पिंगल का भी समावेश है, काव्यशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बहुत पूर्णांग ग्रन्थ माना जाता है। ऊपर हमने देखा है कि इस काल का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। भिखारीदास या दास कवि का **काव्य निर्णय** जिसे हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक लोकपप्रिय और महत्वपूर्ण काव्यशास्त्र ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त हुआ है। ये प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजाप्रथ्वीपति सिंह के भाई बाबू हिन्दूपति सिंह के आश्रित थे और काव्यशास्त्र के निष्णात पण्डित थे। **काव्य–निर्णय** में छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द, – शक्ति आदि का विस्तृत विवेचन है। श्रीपतिके ग्रन्थ **काव्यकल्पद्रुम** से इसमें बहुत सहायता ली गई है। भिखारीदास की शैली आलोचना के उपयुक्त है। फिर रूपसाहि (पन्ना के कायस्थ, 1766 ई0) का **रूपविलास** जिसमें पिंगल भी है; श्रीनगर के राजा फतेहसाहि के आश्रित रतन कवि का **फतेहभूषण** (1773 ई0) के आसपास; जनराज का **कविता–रस–विनोद** (1776 ई0) थान कवि का दलेल प्रकाश (1801 ई0); गुरूदीन पाण्डे का **बाग मनोहर** (1803 ई0) जो **कविप्रिया** की शैली पर लिखा गया है और पिंगल का भी विवेचन करता है करन का **साहित्य रस** (1803 ई0) रतनेस बन्दीजन के सुपुत्र और बुन्देलखण्ड के चरखारी राज के महाराजा विक्रमसाहि के आश्रित, वक्तव्य विषय के सफाई में मतिराम के और सुलझी हुई विचार – पद्धति में श्रीपति और भिखारीदास के समकक्ष

माने – जाने वाले प्रतापसाहि की **व्यंग्यार्थ कौमुदी** (1825 ई0), **काव्यविलास** (1829 ई0) और **काव्य विनोद** (1839 ई0) प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

अठाहरवीं शताब्दी के अन्त तक रीति – ग्रन्थों की बाढ़ आ गई थी। हर कवि कोई – न – कोई पिंगल, अलंकार, या रस – ग्रन्थ लिखा ही देता था। कुछ अच्छे कवित्व के कारण यश पा जाते थे और कुछ उतने प्रसिद्ध नहीं हो पाते थे। अठाहरवीं शताब्दी में सैय्यद गुलाम अली **रसलीन** हुए जो विलग्राम (हरदोई) के रहने वाले थे। उनके **अंगदर्पण** (1737 ई0) और रसप्रबोध (1741 ई0) ये दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हुए। किन्तु उनका यश – रस – विवेचन के कारण नहीं बल्कि मनोहर सूक्तियों और चित्ताकर्षक भाव – योजनाओं का कारण है। इसी प्रकार कालिदास के पौत्र और कवीन्द्र (उदयनाथ) के पुत्र दूलह कवि ने (अठाहरवीं शताब्दी उत्तरार्ध) भी यद्यपि **कविकुल कण्ठाभरण** नाम छोटा – सा अलंकार – ग्रन्थ लिखा, परन्तु उनकी प्रसिद्ध रसरस और मधुर उक्तियां के कारण ही है। फिर बैंती (जिला रायबरेली) के बन्दीजन बेनी ने यद्यपि अपने आश्रयदाता किसी टिकैतराय के नाम पर **टिकैतराय–प्रकाश** (1803 ई0) नाम का एक अलंकार ग्रन्थ लिखा था और **रसविलास** नाम का रस–विवेचन का ग्रन्थ भी लिखा था, पर प्रसिद्ध उनकी इन अलंकार और रस की विवेचना करने वाली पोथियां के कारण नहीं है बल्कि भड़ौवां के कारण है। अठाहरवीं शताब्दी के अन्त तक अच्छे – खासे भड़ौवों की रचना हुई होगी, क्योंकि उस काल में रईसों के मनोरंजन का यह एक खास विषय था। इनमें हास्योद्रेचक सूक्तियों की बहार होती है, पर मुख्य लक्ष्य सूम होता है। **बेनी** के भड़ौवों की टक्कर का दूसरा भड़ौवा नहीं लिखा गया।

<u>पद्माकर</u> :– किन्तु इस काल केश्रेष्ठ कवि पद्माकर ही हैं। (1753 ई0–1833 ई0) ये सुपण्डित तो थे ही, विस्तृत लोक ज्ञान के धनी भी थे। अन्तिम वयस में इन्होंने भक्ति सम्बन्धी पद लिखे हैं जो बहुत ही मार्मिक हैं। इनका जन्म बाँदे में हुआ था। इनका कुलपण्डितों का कुल था। वे स्वयं भी **गुरू – रूप** में सम्मान

प्राप्त कर चुके थे। कई दरबारों में इनका सम्मान हुआ था। इनके लिखे कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं – **'हिम्मत बहादुर विरूदावली, 'जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध पचासा** और **राम रसायन** इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनका **जगद्विनोद** उन्नीसवीं शताब्दी के काव्यरसिकों को बहुत प्रिय रहा है। भाषा पर तो इनका बहुत ही व्यापक अधिकार है। यद्यपि कभी – कभी अपने समय की प्रवृत्ति के शिकार होकर ये अर्थ – गाम्भीर्यहीन रचनाओं के लिखने में प्रवृत्त हो जाते हैं, पर बहुत थोड़े अवसरों पर ऐसा होता है। इनकी रचना में अनाडम्बर भाव – योजना और सहज भाषा – प्रवाह के गुण मतिराम के समान प्राप्त होते हैं।

<u>ग्वाल कवि और प्रताप सिंह:</u> – पद्माकर रीति – कविता के अन्तिम श्रेष्ठ रचयिता हैं। इनके बाद उल्लेख योग्य कवि केवल ग्वाल हुए जो यद्यपि चार रीतिग्रन्थों – 'रसकिनान्द', 'रसरंग', 'नखशिख भूषण दर्पण' – के लेखक हैं, पर अधिक प्रसिद्ध वे अपनी मोज और मस्ती के पद्यों के कारण हैं। रीतिकाल के अन्तिम कवियों में प्रतापसिंह (कविता काल 1800 – 49) उल्लेख योग्य हैं, क्योकि इनकी रचनाओं में सफाई ओर सरसता, दोनों का योग है। पर उन्नीसवीं शताव्दी में रीतिकाव्य का तेज समाप्त हो आया था। प्रतापसिंह के जीवनकाल में ही नवीन युग सिर उठा चुका था, साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साधन देश में आ गये थे और नवीन उन्मेष के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे थे। रीतिग्रन्थ लिखने की परिपाटी थोड़ी – बहुत बाद में भी जीती रही, पर वह साहित्य की मुख्य प्रेरक शक्ति नहीं रह गयीं और इसीलिए प्रतिभाशाली कवियों को आकृष्ट नहीं कर सकीं।

<u>बिहारी लाल:</u> – बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका जन्म 1595 ई0 में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव था, परन्तु ये केशवराय प्रसिद्ध आचार्य केशवदास से भिन्न थे। इनके पिता निम्बार्क सम्प्रदाय के महन्त नरहरिदास के शिष्य थे। बिहारी ने उनके यहाँ संस्कृत – प्राकृत के काव्य ग्रन्थों का अध्ययन किया था। बाद में ये वृन्दावन आ गये, और वहीं मथुरा के किसी ब्राह्मण परिवार में इनका विवाह हुआ। तदुपरान्त ये वहीं रहने

लगे। इसी बीच इन्होंने फारसी काव्य का अभ्यास किया और बादशाह शाहजहाँ से भेंट की। शाहजहाँ के कृपापात्र बिहारी का सम्पर्क अन्य राजाओं से भी हुआ और अनेक राज्यों से इनकी वृत्ति बँध गयी। सन् 1645 के आसपास ये जब वृत्ति लेने जयपुर गये तो पता लगा कि वहाँ के महाराज जयसिंह अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में मुग्ध होकर महलों में ही पड़े रहते हैं, और राजकाज देखना छोड़ दिया है। समान्तगण तथा प्रजा के लोग व्यथित थे। उसी समय बिहारी ने एक दोहार लिखकर महाराज के पास पहुँचाया, जो इस प्रकार है:

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अलि कली ही सो विंध्यो, आगे कौन हवाल।।

बिहारी के इस दोहे का बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा और महाराज जयसिंह तथा चैहानी रानी दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इनको काली पहाड़ी नामक ग्रास दिया तथा प्रति छन्द पर एक मुहर पुरस्कार में देने का संकल्प किया। तदुपरान्त बिहारी जयपुर में ही रहने लगे और आमेर दरबार के राजकवि के रूप में अपना जीवन सुखपूर्वक बिताने लगे। चौहानी रानी कुमार रामसिंह का जन्म हुआ और तदनन्तर राजकुमार के बड़े होने पर बिहारी ने ही उसका विद्यारम्भ संस्कार कराया। कुमार के पढ़ने के लिए इन्होंने अपने दोहों का संग्रह किया, साथ ही साथ अनेक दोहे भी आवश्यकतानुसार संकलित किये। इस प्रकार बिहारी का जयपुर के राज – परिवार में विशिष्ट स्थान हो गया। बिहारी के कोई सन्तति नहीं थी। कहते हैं कि निरंजन – कृष्ण को इन्होंने गोद लिया था। एक कृष्ण कवि **बिहारी सतसई** के टीकाकार हुए हैं। हो सकता है ये कृष्ण कवि निरंजन कृष्ण ही हों। परम्परा के अनुसार **बिहारी सतसई** का समाप्ति काल सन् 1662 माना जाता है और यह भी कहा जाता है कि बिहारी का देहावसान सन् 1662 में हुआ।

बिहारी के सम्बन्ध में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि – "बिहारी उन कवियों में से थे, जिन्हें आजकल **सजग कलाकार** या **कन्शस आर्टिस्ट** कहते हैं। एक प्रकार के कवि होते हैं जो भावानुभूति के बाद आविष्ट की सी अवस्था में काव्य लिखे जाते हैं। ऐसे कवि का चेतन मन उस समय निष्क्रिय

बना रहता है, किन्तु उसके अवचेतन चित्त पर जो संस्कार जमे होते हैं, जो अनुभूति संचित रहती है वे बाँध तोड़ कर निकल पड़ती हैं। अनुभूत भाव का वेग इन विविध अनुभूतियों में एकसूत्रता स्थापित करता है। ऐसे कवि सचेत कलाकार नहीं होते हैं। वे अपने अवचेतन चित्त से चालित होते हैं।"[1]

बिहारी और मतिराम की तुलना करते हुए डॉ० हजारी प्रसाद जी लिखते हैं – "वस्तुतः मतिराम बिहारी के समान उक्ति – वैचित्र्य के उतने अच्छे कवि नहीं हैं, परन्तु जहाँ तक सरल ओर सहज भाव से हृदयानुराग को व्यक्त करने में नायिका के हृदय तक किसी प्रकार पाठक को पहुँचा देने का प्रश्न है, मतिराम बहुत ही मर्मस्पर्शीकवि हैं। इनकी उक्तियों में परम्परा का वैसा बोझ नहीं है और इसीलिए उनमें 'शोभा क भार से' 'सूधो पॉय' धर न सकने की आशंका बहुत अधिक नहीं है। रीतिकाल के बहुत थोड़े से कवियों के साथ इस विषय में मतिराम का नाम लिया जा सकता है। भाषा का ऐसा प्रछन्न प्रवाह दुर्लभ है। प्रथा के अनुसार मतिराम ने विभिन्न श्रेणी की नायिकाओं का लेखा प्रस्तुत किया अवश्य है, पर मूलतः वे गृहस्थी के कवि हैं।"[2]

बिहारी ओर देव की तुलना करते हुए डॉ0 हजारी प्रसाद जी लिखते हैं – "देव का आधारफलक (कैनवास) अवश्य ही बहुत विस्तृत है। रीतिकाल के कम कवियों में इतना वैविध्य होगा। उनके चित्र भी सब प्रकार से परिपूर्ण हैं। परन्तु मजमून सँभालने में देव प्रायः चूक जाते हैं। निस्सन्देह रेखाओं के सन्निवेश और रंगो की योजना की दृष्टि से देव की तुलना बहुत कम कवियों से की जा सकती है। उनके सादृश्य – विधान में भी सरसता और ताजगी रहती है, परन्तु भाषा के सहज प्रवाह और भावों के अनाविल उपस्थान में देव भी मतिराम तुलनीय नहीं हो सकते। देव का विस्तृत ज्ञान, मौजी स्वभाव और अनासक्त शृंगार चित्रण सहृदय को आकृष्ट करते हैं। बिहारी की भाँति वे भी उक्ति – वैचित्र्य का मोह नहीं छोड़ पाते और अर्थभारहीन शब्दालंकारो के फेर में पड़ जाते हैं,

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 192
2. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 194

परम्परा से प्राप्त काव्यानुभूति (जो वास्तविक का कभी – कभी अन्तराय बन जाती है) की माया उन्हें भरना देती है, परन्तु जब वे इन चक्करों से मुक्ति पा जाते हैं तो उनकी भाषा में गति आ जाती है और बिहारी और उनका विस्तृत ज्ञान वक्तव्य को अत्यन्त आकर्षक बना देता है।"[1] बिहारी और पद्माकर की तुलना करते हुए डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं – "मतिराम के प्रवाह और सजीवता की परम्परा को ठीक – ठाक निबाहने वाले कवि पद्माकर हैं। यद्यपि छन्दों के चुनाव में ये भी कभी – कभी देव की भाँति गलती कर गये हैं, पर सब मिलाकर भाषा की ऐसी बहार और भावों का ऐसा अकृत्रिम उपस्थापन अन्य कवियों में नहीं मिल सकता। पद्माकर में देव की भाँति मौजीपन, मतिराम की भाँति सहृदयता और विहारी की भाँति वाग्वैदग्ध्य पाया जाता है।"[2]

<u>घनानन्द:</u> – घनानन्द स्वच्छन्द काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इस धारा के प्रायः सभी गुण इनकी शैली में मिल जाते हैं, जैसे – भावात्मकता, वक्रता, लाक्षणिकता, भावों की वैयक्तिकता, रहस्यात्मकता, मार्मिकता, स्वच्छन्दता आदि। इनकी दो प्रकार की रचनाएं उपलब्ध हैं जिनका सम्बन्ध क्रमशः लौकिक शृंगार एवं भक्ति से है। प्रथम वर्ग की रचनाएं प्रायः कवित्त सवैयों में रचित हैं और दूसर वर्ग की पदों एवं दोहे – चौपाइयों में। अब तक प्राप्त कवित्त सवैयों की संख्या 752 पदों की संख्या 1057 और दोहे – चौपाइयों की 2354 है। काव्य-सौन्दर्य के अतिरिक्त रचना – विस्तार की दृष्टि से भी घनानन्द महाकवियों में गिने जाने योग्य हैं। इनके काव्य में ऋजु और वक्र दोनों प्रकार की शैलियों को प्रयोग मिलता है, जो भावों के अनुरोध से कहीं संश्लिष्ट, कहीं विश्लिष्ट हो गयी हैं। इसके वर्ण्य विषय में विविधता एवं विस्तार नहीं है, अपितु कवि की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण विविधता भावों के सूक्ष्म भेद – प्रभेदों में मिलती है। भाव कवि के व्यक्तिगत अतएव स्वच्छन्द हैं, काव्य परम्परा के नहीं। विषय के समान भावों में कहीं कहीं आवृत्ति के दर्शन होते हैं। भावों के

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – पृ0 सं0 196
2. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास – 196

विषाद और निराशा का प्राचुर्य है। कवि प्रेम की पराजय में भी अड़िग है, अतएव उसे विजयी कहा जायेगा। यह विषाद उसके अभिलाषातिरेक का परिणाम है। प्रेम के हर्षावसरों पर बढ़ती हुई अभिलाषायें उसे बेचैन बना देती हैं। उसके भाग्य में प्रेम का हर्ष बदा ही नहीं है। प्रेम की यह विषादमयी अनुभूति हिन्दी – साहित्य की परम्परा के प्रतिकूल एवं फारसी परम्परा के अनुकूल है। घनानन्द के समकक्ष फारसी के अनेक कवियों में यही प्रवृत्ति पायी जाती है। तत्कालीन समाज की हीन दशा और उसमें व्यक्ति की परवशता के अनुभव का भी यह परिणाम हो सकता है।

काव्य शैली में वर्ण्य का उपयोग दो प्रकार से हो सकता है – भाव – लपेटी वस्तु का स्वरूप खड़ा करके या फिर वस्तु से उठे भावों का सीधा वर्णन करके। रस – सिद्धांत की भाषा में पहले को विभाव प्रधान और दूसरे को भाव प्रधान कह सकते हैं। हिन्दी संस्कृत की परम्परा विभाव प्रधान ही रही है। पर घनानंद ने दूसरा मार्ग अपनाया है अर्थात भावों का सीधा वर्णन अधिक किया है। इन भावों में रीझ, विषाद, अभिलाष, भूल, उपालम्भ आदि प्रमुख हैं। इन भावों के आश्रय हैं – मन, प्राण, नेत्र तथा ज्ञानेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों को भावां का आश्रय बना कर कवि ने उनका मानवीकरण कर दिया है। इनका काव्य अन्तर्भूमि पर ही अधिक खड़ा है। वस्तु पर कम। प्रिय के रूप पर रीझने में मन की क्या दशा होती है, इस पर नीचे लिखा सवैया देखिए:

> रावरे, रूप की रीति अनूप नयौ – नयौ लागत ज्यौं – ज्यौं निहारियै,
> त्यों इन आँखिन बानि अनोखी, अघानि कहूँ नहि आन तिहारियै।
> एक ही जीव हुतौ सुतौ बारयौ सुजान संकोच औ सोच सहारियै।
> रोकी रहै न दहै घनआनँद बाबरी रीझ के हाथीन हारियै।।

इसी प्रकार वियोग व्यथा की सैकड़ो अन्तर्दशाओं के मार्मिक चित्र कवि ने खींचे हैं। जो हृदय को सीधे छूते हैं। वियोग शृंगार में प्रिय के न रहने पर प्रेमी का भावमग्न हो जाना स्वाभाविक है, पर घनानन्द संयोग में भी भावमग्न हैं। भावात्मकता

के कारण ही अनुभूति का सम्बन्ध जब सरारीर प्रिय से हटकर अनुभूत्यात्मक हो जाता है, तो उसका सम्बन्ध परम सत्ता से बना प्रतीत होने लगता है।

आलमः – शेख आलम की कविता में स्वच्छन्द प्रेमधारा के भाव प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। आलम नाम के दो कवि हुए हैं। एक तो सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में उत्पन्न हुए थे और **माधवानन्द कामकन्दला** नामक पुस्तक लिखी थी और दूसरे औरंगजेब के दूसरे पुत्र मुअज्जम शाह के आश्रित थे। अवएव अठारहवीं शताब्दी के अन्त में वर्तमान थे। यहाँ दूसरे आलम की चर्चा की जा रही है। इनके बारे में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का विचार है कि ये जाति के ब्राह्मण थे और किसी शेख नामक रंगरेजिन के प्रेम में पड़कर मुसलमान हो गये। प्रेम की कहानी भी विचित्र है। आलम ने अपनी पगड़ी रँगने को दी थी जिसमें दोहे की एक पंक्ति कागज पर लिखी रह गयी थी – 'कनक छरी सी कामनी काहे को कटि छीन।' रंगरेजिन शेख ने कागज खोल कर पढ़ा और दूसरी पंक्ति लिख दी – 'कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य भरि दीन'। यह पंक्ति प्रेम का और अन्त में धर्मातर ग्रहण का कारण बनी। कहा जाता है कि जौनपुर जिले में आलम का जो पुराना गाँव है, उसमें अब भी ब्राह्मण कुल और मुसलमान–कुल है। दोनों को अपने पूर्व पुरुष पर गर्व है। पता नहीं यह किंवदन्ती कहाँ तक सच है। कहा जाता है 'शेख' पणिति के साथ जो कविताएं मिलती हैं वे पत्नी की हैं और आलम नाम से जो कविताएं मिलती हैं वे पति की हैं। जितनी भी पुरानी पुस्तकें मिलती हैं उनमें **शेख आलम के कवित्त** लिखा मिलता है। इसलिए कुछ विद्वान शेख और आलम को दो व्यक्ति के नाम नहीं मानते हैं और पूरी कहानी को किंवदन्ती और कल्पित मानते हैं। उनके मत से शेख विश्लेषण है, आलम विशेष्य। यह एक ही मुसलमान कवि का नाम है जो कभी शेख के नाम से कविताएं लिखते हैं और कभी आलम से। यद्यपि ये फारसी ज्ञाता थे, तथापि इनकी रचनाएं रीतिकालीन कवियों की परम्परा में पड़ती हैं। फिर भी इनमें प्रेमोल्लास का कुछ नवीन स्वर मिलता है। किन्तु आलम की रचनाओं में भारतीय परम्परा का अच्छा पालन देखकर दूसरे विद्वान कहानी की सच्चाई

को विश्वसनीय मानते हैं। प्रेमोल्लास की व्यंजना इसमें निस्सन्देह बहुत उच्च कोटि की है।

ठाकुर: – ओरछा (बुन्देलखण्ड) के ठाकुर कवि (जन्म 1766 ई0) स्वच्छन्द प्रेम भावना के श्रेष्ठ कवि थे। जोधपरु और बिजावर के राज्यों में इनका बड़ा मान था। पद्माकर के आश्रयदाता गोंसाई हिम्मत बहादुर के यहाँ भी इनका बड़ा सम्मान था। किंवदन्तियों में पद्माकर के साथ इनका वाग्वैदग्ध्य की कहानियाँ प्रचलित हैं। इनकी रचनाओं में ऐकान्तिक प्रेम का प्रवाह है।" भाषा की स्वच्छन्दता और भावों का अनोखापन इनकी रचनाओं के मुख्य आकर्षक गुण हैं। फारसी काव्यधारा से परिचित होने के कारण इनकी रचना में कभी – कभी अनुभयनिष्ठ ऐकान्तिक प्रेम की व्यंजना भी मिलती है:

"वा निरमोहिनी रूप की राशि

जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।

बारहिं बार बिलोकि घरी – घरी

सूरति तो पहचानिति ह्वै हैं।

ठाकुर या मन को परतीति है

जो पै सनेह न मानति ह्वै हैं।

आवत हैं नित मेरे लिए,

इतनी तो विसषि के जानति ह्वै हैं।

ठाकुर नाम के दो कवि और हो गये हैं। दोनों की कविता की भाषा में भी बड़ा सहज और सहज प्रवाह है। तीनों की रचनाएं एक दूसरे से ऐसी मिली हैं कि यह कह सकना कठिन है ही है कि कौन सी रचना किस कवि की है। ठाकुर ठसक नामक संग्रह में भी यह मिश्रण हुआ है। ऐसा माना जा सकता है। परन्तु प्रसिद्धि बुन्देलखण्डी ठाकुर की ही अधिक है।

इस प्रकार श्रृंगारी कवियों में रीतिमुक्त भावधारा में अनेक कवि हुए हैं। अठारहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा की श्रृंगारी रचनाएं अपने चरम बिन्दु पर

गयीं। आगे चलकर यह सरसता ह्रास की ओर जाने लगी। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी तक काव्य में इस भाषा का एक छत्र राज्य था, पर उस समय उसकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती गयी।"[1]

<u>बोधाः</u> – **विरहवारीश** और **इश्कनामा** – बोधा की ये कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें पहली तो माधवानल – कामकन्दला की प्रसिद्ध प्रेमकथा पर लिखी गयी प्रबन्ध रचना है और दूसरी प्रेम पर लिखे मुक्तकों का संग्रह है। **विरहवारीश** में घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। सूफी कवि आलम की रचना से यह आकार में बड़ी है। लेकिन आलम की तरह प्रांजलता और प्रौढ़ता इसमें नहीं है। सम्भोग आदि के कुछ वर्णन अश्लील हो गये हैं। **इश्कनामा** अपेक्षाकृत सुथरी रचना है। इसमें प्रेम के निर्वाह – पक्ष पर सहज भाषा में बड़े प्रभावकारी भाव दिये गये हैं। प्रेम – पन्थ के विषय में बोधा का यह सवैया प्रसिद्ध है –

"अति छीन मृनाल के तारहुँ ते तेहि ऊपर पाँव दे आवनो है।
सुई बेहते द्वार सकीन वहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है।।
कवि बोधा अनी घनी नेजहू त चढ़ि तापे न चित्त उरावनो है।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवारि की धार पर धावनो है।।

बोधा कवि बेधड़क हो निःसंकोच बात कहते हैं। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। उन्होंने मनोवेगों को प्रायः प्राकृत रूप में व्यक्त किया है। उनमें परिष्कार और संयम का अभाव रहता है। इसीलिए कहीं – कहीं वे निर्भर्याद भी हो गये हैं। पर इस अनियन्त्रित भाव राशि में भी कवि की स्वच्छन्द प्रकृति का आभास स्पष्ट मिलता है। उनके भाव व्यक्तिगत हैं। कवि ने जैसा अनुभव किया है, वैसा ही कह दिया है। सँवारने – सजाने की चिन्ता इन्हें नहीं रहती। अकृत्रिमता बोधा की कविता की सर्वप्रमुख विशेषता है।

भाषा की स्वाभाविकता स्वच्छन्दमार्गी सभी कवियों की अपेक्षा बोधा में अधिक है। ठाकुर ने लोकोक्तियों द्वारा, घनानंद ने लक्षणाओं के बल से तथा आलम ने अलंकारों के प्रयोग से चमत्कार का आश्रयण किया है। केवल बोधा

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास पृ सं0 – 202

ही ऐसे हैं जो भाषा के स्वाभाविक रूप को लेकर चले हैं। उर्दू – फारसी के शब्द अवश्य कहीं – कहीं बीच में आ जाते हैं। फारसी के प्रभाव से ही भाव कहीं – कहीं अधिक खुले व बाजारु हो गये हैं, पर ऐसे स्थल कम हैं और वे कवि की स्वच्छन्दता के द्योतक हैं।

"कहिबे को बिथा सुनिबे को हँसी,
को दया सुनि कै उर आनतु है।
अरु पीर घटै तजि धीर सखि,
दु:ख को नहि का पै बखानतु है।
कवि बोधा कहे में संवाद कहा,
को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमें पूरी लगी कै अधूरी लगी,
यह जीव हमारोइ जानतु है।"[1]

<u>बेनी:</u> – असनी वाले बन्दीजन बेनी की कविताएं ऐसी हैं जिन्हें देखकर विद्वानों ने अनुमान किया है कि इन्होंने कोई रीतिग्रन्थ जरुर लिखा होगा। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "इनका जन्म गोसाईं जी की मृत्यु के कुछ उपरान्त हुआ होगा, अर्थात सत्रहवीं शती के अन्त्य भाग में इनका कविता – काल रहा होगा। अभी तक इनका लिखा कोई रीतिग्रन्थ मिला नहीं है। जब तक पुष्ट प्रमाण ऐसा न मिल जाय कि उनके नाम पर चलने वाले पद्य किसी नायिका भेद – ग्रन्थ के ही है तब तक मानना चाहिए कि इन्होंने रीतिबद्ध नहीं लिखी। इनकी कविताओं में घनानन्द और बोधा के समान स्वच्छन्द प्रेमधारा का आभास मिलता है:

"कवि बेनी नई उनई है घटा,
मोखा वन बोलत कूकन री।
छहरें विजुनी छितिमंडल छ्वै
लहरै मन मैन भभूकन री।
पहिरौ चुनरी चुनि कै दुलही
संग लाल के झूलिए झूकन री।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 202

रितु पावस यों ही बितावती हो
मरिहौ फिरि बावरी हूकन री।।[1]

<u>सेनापतिः</u> – प्रथम श्रेणी के कवियों की परम्परा बहुत पुरानी है। ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिनकी रचनाओं को देखकर अनुमान होता है कि उन्होंने किसी प्रकार का नायिका – भेद या नख शिख या ऋतुवर्णन – सम्बन्धी ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, पर ऐसा कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है "ये कवि विशुद्ध भारतीय परम्परा के कवि हैं। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही ऐसे कवियों का परिचय मिलने लगता है। अनूपशहर के प्रसिद्ध कवि सेनापति की रचनाएं सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ की ही हैं। इनकी कविताएं **कवित्त रत्नाकर** में संग्रहीत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कोई ऋतु वर्णन – सम्बन्धी काव्य इन्होंने लिखा था। इनकी भाषा बहुत ही परिमार्जित और प्रौढ़ है। सेनापति हिन्दी के चोटी के कवियों में गिने जाते हैं।"[2]

<u>द्विजदेवः</u> इस श्रेणी के सबसे अन्तिम और प्रसिद्ध कवि द्विजदेव {1823–72 ई0} है। ये अयोध्या के राजा थे। इनका वास्तविक नाम मानसिंह था। इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं – **शृंगार बतीसी** और **शृंगार लतिका**। इनकी रचनाएं बहुत लोकप्रिय हुईं। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवदी के मतानुसार – "भाषा का सहज प्रवाह और भावों का आकर्षक विन्यास इनकी कविता के प्रधान गुण हैं। इनकी रचनाओं में मतिराम के समान सहज भाषा और पद्माकर के समान परिचित वातावरण का का सन्निवेश है। इनके ऋतु वर्णन में इस काल के कवियों के समान उद्दीपन सामग्री की सूची कम प्रस्तुत की गयी है। और उद्दीपन भाव की व्यंजना अधिक है। उत्तर कालीन ब्रजभाषा कविता में किसी प्रकार रूपक बाँधकर ऋतु – विशेष को अप्रस्तुत वस्तु के प्रतिरूप बनाकर दिखाने की जो प्रथा चल पड़ी थी, उसका कोई आभास इनकी रचना में नहीं मिलता। जहाँ सामग्रियों की सूची है, वहाँ भी भावोद्दीपन की ओर लक्ष्य है:

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 198
2. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 199

जहाँ सहज–स्वच्छ भाषा में ऋतु–सौन्दर्य की उद्दीपन का प्रसंग है, वहाँ तो उद्दीप्त भाव ही पाठक को आकृष्ट करते हैं:

"न भयो कछु रोग को जोग दिखात
न भूत लगौ न बलाय लगी।
न कहूँ टोनो डिठोनो कियो
नहि काहू की कीनी उपाय लगी।
द्विजदेव जू नाहक ही सबके
हिये औषधि मूल की चाय लगी।
सखि बीस बिसे निसि याहू कहूँ
बन बौरे बसंत की नाय लगी।"[1]

<u>मुबारक:</u> – दूसरी श्रेणी के कवियों की परम्परा भी बहुत पुरानी है। सैयद मुबारिक अली बिलग्रामी **मुबारक** (जन्म 1583 ई0) फारसी और संस्कृत के बहुत अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाएं सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ की हैं। इनकी **अलकशतक** और **तिलशतक** नाम की दो रचनाएं है, जिनमें सुन्दरी स्त्री के अलक और तिल का वर्णन मिलता है। इनकी कई रचनाएं स्वच्छन्द प्रेम की ओर इंगित करती हैं। यद्यपि ये रचनाएं संस्कृत के **अलकशतक**, **रोमावली–शतक** आदि की भाँति है और हमने अन्यत्र इनकी गणना इस श्रेणी में की, परन्तु इनकी फुटकल कविताओं में ऐसे भाव हैं जो थोड़े नवीन से लगते हैं। उदाहरणार्थ,

हमको तुम एक अनेक तुम्हैं उनही के विवेक बनाए बहो।
इत आस तिहारी बिहारी उतैं सरसाय कै नेह सदा निबहो।
करनी है **मुबारक** सोई करो अनुराग लता जिन बोए दहो।
घनस्याम सुखी रहो आनंद सों तुम नीके रहो उनही के रहो।"[2]

<u>रसनिधि:</u> – दतिया के राजा पृथ्वीसिंह (मृत्यु 1660 ई0) **रसनिधि** नाम से कविता लिखा करते थे। ये फारसी के अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाओं में फारसी

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास पृ0 सं0 199
2. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास पृ0 सं0 201

प्रेम – व्यंजना का परिचय मिलता है। इनके सम्बन्ध में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है – " इनका **रतन हजारा** नामक दोहा ग्रन्थ **बिहारी सतसई** के अनुकरण पर बना है। बिहारी के भावों को तो कहीं – कहीं ज्यों का त्यों उठा लिया गया है – जैसे –

"कुहू निसा तिथिपत्र में बाचन को रहि जाय।
तुब मुख ससि की चाँदनी उदय करत है आई।।

यह बिहारी के इस दोहे की विशुद्ध छाया है:

पत्रा ही तिथि पाइयत, वा घर के चहुँ पास।
निसि दिन पूनो ही रहत, आनन ओप उजास।।"[1]

<u>वृन्द और बैताल:</u> – अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सुप्रसिद्ध नीतिकार कवि वृन्द हुए हैं जो कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह के गुरु थे। इनकी 'वृन्द सतसई' के दोहे उत्तर – मध्यकाल में बहुत सम्मान के साथ पढ़े – पढ़ाये जाते रहे हैं। **वृन्द सतसई** सम्भवतः 1704 ई0 में लिखी गयी थी। खोज में इनकी दो और पुस्तकों का पता चला है – 'श्रृंगार शिक्षा' और 'भाव पंचाशिका'। किन्तु इनकी प्रसिद्धि इनकी नीति विषयक पुस्तक से ही है। इनके सम – सामयिक एक ओर नीति – कवि का उत्तर – मध्यकालीन में बड़ा सम्मान रहा है। यह **बैताल** है। बैतान की रचनाओं में विक्रम को सम्बोधन पुराने विक्रमादित्य नामक राजा ओर इस बैताल की निन्धरी कथा को मन में रख कर किसी कवि ने लिखा है। बैताल उसका सचमुच का नाम नहीं था। दूसरे लोगों का कहना है कि यह बैताल नाम कवि है जो **चरखारी** के प्रसिद्ध रसिक विक्रमशाहि के दरबार में थे। जो हो **बैताल कहे विक्रम सुनो** वाली नीति विषयक कविताएं मध्ययुग में बहुत लोकप्रिय रही है, यह सत्य है।"[2]

<u>गिरधर कविराय:</u> – वृन्द और बैताल से भी अधिक लोकप्रिय नीतिकार गिरधर कविराय है, जिनकी कुण्डलियाँ, छन्द में लिखी कविता बहुत लोकप्रिय रही हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 201
2. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 204

कुछ कुण्डलियां साँई शब्द से आरम्भ होते हैं। कहते हैं कि ये गिरधर कविराय की पत्नी के लिखे हैं। जो हो गिरधर कविराय उत्तर – मध्यकाल के सद्गृहस्थों के सलाहकार रहे हैं और आज भी जनता उसी चाव से उनके उपदेशों को मानती है, जैसा अठारहवीं शताब्दी में मानती रही। वस्तुतः साधारण हिन्दी – भाषी जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे हैं – "तुलसीदास, गिरधर कविराय, और घाघ – तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरधर कविराय, व्यवहार के और नीति के क्षेत्र में, घाघ खेतीबारी के मामले में। दुर्भाग्यवश घाघ के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। गिरधर कविराय के बारे में भी नाममात्र की जानकारी है। साधारणतः अनुमान किया जाता है कि गिरधर कविराय भी अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ के ही कवि रहे होंगे।

नीति – विषयक साहित्य हिन्दी में प्रचुर लिखा गया है। सबके रचयिताओं का ठीक – ठीक पता नहीं चलता। यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक निर्बाध चलती रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के ही सम्मन, दीनदयाल गिरि आदि नीति कवि प्रसिद्ध हैं। दीनदयाल गिरि तो बहुत मेघावी कवि थे। उनकी प्रसिद्धि अन्योक्ति – कल्पतद्रुम के कारण है, लेकिन उनकी अन्य रचनाएं भी कम नहीं हैं। 'अनुराग बाग', 'वैराग्य दिनेश' 'विश्वनायनवरत्न' और 'दृष्टान्त तरंगिणी' उनकी पुस्तकों के नाम हैं।"[1]

<u>लालकवि</u> :– समसामयिक राजा की कीर्तिकथा को आश्रय करके लिखे जाने वाले काव्यों में लाल कवि (गोरेलाल) के नाम का छत्र प्रकाश विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। पुराने ऐतिहासिक काव्यों की भाँति यह तथ्य और कल्पना का बेमेल गड्डमड्ड नहीं है। "लालकवि ने महाराज छत्रसाल का पूरा जीवन दिया है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का ब्यौरा ठीक है: और प्रबन्ध काव्य के सुकुमार स्थलों का पहचानने की भी क्षमता है। इनका एक और ग्रन्थ विष्णुविलास बताया जाता है जो बरवै छन्द में नायिका भेद पर है।"[2]

<u>जोधराज:</u> – "इसी प्रकार अलवर के नींवगढ़ के जोधराज ने भी महाराणा हम्मीर के चरित को आश्रय करके एक वीर – काव्य लिखा था। इसका रचनाकाल 1818 ई0 है। इस काव्य में भी ऐतिहासिकता का निर्वाह किया गया है।

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 205

कुछ कुण्डलियां साँई शब्द से आरम्भ होते हैं। कहते हैं कि ये गिरधर कविराय की पत्नी के लिखे हैं। जो हो गिरधर कविराय उत्तर – मध्यकाल के सद्गृहस्थों के सलाहकार रहे हैं और आज भी जनता उसी चाव से उनके उपदेशों को मानती है, जैसा अठारहवीं शताब्दी में मानती रही। वस्तुतः साधारण हिन्दी – भाषी जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे हैं – "तुलसीदास, गिरधर कविराय, और घाघ – तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरधर कविराय, व्यवहार के और नीति के क्षेत्र में, घाघ खेतीबारी के मामले में। दुर्भाग्यवश घाघ के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। गिरधर कविराय के बारे में भी नाममात्र की जानकारी है। साधारणतः अनुमान किया जाता है कि गिरधर कविराय भी अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ के ही कवि रहे होंगे।

नीति – विषयक साहित्य हिन्दी में प्रचुर लिखा गया है। सबके रचयिताओं का ठीक – ठीक पता नहीं चलता। यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक निर्बाध चलती रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के ही सम्मन, दीनदयाल गिरि आदि नीति कवि प्रसिद्ध हैं। दीनदयाल गिरि तो बहुत मेधावी कवि थे। उनकी प्रसिद्धि **अन्योक्ति – कल्पतद्रुम** के कारण है, लेकिन उनकी अन्य रचनाएं भी कम नहीं हैं। 'अनुराग बाग', 'वैराग्य दिनेश' 'विश्वनाथनवरत्न' और 'दृष्टान्त तरंगिणी' उनकी पुस्तकों के नाम हैं।"[1]

<u>लालकवि</u> :– समसामयिक राजा की कीर्तिकथा को आश्रय करके लिखे जाने वाले काव्यों में लाल कवि (गोरेलाल) के नाम का **छत्र प्रकाश** विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। पुराने ऐतिहासिक काव्यों की भाँति यह तथ्य और कल्पना का बेमेल गड्डमड्ड नहीं है। "लालकवि ने महाराज छत्रसाल का पूरा जीवन दिया है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का ब्यौरा ठीक है और प्रबन्ध काव्य के सुकुमार स्थलों का पहचानने की भी क्षमता है। इनका एक और ग्रन्थ **विष्णुविलास** बताया जाता है जो बरवै छन्द में नायिका भेद पर है।"[2]

<u>जोधराज:</u> – "इसी प्रकार अलवर के नींवगढ़ के जोधराज ने भी महाराणा हम्मीर के चरित को आश्रय करके एक वीर – काव्य लिखा था। इसका रचनाकाल 1818 ई0 है। इस काव्य में भी ऐतिहासिकता का निर्वाह किया गया है।

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 205

भाषा चारणों की वीररस की शैली की है, जिसमें प्राचीनता ले आने का बराबर प्रयास किया जाता है।"[1]

<u>सूदन:</u> – मथुरा के माथुर चौबे सूदन कवि ने भी भरतपुर के प्रसिद्ध वीर सुजान सिंह सचमुच ही वीर थे। उनके चरित को आश्रय करके लिखने वाले सूदन में भी वीरचरित का सम्मान करने की शक्ति थी। अनुमानतः इनका कविता – काल अठारहवीं शताब्दी का अन्त्य भाग है। चन्द्र के **पृथ्वीराजरासो** में जिस प्रकार घोड़ो और अस्त्रों आदि को उबा देने वाली सूची मिलती है, उसी प्रकार सूदन के **सुजानचरित** में भी है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनके बारे में लिखा है – "काव्य रूढ़ियों का इसमें जमके सहारा लिया गया है, यद्यपि कथानक रूढ़ियों की वैसी भरमार नहीं है जैसी रासो में है। शब्दों को तोड़ – मरोड़ कर युद्ध के अनुकूल ध्वनि प्रसू वातावरण उत्पन्न करने में सूदन बहुत दक्ष हैं, पर उससे भाषा के प्रति न्याय नहीं हो सका है।"[2]

<u>गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव:</u> – अठारहवीं शताब्दी के अन्त्य भाग में काशी के महाराजा उदितनारायण सिंह की आज्ञा से तीन कवियों (गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव) ने समग्र महाभारत (हरिवंश सहित) का भाषान्त बड़ी ललित भाषा में किया। ग्रन्थ की समाप्ति में लगभग 50 वर्ष लग गये। यह काव्य साहित्य दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसके पूर्व ही सबल सिंह चौहान (1740 ई0) ने एक महाभारत – कथा लिखी थी जो लोकप्रिय रचना हुई, परन्तु उसमें न तो महाभारत की कथा का आकलन है, न वह क्रमबद्ध ही है, और साहित्यिकता तो नाममात्र की ही है। भाषा की सरलता और उपस्थापन की सहज भंगिमा के कारण ही वह पुस्तक अधिक लोकप्रिय बन गयी, पर काशी के तीन कवियों का महाभारत लोकप्रिय न होने पर भी उत्तम रचना है।"[3]

<u>महाराज विश्वनाथ सिंह:</u> – इस काल में कई प्रतिभासम्पन्न कवियों ने साहित्य के विभिन्न अंगो पर ग्रन्थ लिखे। रींवा नरेश विश्वनाथसिंह जू (राज्यकाल 1813

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास – पृ0 सं0 206
2. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 206
3. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – पृ0 सं0 206

–54 ई0) यद्यपि बीजक की टीका में इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य और विद्याव्यसन का बड़ा उत्तम परिचय मिलता है तथापि वह ग्रन्थ इनकी प्रतिभा के केवल एक ही अंश का परिचायक है। इनकी लिखी पुस्तकें अनेक हैं। कुछ के नाम इस प्रकार हैं – 'अष्टयाम आह्निक', 'आनन्द रघुनंदन', (नाटक), 'उत्तम काव्य प्रकाश', 'गीता रघुनंदन शतिका', 'बीजक की टीका', 'विनयपत्रिका की टीका', 'वेदान्त पंचक शतिका', उत्तम नीति चन्द्रिका', 'परमतत्त्व, 'संगीत रघुनंनदन', 'भजन शान्ति शतक' आदि। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "ये सगुण राम के उपासक थे परन्तु कुल – परम्परा से कबीर के शिष्य धर्मदास की गद्दी का भी सम्मान करते थे। बीजक की टीका में इन्होंने सिद्ध किया है कि कबीर के प्रतिपाद्य राम वस्तुतः साकेतवासी द्विभुज राम हैं जो निर्गुण सगुण से अतीत है। कबीर पन्थी लोग इस टीका को कबीर सम्मत नहीं मानते, परन्तु इसमें इनका पाण्डित्य तो प्रकट हुआ ही है। इनका 'आनन्द रघनन्दन', बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसे हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। इनके पुत्र रघुनाथ सिंह भी बहुत उच्चकोटि के कवि और साहित्य प्रेमी थे। इन दोनों पिता – पुत्रों ने अनेक कवियों को आश्रय और मान दिया था।"[1]

इन कवियों के अतिरिक्त डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने चरखारी के राजा विक्रमसाहि तथा मान कवि की चर्चा की है। उनका विचार है कि, "चरखारी के राजा विक्रमसाहि भी अच्छे विद्यानुरागी और आश्रयदाता थे। इनके यहाँ मान कवि नामक बन्दीजन थे, जो बहुत अच्छे कवि थे। मान कवि की लिखी पुस्तकों के नाम हैं – अमर प्रकाश, अष्टयाम, लक्ष्मण शतक, हनुमान नख शिख, हनुमान पंचक, हनुमान पचीसी, नीति विधान। झाँसी के नवल सिंह भी अच्छे कवि थे, जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में वर्तमान थे।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 207
2. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 207

रीतिकाल पर आरोप तथा उनके पुनर्मूल्यांकन

रीति काव्य पर सबसे बड़ा आरोप है कि इस काल की कविता परान्तः सुखाय और उसमें घोर अश्लीलता है, इसमें काम शास्त्र के आधार पर रति, विपरीत रति, नग्न एवं प्रत्यक्ष वर्णन है। वास्तव में यह विलासिता का साहित्य है, श्रृंगार का स्थूल चित्रण है। रीतिकाल के साहित्य में सामाजिक आदर्श और प्रेरणा प्रदान करने का शक्ति नहीं है।

कुछ आलोचकों ने रीति काव्य को चमत्कार काव्य भी कहा है, क्योंकि इस काल के कवि पाण्डित्य प्रदर्शन में लगे रहे, आश्रयदाता राजा के मनोरंजनार्थ चमत्कारी उक्तियाँ कहते रहे। इसमें लोक जीवन का नितान्त अभाव था। आचार्य शुक्ल ने इसे तो काव्यशास्त्र की दृष्टि से अवैज्ञानिक, अपूर्ण और असन्तुलित कहा है। वे मानते हैं कि इसमें व्याकरणों के नियमों की अवहेलना हुई है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण काल कहा है, और इन आरोपों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष खण्डन भी किया है।

यदि रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भक्तिकाल की रचना स्वान्तः सुखाय थी तो रीतिकाल की परान्तः सुखाय लेकिन इस काल में घनानन्द, बोधा, आलम ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि हुए हैं, जिनमें प्रेम की उदात्य एवं गहन अनुभूतियों का चित्रण मिलता है। डॉ० हजारी प्रसाद लिखते हैं कि उस युग की माँग भी बहुत गम्भीर नहीं थी। आश्रयदाता रईस लोग जिस श्रेणी की रचना से सन्तुष्ट होते थे. उस श्रेणी की रचना में जितनी गहराई आ सकती थी, उतनी इस साहित्य में आयी। इससे अधिक की न तो कभी किसे ने माँग की, न उसका प्रयत्न ही हुआ। अपने सीमित क्षेत्र में यह कविता बहुत ही प्रभावशाली है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर क्षेत्रों के बाहर जाने का न तो उसमें संकल्प है न प्रयत्न।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास पृ0 सं0 176

जिन विद्वानों ने रीतिकाल पर श्रृंगारिकता पर आरोप लगाया है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवदी का विचार है कि इस श्रृंगार के साथ ही साथ भक्ति, रीति, नीति, का सुन्दर समन्वय हुआ है। "श्रृंगार के आश्रय भी उस युग के धर्म और अध्याय के आश्रय की भाँति श्री कृष्ण ही हैं।"[1]

रीतिकाल में सामाजिक आदर्श और प्रेरणा का अभाव नहीं, भूषण ने रुग्ण समाज को चेतना प्रदान की थी। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि रुग्ण मनोभाव का काल कहा है, "मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा – विकीर्ण विलासिता छोटे – छोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्तगत संकीर्णता के साथ सम्बद्ध हो गयी। इसलिए इस काल की श्रृंगार – भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।"[2]

दरबारी कवियों ने काव्य को जीविका के साधन के रूप में अपनाया, अतः उनमें चमत्कार – प्रदर्शन की भावना का होना सहज स्वाभाविक है। डॉ0 द्विवेदी लिखते हैं – कलात्मक उत्कर्ष एवं प्रौढ़ता की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य अत्यन्त सशक्त एवं प्रौढ़ है।

डॉ0 द्विवेदी ने रीतिकाल पर मौलिकता का अभाव – इस तरह का आरोप लगाया है, "शुरु – शुरु में हिन्दी समालोचकों का विश्वास था कि रीतिकाल के कुछ कवियों में मौलिक उद्भावनाएं हैं, किन्तु रीतिशास्त्र के नये पण्डितों ने बताया है – केशव की तयाकथित मौलिक उद्भावनाएं वस्तुतः दण्डी के काव्यादर्श से ली गयी है। भूषण ने भाविक छवि नामक एक नये से लगने वाले अलंकार की चर्चा अवश्य की है, पर वह भाविक का ही प्रवर्द्धित रूप है, इसी प्रकार देव के काव्य – विवेचन में जिस प्रकार स्वतंत्र चिन्तन और मौलिक उद्भावना की कल्पना की गयी थी, वह सब निराधार सिद्ध हुई है, वे भानुदत्त की, रसमंजरी के ऋणी हैं।"[3]

वास्तव में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित रीतिकाल का

---

2. डॉ0 हजारी प्रसाद ग्रन्थावली – भाग – 3 पृ0 सं0 419
1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास पृ0 सं0 175
3. डॉ0 हजारी प्रसाद ग्रन्थावली – भाग – 3 पृ0 सं0 423

गहन विवेचन किया जाय तो कहीं आरोप लगाते हैं, कहीं स्वयं उसका खण्डन करते हैं, "इन ग्रन्थों से काव्य के जिस स्वरूप का आभास मिलता है, वह मानवीय आदर्शों से वंचित और अस्पृष्ट हैं, इसमें कहीं – कहीं सरस कवित्त मिलते अवश्य है, परन्तु लक्ष्य बराबर उक्ति – चमत्कार का स्पष्टीकरण होता है और गद्य की तर्क पूर्ण और व्यवस्थित शैली के अभाव में यह स्पष्टीकरण भी धुंधला हो गया है xxx वास्तव में रीतिकाव्य जितना तत्कालीन समाज के क्लान्त चित्त के विश्राम और विनोदन की व्यवस्था, उतना परिष्करण और नियोजन की नहीं। भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ।"[1]

एक जगह डॉ० द्विवेदी लिखते हैं, "यद्यपि रीतिकाल के श्रृंगारी कवि का प्रधान आकर्षण नारी का मादक रूप ही है, तथापि इस साहित्य में चित्रित नारी अपनी महिमा से महीमयी नहीं बन पायी है। वस्तुतः उसके चित्त में रईसी की धाक है। नायिकाओं के चित्र को मादक बनाने के लिए उसने आडम्बरपूर्ण वातावरण और महार्घ वेशभूषा का सहारा लिया है। xxx रीतिकाल का कवि अपनी नायिकाओं को गरीबी के वातावरण में नहीं देख सकता। बिहारी से लेकर ग्वाल और पजनेस तक सभी कवियों के चित्त में नायिका की ऐसी ही ऐश्वर्य दीप्त शोभा का मान था। जिनमें कटाक्ष – विक्षेप की क्षमता न हो, ऐसी गोबर पाथती हुई, खेत निराती हुई, गृहकर्म में उलझी हुई स्त्रियाँ उनके काव्य का विषय नहीं हो सकती थीं, क्योंकि उनमें वक्तव्य को मादक बनाने की क्षमता नहीं थी।"[2]

रीतिकाल का मूल्यांकन करते हुए डॉ0 द्विवेदी लिखते हैं, "जीवन के सामने कोई और नया आदर्श नहीं रह गया था। कविता प्रायः पिटे – पिटाये रास्ते से चल रही थी। सब ओर से अपने को समेट कर बँधे मार्ग से चलते रहने की प्रवृत्ति ने ब्रजभाषा कविता को माधुर्य और सौकुमार्य तो दिया, परन्तु तेज और तारुण्यदीप्ति उसमें नहीं रह गयी। अठारहवीं शताब्दी के बाद की कविता में माधुर्य और सौकुमार्य भी क्रमशः क्षीण होने लगा।[3]

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद ग्रन्थावली – भाग – 3 पृ0 सं0 425
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थवावली – भाग – 3 पृ0 सं0 443
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रन्थावली – भाग – 3 पृ0 सं0 453

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी रीतिकाल के साहित्य को अमूल्य धरोहर मानते हैं वे स्वीकर करते हैं कि नायिका भेद लिखने वाले प्रथम कवि नन्ददास हैं, जिनका प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ा। "हिन्दी में भक्त कवियों में नन्ददास प्रथम कवि है, जिन्होंने स्पष्ट रूप से नायिका – भेद पर पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम **रसमंजरी**। xxx केवल हिन्दी की कविता को ही इस पुस्तक ने प्रभावित नहीं किया है, दक्षिण के काव्य – शास्त्र को भी इसने प्रभावित किया है।"[1] कहना नहीं होगा कि ऐतिहासिक दर्शन की दृष्टि से आचार्य हजारी हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल का मूल्यांकन करते हुए उसमें निहित प्रेरणा स्रोतों की विस्तृत समीक्षा की, क्योकि उनकी उपपत्ति यह है कि कवि, चित्रकार, कलाकार भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोदन पर निर्भर रहता था, इस हेतु इन कवियों ने नाना प्रकार की प्रेम क्रीड़ाओं को बताने वाले काम – शास्त्र, उक्ति वैचित्र्य का विवचन करने वाले अलंकार शास्त्र और नायक – नायिकाओं के विभिन्न भेदों और स्वभावों का विवेचन करने वाले रस शास्त्रों का आश्रय लिया है, साथ ही इस शृंगारिकता के मूल में अनस्यूत पारलौकिकता भक्ति, वैराग्य या आध्यात्म की जो सर्वत्र चर्चा हुई है, नारी को काम केलि पुत्तलिका बनाने की प्रशत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लषण करते हुए वे लिखते हैं कि इनके मूल में अतिशय विलासिता से उत्पन्न मानसिक थकान के पिण्ड छुड़ाने का बहाना मात्र है वे लिखते हैं कि ये स्वर मस्ती के न होकर लक्षणानुधावन मात्र हें, "इस प्रकार की ऐहिकता – आमुष्मिकता का एक साथ जोड़ देने की प्रवृत्ति इस साहित्य में पायी जाती है। परन्तु इस युग की रसिकता का मेरुदण्ड औदार्य और मस्ती उतना नहीं था, जितना एक प्रकार की मानसिक थकान से पिण्ड छुड़ाने का बहाना। यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संघटन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथा सम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है – देव ने कहा है –

"कौन गने पुर वन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कों चित्त हरै करि प्रीति।।"[2]

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 172

अध्याय – 7

आधुनिक काल एवं आचार्य द्विवेदी

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ संवत् 1925 (हरिश्चन्द्र जी के रचनाकाल) से मानना उचित है। किसी युग के साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का उद्भव चमत्कारिक घटनाओं के रूप में एकाएक नहीं हुआ करता, अपितु उसका बीज उसके वातावरण में बहुत गहरा जमा होता है ओर उपयुक्त परिस्थितियों से पोषण पाकर अंकुरित एवं पल्लवित हो जाता है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नव युग की चेतना का विकास बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। इसका बीज इसी युग की राजनीतिक चेतना, सामाजिक अवस्था, धार्मिक परिस्थितियों एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि में मिलता है।"[1]

आधुनिकता का अर्थ – साहित्य में आधुनिकता की आरम्भिक सीमा का निश्चय करना कठिन होता है। विचारों के क्षेत्र में बहुत सी बातें पहले से ही संचित होती रहती हैं और उनका साहित्य – रूप में प्रकाशन देर से होता है। भारतवर्ष में अंग्रेजों के साथ सम्पर्क तो बहुत पहले से स्थापित हो चुका था किन्तु साहित्य पर इस सम्पर्क का प्रभाव बहुत बाद में पड़ा। वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं; यातायात के समुन्नत साधन। पुराने साहित्य से नये साहित्य का प्रधान अन्तर यह है कि पुराने साहित्यकार की पुस्तकें प्रचारित होने का अवसर कम पातीं थीं। राजाओं की कृपा, विद्वानों की गुण ग्राहिता, विद्यार्थियों के अध्ययन में उपयोगिता इत्यादि अनेक बातें उनके प्रचार की सफलता का निर्धारण करती थीं। प्रेस हो जाने के बाद पुस्तकों के प्रचारित होने का कार्य सहज हो गया, और फिर प्रेस के पहले गद्य की बहुत उपयोगिता नहीं थी। प्रेस हो जाने के बाद उसकी उपयोगिता बढ़ गयी और विविध विषयों की जानकारी देने वाली पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातान्त्रिक रूप दिया। समाचार पत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबन्ध और

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ0 सं0 369

कहानियाँ सब प्रेस का प्रचार होने के बाद ही लिखी जाने लगीं। अब साहित्य के केन्द्र में कोई राजा या रईस नहीं रहा, बल्कि अपने घरों में बैठी हुई असंख्य अज्ञात जनता आ गई। इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार में उसकी अभिवृद्धि में, और उसकी नयी – नयी शाखाओं के उत्पन्न करने में सहायता ही नहीं दी बल्कि उसकी दृष्टि से समूल परिवर्तन में भी योग दिया।[1]

आधुनिका काल की परिस्थितियाँ – साहित्य पर उसका प्रभाव

(क) **राजनीतिक परिस्थितियाँ** :– सन् 1757 के प्लासी युद्ध में अंग्रेजों की नींव भारत में दृढ़ कर दी और धीरे – धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन सारे भारत में फैल गया। ज्यों – ज्यों कम्पनी का प्रभुत्व बढ़ा त्यों – त्यों उसके अधिकारियों के अत्याचार भी बढ़े। इससे देश की जनता में बड़ा असन्तोष छा गया। इसके साथ ही कम्पनी के अधिकारियों ने देशी राज्यों को मिलाने में अनेक साधन निकाले जिसमें "लैप्स की नीति" बड़ी कुटिल सिद्ध हुई। सन् 1854 में झाँसी को "लैप्स की नीति" के द्वारा कम्पनी ने अपने शासन में ले लिया। देश में प्रजा और देशी राजा दोनों ही कम्पनी के अत्याचार पूर्ण शासक से घबराये हुए थे। इसी बीच में "नये कारतूसों" ने आकर कम्पनी की सेना में भर्ती भारतीय सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को बड़ी ठेस पहुँचाई और सन् 1857 में भारतीयों ने अंग्रेजों के विरुद्ध प्रथम स्वतंत्रता युद्ध छेड़ा। एक वर्ष भी पूरा नहीं बीत पाया और दासता के प्रति किया गया विद्रोह दबा दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त करके ब्रिटेन की सरकार ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की जिसमें भारतवासियों को बड़े मधुर आश्वासन दिये गये। भारतियों में एक नवीन चेतना और आशा की लहर दौड़ गयी। कम्पनी के अत्याचार पूर्ण शासन और डलहौजी की नीति देखते हुए विक्टोरिया का शासन भारत की जनता के लिए सन्तोष का विषय था इसलिए विक्टोरिया के मरने पर भारतवासियों ने बहुत दुःख माना। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण

---

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० सं० 208 (हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास)

में देश की जनता में अंग्रेजी राज्य के प्रति राजभक्ति दिखाने और उसके सुधार की प्रार्थना करने की प्रवृत्ति थी, पर अंग्रेजी शासन में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा और उसकी अत्याचार पूर्ण नीति में यन्त्रों के विकास के साथ ही आर्थिक शोषण और टैक्सों का एक नया अध्याय और जुड़ गया। धीरे – धीरे देश की जनता को यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया कि प्रार्थनाओं का परिणाम कुछ भी नहीं होगा। इधर इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने भारतीयों की राजनीतिक चेतना को और अधिक विकसित किया। कांग्रेस की स्थाना से जनता के सामने कुछ निश्चित राजनीतिक सिद्धांत उपस्थित हुए।[1]

(ख) <u>अंग्रेजों की अप्रत्यक्ष सहायता</u>:– इस समय तक देश में साहित्य को राजा और रईसों की पृष्ठपोषकता प्राप्त हो रही थी। रीतिकाल में हिन्दू और मुसलमान राजे और रईस बराबर कवियों को आश्रय, सम्मान और प्रोत्साहन देते रहे। परन्तु अंग्रेज इस देश में सम्पूर्ण रूप से नये और अपरिचित थे। इस देश की अधिकाँश जनता हिन्दू थी जो उन दिनों छूत – छात के वर्जनशील धर्म को मान रही थी । यह धार्मिक मनोभाव अंग्रेजों जैसी कुछ न मानने वाली जाति के साथ सम्पर्क – स्थापन में सहायक नहीं था। वस्तुतः हिन्दुओं के साथ अंग्रेजों का सम्बन्ध कभी भी बहुत घनिष्ठ नहीं हो सका। अंग्रेजों ने तात्कालीन साहित्य को कोई प्रोत्साहन भी नहीं दिया। जिस प्रकार उन दिनों के हिन्दू और मुसलमान रईस, नवाब, राजे और बादशाह हिन्दू कवियों को प्रोत्साहन दे रहे थे, उस प्रकार किसी बड़े अंग्रेज पदाधिकारी ने नहीं दिया। सन् 1835 में कवि घासीराम ने बड़े दुःख के साथ कहा था **छाड़ कै फिरंगन को राज, लै सुधर्म काज, जहाँ होत पुन्य आज चलो वही देस कों।**[2]

(ग) <u>स्वतन्त्रता की प्राप्ति</u> :– राजनीतिक चेतना का चौथा युग द्वितीय महायुद्ध से प्रारम्भ होता है। इस युग में स्वतन्त्रता – संग्राम बड़े उत्साह

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ0 सं0 370
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 209

से चल रहा था और भारतीयों का पक्ष विश्व के अन्य राष्ट्र भी लेने लगे थे। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध की बाद धीरे – धीरे पूर्ण स्वतन्त्रता मिलने की आशा हो रही थी। परन्तु उसके साथ ही साथ पूँजीवाद बढ़ रहा था और इससे जनता में बड़ा असन्तोष छाया था। इस युग में स्वतन्त्रता आन्दोलन का स्वरूप प्रथम युद्ध के समय से बहुत बदल गया था। साथ ही राजनैतिक परिस्थितियों में भी बहुत परिवर्तन हो चुका था। अब स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हिन्दू और मुसलमानों को आपस में समझौता करना था। इसी समय (सन् 1944) में ब्रिटेन में उदार दल की सरकार बनी जिसकी भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ पूर्ण सहानुभूति थी। धीरे – धीरे भौतिकता के विकास के साथ ही देश के जीवन में बड़ी शुष्कता आ गई थी। इस युग की राजनीतिक चेतना की एक बहुत महत्वपर्णू बात समाजवादी विचारधारा का विकास है। पूँजीवाद के बढ़ने से वर्ग – संघर्ष बढ़ रहा था।[1]

(घ) <u>सामाजिक परिस्थितियाँ</u> :– भारत में अंग्रजी शासन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारत के सामाजिक जीवन में आधुनिक काल में जो चेतना आई उसका कारण आंग्ल भारतीय सम्पर्क है। सामाजिक क्षेत्र की परम्पराओं एवं रूढ़ियों पर आंग्ल सम्पर्क ने आघात किया जो भारतीय दृष्टिकोण में परिवर्तन करने में सहायक हुआ। मध्यकालीन हिन्दू – धर्म का कट्टरपन अब दूर होने लगा। वैसे भी मुगलों के पतन के साथ ही हिन्दू धर्म की स्थिति दृढ़ और सुरक्षित हो गयी थी। ऐसे ही समय में आर्य समाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानन्द का आविर्भाव हुआ और उन्होंने हिन्दू धर्म की अनुदारता कट्टरपन को दूर करने के लिए एक बड़ी क्रान्ति उपस्थित की। आर्य समाज के अन्दोलन में हिन्दू समाज को जाग्रत किया। सचमुच यदि आर्य समाज के द्वारा क्रान्ति न उपस्थित की गयी होती तो हिन्दू समाज बहुत पिछड़ जाता और निश्चय ही दुर्बल हो जाता। कारण स्पष्ट ही पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण, विदेशी सरकार की कृपा प्राप्त

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ0 सं0 372

करने के लिए ईसाई – धर्म अपनाया था। इस प्रकार आर्य समाज ईसाई धर्म के आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया। पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव बंगाल से होता हुआ सारे देश से सामाजिक जीवन पर छा रहा था। अंग्रेजी शिक्षा इस प्रकार के विकास में विशेष सहयोगी थी। इस प्रकार प्राचीन वैदिक प्रेरणा को लेकर स्वामी दयानन्द ने सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की। सामाजिक रूढ़ियों का तिरस्कार होने से जीवन के मूल्य बदले। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रथम उत्थान (भारतेन्दु युग) में सामाजिक द्वन्द्व का स्वरूप व्यक्त हुआ। एक ओर विधवा – विवाह के पक्षपाती थे तो दूसरी ओर इसे अनहोनी कहने वाले भी मौजूद थे। इसी प्रकार एक ओर जाँति – पाँति के विरोधी थे तो दूसरी ओर इसे 'जगतविदित फुलवारी' को निर्मूल करना मानने वाले पक्षपाती – इन दोनों धाराओं के बीच एक धारा उन विचारों की थी जो प्रत्येक कल्याणकारी सामाजिक आन्दोलन की दाद देने को तत्पर रहते थे। तत्कालीन सामाजिक दोषों; जैसे – धार्मिक विवाद, बाल विवाह, विधवा विवाह, जाति भेद अंधविश्वास, समुद्र यात्रा निषेध, स्त्री–शिक्षा–निषेध जाति बहिष्कार इत्यादि के प्रति इनकी आँखे खुली रहती थीं और वे इन समस्याओं को सुलझने के लिए पुष्ट सुझाव प्रस्तुत करते रहते थे।[1]

<u>मानवतावादी दृष्टि</u> :– उन्नीसवीं शताब्दी में योरोप में प्रबल ज्ञान – पिपासा जाग्रत हुई थी। उन दिनों मनीषियों में दो बातों के बारे में विशेष मतभेद नहीं था: 1. प्रथम तो यह कि इस संसार में सब कुछ क्रमशः विकसित होता आ रहा है जो कुछ भी जैसा है वैसा ही बन के नहीं आया था। मनुष्य का मन, बुद्धि, संस्कार, धर्म, मत सब कुछ क्रमशः विकसित हुए हैं। उसके धार्मिक विश्वास का भी विकास क्रमशः ही हुआ है। सृष्टि – परम्परा में मनुष्य का भी विकास अद्भुत बात है। वह इस सृष्टि प्रक्रिया की सबसे उत्तम, सबसे सुकुमार अतएव सबसे अधिक आदरास्पद और महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इसी विचार

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ0 सं0 – 373

इसी विचार–पद्धति को किसी – किसी ने ऐतिहासिक दृष्टि नाम दिया है। आज के सभी शास्त्रों के विचारक उसकी विकास – परम्परा को इसी क्रमशः विकसित होने वाली सृष्टि–प्रक्रिया का फल मानते हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि आज के शिक्षित व्यक्ति की निजी दृष्टि हो गयी है। 2. दूसरा प्रधान विश्वास यह था कि मनुष्य को सुखी बनाना, उसे सब प्रकार की आर्थिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग – शोक के चंगुल से छुड़ाना ही सब प्रकार के शास्त्रों और विधाओं का प्रधान लक्ष्य है।[1]

राष्ट्रीयता वादी दृष्टि :– यूरोप में भी मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने की दृष्टि ने स्वदेशी राष्ट्रीयतावाद के आन्दोलन को बल दिया। व्यवहार में उसे अपने देश के मनुष्यों तक ही संकुचित बनना पड़ा और मशीनों के नवीन साधनों से सम्पन्न व्यवसायियों के लिए अपनी सम्पत्ति बढ़ाने और दूसरे देशों का शोषण करने का अस्त्र सिद्ध हुआ। इस देश में समस्या दूसरी थी। यहाँ राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था, परन्तु वह शोषण से मुक्ति पाने का प्रयासी था। इसलिए शुरू – शुरू में मानवतावादी दृष्टि के साथ राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। परन्तु साहित्य क्षेत्र में मूल चालक मनोवृत्ति ही थी।[2]

गद्य का प्रादुर्भाव

1. **गोरखपंथी गद्य** : हिन्दी पुस्तकों की खोज में चौदहवीं शताब्दी का कहा जानेवाली एक गोरखपन्थी गद्यग्रन्थ मिला है, जिसे विद्वानों ने चौदहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का नमूना माना है। परन्तु उसकी भाषा को देखकर इधर सन्देह प्रकट किया जाने लगा है कि वह सचमुच ही इतना पुराना है या नहीं। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि यह बहुत बाद का लिखा हुआ है। इस पुस्तक की भाषा में 'पूछिवा' 'कहिवा' जैसे प्रयोगों को देखकर स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने अनुमान किया था कि इसका लेखक राजस्थान

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ० स0 247
2. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास – हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ0 248

का निवासी रहा होगा, और इन्हीं प्रयोगों को देखकर कुछ बंगाली विद्वानों ने अनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बंगाल की भाषा का प्रभाव पड़ा है. यह अद्भुत विरोध है। परन्तु इस बात में सन्देह करने की गुंजाइश नहीं कि नाथपन्थी साधकों की भाषा में अनेक स्थानों की भाषा के चिन्ह है।

(2) <u>वैष्णव गद्य का साहित्य</u> : महाप्रभु बल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ की ब्रजभाषा की एक पुस्तक प्राप्त हुयी जिसका नाम है **श्रृंगार रस मण्डन** इसकी भाषा बहुत व्यवस्थित नहीं कही जा सकती। फिर इसी सम्प्रदाय के भक्तों ने कई वार्त्तायें ब्रजभाषा गद्य में लिखी है, जो ब्रजभाषा गद्य के बहुत उत्तम नमूने हैं। इनमें **चौरासी वैष्णवन** की **वार्ता** और **दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता** है। दोनों ही के लेखक गोकुल दास बताये जाते हैं परन्तु यह बात संदेहास्पद लगती है, क्योंकि **दो सौ बावन वेष्णवन की वार्ता** में गोकुल दास का नाम आदर और भक्ति के साथ लिया गया है। जो हो इन पुस्तकों की भाषा काफी व्यवस्थित है और यद्यपि इनमें लम्बे ओर जटिल वाक्य – गठन का प्रयत्न नहीं है तथापि इनसे प्रतिपाद्य विषय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है। छोटे – छोटे वाक्यों से चरित – नायकों का चरित्र ऐसी स्पष्टता से चित्रित हुआ था मानो किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और बहुत मामूली रंगो के सहारे चित्रों को सजीव बना दिया हो।[1]

3. <u>ब्रजभाषा की टीकाओं का गद्य:</u> परवर्ती काल में ब्रजभाषा के गद्य में साधारणतः दो प्रकार की पुस्तकें लिखी गयीं – कुछ साहित्यिक ग्रन्थ की टीकाएं और कुछ स्वतंत्र ग्रन्थ। टीकाओं में हरिचरन दास की लिखी हुयी **बिहारी सतसई की टीका** (1777 ई0) तथा **कवि प्रिया की टीका** (1778 ई0) डाकौर के दयादास की लिखी हुयी 'गोस्वामी हित हरिवंश के चौरासी पदों पर स्फुट – पद टीका' (अठ्ठारहवीं शती का अंत) रामसनेही पंथ के संथापक स्वामी रामचरन के शिष्य रामजन की लिखी हुई, **दृष्टान्त – सागर की टीका** और **टीका – संयुगति रचनिका**

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 210

(1782 ई0) अयोध्या के महंत बाबा रामचरण की **रामचरित मानस की टीका** (1784 – 87 ई0) रतन दास की नागरी दास के अष्टक पर लिखी हुयी **अष्टक की टीका** असनी के दूसरे ठाकुर की लिखी हुयी बिहारी – सतसई की **देवकी नन्दन** नाम की टीका (1840 ई0) जानकी प्रसाद की 'रामचन्द्रिका की टीका' (1815 ई0) लक्षिमन राव की लिखी हुई केशवदास की कविप्रिया पर 'लक्षिमन चन्द्रिका' नामक टीका (1816 ई0) लल्लू लाल की बिहारी सतसई पर लिखी 'लाल चन्द्रिका' नामक टीका (1819 ई0) देवातिरथ या काष्ठ जिह्वा स्वामी की 'मानस परिचय' नाम की टीका (1838 ई0) काशी – नरेश ईश्वरी नारायण सिंह की मानस – परिचय–परिशिष्ट (1855 ई0) प्रतापसाहि की मतिराम के रसराज की टीका (1839 ई0) तथा बिहारी – सतसई की 'रत्न–चन्द्रिका' टीका (1839 ई0) और बलभद्र के नख शिख पर लिखी हुई टीका सरदार कवि की 'रसिकप्रिया' की टीका (1847 ई0) सूरदास के 'दृष्टिकूट की टीका' (1847 ई0) इत्यादि प्रमुख हे।"[1]

4. <u>राजस्थानी गद्य साहित्य</u> :– ब्रजभाषा की भाँति ही राजस्थानी में ख्याल, बात और वार्त्ताओं का थोड़ा – बहुत साहित्य बनता रहा। मुगल दरवार में किस्सा – गोई नाम की एक विशेष प्रकार की कला का जन्म हो चुका था। मुगल कला के अन्तिम दिनों में तो किस्सा–गोई या दास्तान – गोई एक पेशे का रूप धारण कर चुकी थी। किस्सा – गो लोग अवकाश के क्षणों में बादशाहों, नवाबों और अन्य रईसों का मनोरंजन किया करते थे। इन कहानियों का प्रधान विषय प्रेम हुआ करता था और अतिरंजित एवं आकस्मिक घटनाओं से वर्ण्य – विषय को आकर्षक बनाने की चेष्टा भी होती थी।[2]

5. <u>मैथिली गद्य</u> :– इसके अतिरिक्त संयोगवश कुछ सनदें और कुछ पत्र आदि मिल गये हैं। जो गद्य के नमूने प्रस्तुत करते हैं। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ज्योतिरीश्वर नामक मैथिली कवि ने 'वर्ण – रत्नाकर' नामक एक कवि – शिक्षा

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 210
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 210

विषयक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें मैथिली गद्य का कुछ नमूना मिल जाता है। विद्यापति की कीर्तिलता की चर्चा पहले की जा चुकी है। यह एक चम्पू – कथा श्रेणी का काव्य है, जिसके बीच – बीच में मैथिली भाषा के गद्य का प्रयोग है। इस गद्य की एक विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग है और जिस प्रकार फारसी में वाक्यान्त में तुक मिलाने की प्रथा है उस प्रकार का प्रयत्न इसमें भी मिलता है। रासो में भी बीच – बीच में वचनिका के रूप में नाममात्र के गद्य मिलते हैं।

6. <u>स्वतंत्र गद्य</u> – स्वतन्त्र ग्रन्थों में डाकौर के प्रियादास की 'सेवक–चन्द्रिका' (1779 ई0) हितरूप किशोरीलाल के एक शिष्य की लिखी हुई 'श्री नवनीत जी के सेवा–विधि' (1795 ई0) हीरालाल की लिखी ' आइने अकबरी' की भाषा वचनिका (1795 ई0) लल्लूलाल जी की राजनीति अथवा हितोपदेश का अनुवाद (1809 ई0) और मण्डलावाले मणिलाल ओझा की 'सोमवशंन की वंशावली (1828 ई0) इत्यादि है। रीवां के महाराज श्री विश्वनाथ सिहंजू की कबीर पर लिखी हुई टीका ब्रजभाषा की अपेक्षा बघेलखण्डी गद्य का नमूना कही जा सकती है।[1]

<u>खड़ी बोली का प्रारम्भ</u> :– आधुनिक काल में गद्य का प्रचार शीघ्रता से हुआ है, इसके मूल में अपभ्रंश के ग्रन्थ उत्तर मध्यकाल के संतों की बानियां, विनोद पूर्ण ढंग से लिखी संस्कृत कविता है। मुगल दरबार की समृद्धि जब ह्रास होने लगी, और लखनऊ, पटना तथा मुर्शिदाबाद आदि में नयी नवादी राजधानियाँ श्री सम्पन्न होने लगीं तो दिल्ली के गुणियों और व्यवसायियों ने पूरब की ओर मुँह किया। उनके साथ ही दिल्ली की शिष्ट भाषा चारों और फैल चुकी थी। कथा और धार्मिक प्रवचनों के लिए इस नयी शिष्ट भाषा का ही सर्वत्र व्यवहार किया जाने लगा था। कहा जाता है कि (1741 ई0) में पटियाला दरबार के कथावाचक श्री रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग वशिष्ठ' नामक ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर और परिमार्जित भाषा में लिखा था, और उसके कुछ ही दिन बाद 1761 ई0 में मध्यप्रदेश के निवासी पण्डित दौलत राम ने

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 – 211

रविषेणाचार्य के 'जैन पद्मपुराण' का हिन्दी में अनुवाद किया था।[1]

हिन्दी के प्रारम्भिक गद्यकार:—

1. **मुंशी सदासुखलाल** :— मुंशी सदासुखलाल जी नियाज (1746—1824 ई0) दिल्ली—निवासी थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अधीनता में चुनार में एक अच्छे लेखक और सुकवि थे। पैंसठ वर्ष की अवस्था में 1811 ई0 में नौकरी छोड़कर प्रयाग चले आये, और भगवान का भजन करने लगे। सन् 1824 ई0 में इनका स्वर्गवास हुआ। 'सुखसागर के अतिरिक्त एक और भी पुस्तक मुंशीजी ने लिखी थी, परन्तु उसका अधूरा रूप ही उपलब्ध है। सदासुखलाल जी की भाषा में सहज प्रवाह है, वह किसी के निर्देश पर और किसी खास प्रकार की भाषा के निर्माण के उद्देश्य से नहीं लिखी गयी है, इसीलिए उसमें स्वाभाविकता और स्पष्टता है।[2]

2. **मुंशी इल्ला खाँ** :— परन्तु मुंशी इंशाअल्ला खाँ (मृत्यु 11818 ई0) की लिखी पुस्तक 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' में यह सहज भाव नहीं है। मुंशी इंशाअल्ला खाँ का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने का था, जिसमें 'हिन्दी छुट और किसी बोली की पुट' न हो। वे 'भाखापन' अर्थात संस्कृत—मिश्रित हिन्दी से भी बचना चाहते थे। फिर भी उनकी इच्छा थी कि ''जैसे भले लोग – अच्छों से अच्छे – आपस में बोलते – चालते हैं, ज्यों—का—त्यों उसी का डौल रहे और छांव किसी की न हो।

3. **लल्लुलालजी** — फोर्ट विलियम कालेज से सम्बद्ध लल्लूलाल जी ने भागवत की कथा के आधार पर लिखे गये एक ब्रजभाषा काव्य के आधार पर 'प्रेमसागर नामक ग्रन्थ लिखा, जिसकी भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव है। विदेशी भाषा के शब्द इसमें आ गये हैं, पर प्रयत्न उनसे बचने का ही है। इस ब्रजरंजित खड़ी बोली में भी सहज प्रवाह नहीं है जो सदासुखलाल की भाषा में है। एक अंग्रेज अफसर ने जिसे 'प्रेमसागर' पढ़कर हिन्दी पढ़ने का अवसर मिला था। इस पुस्तक के बारे में लिखा था कि ऐसी 'थका देने वाली भाषा' उसने कहीं नहीं देखी।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 212
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – पृ0214—215

3 <u>सदल मिश्र</u> :– परन्तु प0 सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यवहारिक और सुथरी है। पण्डित जी आरा (बिहार) के निवासी थे, इसलिए स्वभावतः उनकी भाषा में पूरबी प्रयोग मिलते हैं। फिर भी उनकी भाषा में अधिक प्रवाह है और वह परवर्ती साहित्य – भाषा का अच्छा मार्गदर्शक कही जा सकती है। कालेज की कार्यवाहियों से पता चलता है कि सदल मिश्र ने एक और संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया था, पर उस पुस्तक का कहीं पता नहीं चलता।[1]

हिन्दी गद्य का परिमार्जित साहित्य

1. <u>हिन्दी गद्य का सूत्रपात</u> :– उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ वर्षों में वास्तविक रूप में हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। उस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, और कुछ और बाद तक भी नई पुस्तकों की टीकायें ब्रजभाषा के काव्य में लिखी गयीं। परन्तु खड़ी बोली में लिखा जाने वाला गद्य ही अन्त तक साहित्य का महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली वाहन बना। इन्हीं दिनों अंग्रेजों के प्रयत्न से कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुईऔर अंग्रेज अफसरों ने गम्भीरतापूर्वक इस देश की भाषाओं के अध्ययन का प्रयत्न किया। इस कालेज के हिन्दी – उर्दू अध्यापक सर जान गिल क्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में पुस्तके लिखाने का प्रयास किया। उन्होनें कई मुंशियों की नियुक्ति की। सर जान गिलक्राइस्ट प्रधान रूप से हिन्दुस्तानी या उर्दू के पक्षपाती थे, परन्तु वे जानते थे कि उस भाषा की आधारभूत भाषा हिन्दवी या हिन्दुई थी। इसी आधार भूत भाषा की जानकारी के लिए उन्होंने कुछ ' भाषा मुंशियों' की सहायता प्राप्त की । कुछ हिन्दी इतिहासकार विद्वानों का विश्वास है कि सर जान गिलक्राइट हिन्दी को उर्दू से भिन्न स्वतन्त्र और शिष्ट भाषा समझते थे। हिन्दुई या हिन्दवी को इस शिष्ट भाषा की आधारभूत भाषा मानने के कारण ही वे इस 'गवांरू' भाषा की पढ़ाई की व्यवस्था के लिए चिन्तित हुए इसे शिष्ट भाषा समझकर नहीं।[2]

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य पृ0 सं0 214 –215
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 सं0 213 – 214

2. <u>फोर्ट विलियम कालेज</u> :– जिन दिनों सर जान गिल क्राइस्ट लल्लू लाल जी और सदल मिश्र से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था कर रहे थे। उसके थोड़ा पूर्व दिल्ली निवासी मंशी सदासुखलाल ने बहुत ही सुन्दर भाषा में भागवत की कथा का 'सुखसागर' नाम से भाषान्तर किया और लखनऊ के मुंशी इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' नाम से एक ऐसी कथा लिखी थी, जिसमें अरबी फारसी के शब्दों को हटाकर शुद्ध हिन्दी लिखने का प्रयास था। कालेज जिन दिनों नये साहित्य के निर्माण की ओर दत्तचित्त था, उन दिनों निश्चित रूप से खड़ी बोली शिष्टजन के व्यवहार की भाषा हो चली थी। सुप्रसिद्ध राजा राममोहन राय के लिखे एक पैम्फलेट से पता चलता है कि यह भाषा उन दिनों शास्त्रार्थ – विचार के लिए भी व्यवहृत होने लगी थी। यह पेम्फलेट 1816 ई0 में छपकर प्रकाशित हुआ था। इसलिए यह समझना ठीक नहीं है कि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से ही आधुनिक हिन्दी गद्य का निर्माण हुआ।[1]

3. <u>ईसाई मिशनरियों की सहायता:</u> हिन्दी भाषा को आधुनिक रूप देने में ईसाई मिशनरियों का महत्त्वपूर्ण हाथ है। सन् 1799 ई0 में कलकत्ते के निकटस्थ श्री रामपुर में विलियम केरे, मार्शमेन और वार्ड ने डेनिश मिशन की स्थापना की थी, और उसी समय से ईसाई धर्म – पुस्तकों का अनुवाद भिन्न – भिन्न भारतीयों भाषाओं में होने लगा। बाईबल का प्रथम अनुवाद कैरे का किया ही कहा जाता है। वार्ड तीक्ष्ण दृष्टि सम्पन्न विद्वान थे। उन्होंने समूचे भारतवर्ष को घूम – घूम कर देखा था, और तत्कालीन हिन्दू समाज को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न किया था। उनकी 'हिन्दूज' नाम की पुस्तक उन दिनों के हिन्दू समाज के सभी पहलुओं पर बहुत अच्छा – प्रकाश डालती है। मार्शमेन भी अत्यन्त सुयोग विद्वान थे। उन्होंने केवल ईसाई मत के धर्मग्रन्थों का ही हिन्दी रूपान्तर नहीं प्रकाशित कराया, बल्कि वे ज्ञान – विज्ञान की अन्य शाखाओं पर भी पुस्तक लिखते लिखाते रहे। पं0 रतनलाल नामक एक लेखक ने इतिहास की एक पुस्तक का

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 214

कथासार नाम से अनुवाद किया था। इन ईसाई मिशनरियों का प्रधान उद्‌देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। यह कार्य उन्होंने बड़ी लगन, तत्परता और सूझबूझ के साथ किया। उन्होंने सबसे पहले देश की जनता को समझने का प्रयत्न किया।[1]

4. <u>नयी शिक्षा का सूत्रपात</u> :– यद्यपि शुरू – शुरू में कम्पनी सरकार की इच्छा अंग्रेजी भाषा के प्रचार की नहीं थी। तथापि आगे चलकर उसे भाषा का प्रचार करना पड़ा। सन् 1813 ई0 में एक एक्ट मंजूर किया गया था, जिसके अनुसार फारसी और संस्कृत शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहन दिया गया था। राजा राम मोहन राय इस एक्ट के विरुद्ध थे, वे देश में नये ढंग की शिक्षा प्रणाली प्रचलित करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि पुराने ढर्रे की पढ़ाई यदि जारी रही तो देश में किसी प्रकार का सामाजिक सुधार नहीं हो सकेगा। नये ढंग की शिक्षा के प्रवर्तन के उद्‌देश्य से डेविड हेयर नामक प्रसिद्ध शिक्षा – विशारद के सहयोग से राजा राममोहन राय ने एक स्कूल की स्थापना की थी और सन् 1830 ई0 में अलेक्जेण्डर डफ ने उच्च शिक्षा देने के अभिप्राय से एक अंग्रेजी कालेज की स्थापना की। उस समय तक कम्पनी सरकार इस नवीन शिक्षा – प्रणाली के पक्ष में नहीं थी। सन् 1813 ई0 में इग्लैण्ड की पार्लियामेंट ने ज्ञान – विज्ञान की शिक्षा के लिए प्रथम बार एक लाख रुपये की मंजूरी दी थी। वह रुपया संस्कृत और फारसी की पढ़ाई पर ही खर्च किया गया। भारत – सरकार के कानून–सदस्य लार्ड मैकाले से 1834 ई0 में इन रुययों के बारे में राय माँगी गयी थी। लार्ड मैकाले ने पार्लियामेण्ट को लिखा कि जो रुपया ज्ञान – विज्ञान के लिए दिया गया था वह संस्कृत और फारसी की पिछड़ी हुई शिक्षा – प्रणाली पर व्यय करके नष्ट कर दिया गया।[2]

(ख) <u>साहित्यकार एवं विधायें:</u>

(1) <u>राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द</u> : – राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (1823–95ई0)

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0–216–217
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी–हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 – 218–219

शिक्षा विभाग में आये हैं। वे देव–नागरी लिपि के पक्षपाती थे, परन्तु खुलकर फारसी लिपि का विरोध नहीं कर सकते थे। सरकारी नौकरी होने के कारण वे सरकार की भाषा–विषयक नीति का खुल्लमखुल्ला विरोध भी नहीं कर सकते थे। वे शुद्ध संस्कृत मिश्रित हिन्दी लिख सकते थे। उनकी कई पुस्तकें 'मानव धर्म सार', योग वशिष्ठ के चुने हुये श्लोक 'उपनिषद सार' 'भूगोल हस्तामलक', 'वामा मनरंजन', 'आलसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना' और 'वर्णमाला' आदि बहुत शुद्ध और संस्कृत मिश्रित हिन्दी में लिखी गयी है। वे लल्लू लाल जी की भाषा को पिछड़ी मानते थे। परन्तु उनकी शुरु – शुरु की लिखी हुई भाषा में 'सेवते' 'आवते' 'विताये' जेसे प्रयोग मिल जाते हैं। किन्तु फिर भी उनकी भाषा अधिक साफ और सुलझी हुई है। वे क्रमशः अरवी–फारसी से मिश्रित उर्दू भाषा की ओर झुकते गये और उनकी कई पुस्तकों की भाषा विशुद्ध उर्दू हो गयी।

2. <u>**राजा लक्ष्मण सिंह**</u> :– सुप्रसिद्ध राजा लक्ष्मण सिंह (1826–96ई0) स्पष्ट शब्दों में बताया कि, उनके मत में, 'हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी – न्यारी है।" उन्होंने यह भी कहा, "कुछ अवश्य नहीं है कि अरवी फारसी के शब्दों विना हिन्दी न बोली जाये, और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरवी फारसी के शब्द भरे हैं।" राजा साहब की भाषा में तद्भव शब्दों की मात्रा कम नहीं है। यद्यपि वह आरम्भिक हिन्दी गद्य का ही नमूना है तथापि उसमें वक्ता और श्रोता के अनुकूल होने की क्षमता है, और हमारी विशाल साहित्यिक परम्परा के अनुकूल है। भाषा में अरवी – फारसी शब्द नहीं के वराबर हैं कालिदास के कई ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है जिनमें **मेघदूत** और **शकुन्तला** के अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुए। सन् 1878 ई0 में उन्होंने **रघुवंश** का अनुवाद भी प्रकाशित कराया था। स्वभावतः राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा काव्य की भाषा है इसमें राजनीति तर्कशास्त्र और विज्ञान आदि विषय कठिनाई से आ सकते हैं। वे मानते थे कि साधारण जनता में विदेशी भाषा के बहुत – से शब्द उनके संस्कृत अनुवादों की अपेक्षा अधिक प्रचलित हैं।[1]

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 सं0 –223

3. <u>आर्य समाज</u> :– सामाजिक और धार्मिक विचारों की दुनिया में क्रान्ति ले आने वाली सबसे महत्वपूर्ण संस्था की स्थापना 1875 ई0 में हुई। इस संस्था का नाम है आर्यसमाज। आर्य समाज ने एक ही साथ कई मोर्चों पर धावा बोल दिया। इस संस्था ने अपने महान संस्थापक स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में रूढ़िवादी सनातनियों से, हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने वाली ईसाइयों से, और देश में फैले हुए अनेक धार्मिक सम्प्रदायों से एक साथ ही लोहा लिया। इन दिनों शास्त्रार्थों की धूम मच गई।[1]

4. <u>बाबू नवीन चन्द्र राय</u> :– बाबू नवीन चन्द्र राय ने अनुभव किया था किहिन्दी भाषा का आश्रय लेने से ब्राह्म धर्म का सन्देश अधिक व्यापक हो सकेगा। ब्राह्म धर्म के संस्थापक राजा राम मोहन राय ने भी इस बात का अनुभव किया था और कई छोटी – मोटी पुस्तकें हिन्दी में लिखी थीं। सन् 1816 ई0 का लिखा उनका (राजाराम मोहन राय) एक हिन्दी पम्पलैट प्राप्त हुआ है और इस बात की सूचना भी प्राप्त होती है कि एक साल पहले 1815 ई0 उन्होनें वेदान्त सूत्र का हिन्दी अनुवाद किया था। कलकत्ते से हिन्दी के समाचार – पत्रों के आद्य उधोक्ताओं में राजा राममोहन राय भी थे। परवर्ती काल के ब्राह्म नेता इस बात को नहीं समझ सके। परन्तु बाबू नवीन चन्द्र राय इस बात को समझ गए थे। सन् 1817 ई0 के मार्च के महीने में उन्होंने बंगला की प्रसिद्ध **तत्वबोधिनी** के आदर्श पर **ज्ञान प्रदायिनी** पत्रिका निकाली। इस पत्रिका में धार्मिक और सुधार सम्बन्धी लेखों के अतिरिक्त शिक्षा विषयक और वैज्ञानिक लेख भी हुआ करते थे।

5. <u>श्रद्धाराम फुल्लौरी</u> :– जिन दिनों बाबू नवीन चन्द्र पंजाब में इस प्रकार हिन्दी का प्रचार कर रहे थे, उन्हीं दिनों पं0 श्रद्धाराम फुलौरी अपने व्याख्यानों और कथाओं से हिन्दू संस्कृति में नव – जीवन का संचार कर रहे थे। आर्य – समाज के आविर्भाव के पूर्व ही उन्होंने पंजाब में धार्मिक उत्साह और नवीन सामाजिक चेतना का संचार किया था। इन दिनों पढ़े – लिखे लोग ईसाई धर्म की ओर

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास) पृ0 सं0 – 224

आकृष्ट हो रहे थे। पं० श्रद्धराम ने बहुतों को पथ – भ्रष्ट होने से बचाया। वे उर्दू में भी लिखते थे, परन्तु हिन्दी भाषा और हिन्दू संस्कृति के पूर्ण पक्षपाती थे। उन्होंने आत्मचिकित्सा, तत्व दीपक, धर्म रक्षा, उपदेश –संग्रह आदि पुस्तकें लिखी थीं ; और भाग्यवती नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी प्रकाशित कराया था। यह उपन्यास 1873 ई0 में प्रकाशित हुआ था। उन दिनों यह उपन्यास पढ़ी – लिखी जनता को बहुत प्रिय हुआ।[1]

आधुनिक गद्य साहित्य का काल विभाजन

(क) भारतेन्दु युग और गद्य रूप :– सन् 1850 ई0 में भारतेन्दु का जन्म हुआ। वे केवल चौंतीस वर्ष और चार महीने जीवित रहे, और माघ कृष्ण 6 सं0 1941 अर्थात 1885 ई0 में इनकी मृत्यु हुई। इतने अल्पकाल में शायद ही किसी अन्य व्यक्ति ने इतना बड़ा साहित्यिक कार्य किया हो। पहले तो इसमें केवल प्राचीन कवियों की कविताएं छपा करतीं थी, किन्तु बाद में गद्य–लेख भी रहने लगे। सन् 1873 ई0 में 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' नाम की दूसरी पत्रिका निकाली। आठ संख्याओं के बाद पत्रिका का नाम बदलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कर दिया गया। इस चन्द्रिका में हरिश्चन्द्र की परिमार्जित हिन्दी का प्रथम दर्शन हुआ। वे स्वयं मानते थे कि सन् 1873 ई0 से हिन्दी नये चाल में ढली।[2]

(ख) . भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का साहित्य और विशेषताएं :– भारतेन्दु का पूर्ववर्ती काव्य – साहित्य सन्तों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुँच गया था, उसमें मनुष्य को प्रत्याहिक सुख–सुविधाओं के जंगल से मुक्त करके शाश्वत देवत्व के पवित्र लोक में ले जाने की महत्त्वाकांक्षा लुप्त हो चुकी थी। वह मनुष्य को देवता बनाने के पवित्र आसन से च्युत होकर मनोविनोद का साधन हो गया था। ऐसा होना वाँछनीय नहीं था। जिन सन्तों और महात्माओं ने काव्य में मनुष्य को देवता बनाने की शक्ति संचरित की थी, उनके चेलों ने उनके नाम पर

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 – 225
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 – 226

सम्प्रदाय बनाने की शक्ति संचारित की थी, उनके चेलों ने उनके नाम पर सम्प्रदाय स्थापित किये, काव्य को देवता बनाने की शक्ति लुप्त हो गयी, उसकी साम्प्रदायिक अद्‌भुत व्याख्यायें शुरू हो गयीं और दूसरी ओर कवियों की दुनिया राजदरबारों की ओर खिंच गयी। भारतेन्दु ने कविता को इन दोनों ही प्रकार की अधोगतियों के पन्थ से उबारा। उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोक जीवन के आमने – सामने खड़ा कर दिया। नाटकों में तो उन्होंने युगान्तर उपस्थित कर दिया। भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटक यद्यपि अधिकतर संस्कृत या अन्य भाषान्तर मात्र हैं, फिर भी वे एक बड़े भारी परिवर्तन का संकेत करते हैं। रीति–काल में नाटक का लिखा जाना एकदम बन्द हो गया था। जीवन में नाटकोचित गति ही लोप हो गयी थी। सब कुछ बंधे – बंधाये मार्ग में चल रहा था। चलना–फिरना, हिलना–डुलना, रोना–हँसना, सबकी पक्की सड़क तैयार थी। कहीं नवीनता आ जाये तो अपराध माना जाता था। भारतेन्दु ने इस बात को बड़ी सावधानी से तोड़ा। उन्होंने क्रान्तिकारी हथौड़े से काम नहीं लिया, उन्होंने मृदु संशोधक निपुण वैद्य की भाँति रोगी की नाजुक स्थिति की ठीक–ठीक जानकारी प्राप्त कर उसकी रुचि के अनुसार उचित पथ्य की व्यवस्था की। वह भारतेन्दु की अपनी विशेषता थी। उनका समूचा काव्य मूर्तिमान प्राणधारा का उच्छल वेग है।[1]

(ख) **भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकार:** – भारतेन्दु को केन्द्र करके उस काल के अनेक कृती साहित्यकारों का एक उज्ज्वल मण्डल ही प्रस्तुत हो गया। सहज–चटुल शैली के पुरस्कर्त्ता पं0 प्रतापनाराण मिश्र (1856–94 ई0) तीखी और झनझना देने वाली भाषा में खरी–खरी सुना देने वाले पं0 बालकृष्ण भट्ट (1844–1914 ई0) अनुप्रासयुक्त शैली की कवि जनोचित भाषा लिखने वाले ठाकुर जगमोहन सिंह (1857–99 ई0) और बद्री नारायण चौधरी (1855–1922 ई0) नाटकों और उपन्यासों के क्षेत्र में नये मार्ग का प्रदर्शन करने वाले लाला श्री निवास दास (1851–87 ई0) शास्त्रीय विचार परम्परा के धनी संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान और लेखक पण्डित अम्बिकादत्त व्यास (1858–1900 ई0) अपने अगाध पाण्डित्य

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 – 228

की छाया में सहज ठेठ शैली के पुरस्कर्त्ता महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ﴾1850–1911 ई0﴿ संस्कृत के विद्वान और भक्त साहित्यिक पं0 राधाचरण गोस्वामी ﴾1808–1925 ई0﴿ तथा सुप्रसिद्ध नाटककार और प्राचीन साहित्योद्धारक बाबू राधाकृष्ण दास ﴾1865–1907 ई0﴿ आदि अनेक सुलेखक उनसे प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि करने लगे।[1]

3. भारतेन्दु युग में कुछ विशिष्ट गद्य रूप:

1. नाटक स्वच्छन्दवादी धारा:– भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में स्वच्छन्दतावादी या रोमेंटिक प्रेम की धारा स्पष्ट नहीं हो सकी। 'चन्द्रावली नाटिका' में कुछ लोग इस श्रेणी के प्रेम का सन्धान पाते हैं, परन्तु 'चन्द्रावली नाटिका' स्वच्छन्द प्रेम का नहीं, भक्ति का काव्य है। केशवराम भट्ट का **संजाद–सुम्बुल** ﴾1877 ई0﴿ शायद पहला नाटक है जिसमें यथार्थवादी और स्वच्छन्दतावादी, दोनों ही धारायें घुली–मिली हैं। फिर भी वह प्रधान रूप से यथार्थवादी नाटक नाटक ही है। राधाकृष्ण दास की **दुखिनी बाला**﴾1880 ई0﴿ लाला श्री निवासदास की **रणधीर प्रेममोहिनी** ﴾1880 ई0﴿ और **तप्ता संवरण** ﴾1883 ई0﴿ अम्बिकादत्त व्यास की **ललिता** ﴾1884 ई0﴿ अमनसिंह गोतिया की **मदन–मंजरी** ﴾1884 ई0﴿ विशेसरनाय पाठक की **लवंगता** ﴾1885 ई0﴿ कृष्ण देव सिंह की **माधुरी** ﴾1888 ई0﴿ दामोदर सिंह की **मदन–लेखा** ﴾1890 ई0﴿ किशोरी लाल गोस्वामी की **मयंक मंजरी** ﴾1891 ई0﴿ शालिग्राम वैश्य का **लावण्यवती सुदर्शन** ﴾1892 ई0﴿ रामानन्द सिंह का **कुवलय – माला**﴾1﴿ और ब्रजप्रसाद का **मालती बसन्त** ﴾1889 ई0﴿ इसी श्रेणी की रचनायें हैं। रामनरेश शर्मा का **सिहंल विजय** ﴾1896 ई0﴿ और राधाकृष्ण दास का **महाराणा प्रताप सिंह** ﴾1898 ई0﴿ प्रमुख हैं। इनमें राधाकृष्णदास का **महाराणा प्रतापसिंह** अधिक प्रसिद्ध हुआ। बहुत दिनों तक वह रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेला जाता रहा, और अब भी उसकी लोकप्रियता कुछ न कुछ बनी हुयी है।

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 231

2. <u>राष्ट्रीय भावना के नाटक:</u> – भारतेन्दु ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार के लिए **प्रेम योगिनी**, 'भारत दुर्दशा' आदि नाटक लिखे थे। इनकी परम्परा खूब चली। अम्बिका प्रसाद व्यास के **गौ संकट** और **भारत सौभाग्य** (1887 ई0) खड्ग बहादुर मल्ल का **भारत ललना** (1888 ई0) जगत नारायण शर्मा का **भारत दुर्दिन** (1889 ई0) और बद्री नारायण चौधरी का **भारत सौभाग्य** (1889 ई0) दुर्गादत्त का **वर्तमान दशा** (1890 ई0) गोपालदास गहमरी का **देशदशा** (1892 ई0) आदि नाटक सामाजिक सामस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लिखे गये थे। इन सबमें राष्ट्रीय भावना और आत्मगौरव – बोध की उपादेयता दिखायी गयी थी; वास्तव में ये नाटक राष्ट्रीय चेतना के प्रचारक थे।[1]

<u>प्रहसन:</u> उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों की प्रधान विशेषता प्रहसन है। भारतेन्दु का **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** (1873 ई0) विषस्य **विषमौषधम्** (1875 ई0) और **अन्धेर नगरी** (1881 ई0) बहुत लोकप्रिय रहे। प्रहसनों का लक्ष्य अधिकाँश में समाज – सुधार था। उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी लेखकों में एक विचित्र प्रकार की जिन्दादिली थी। इसी जिन्दादिली ने उनके साहित्यिक प्रयत्नों को अत्यन्त सजीव बना दिया है। प्रहसनों में यह सजीवता अपने पूरे वेग पर मिलती है। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रहसन बहुत सजीव और सफल रहे। सच पूँछा जाये तो नाटकों के क्षेत्र में इस काल के लेखकों को प्रहसनों में ही सफलता प्राप्त हुई। देवकी नन्दन त्रिपाठी का **जय नरसिंह की** (1876 ई0) और **कलयुगी जनेऊ** (1886 ई0) तथा **कलयुगी विवाह** (1898 ई0) प्रतापनारायण मिश्र का **कलि–कौतुक** (1876 ई0) राधाचरण गोस्वामी का **बूढ़े मुँह मुँहासे** (1888 ई0) आदि प्रहसन बहुत सफल रहे।[2]

<u>भारतेन्दु युग का वैशिष्ट्य</u>

1. <u>हिन्दी प्रचार का प्रयास:</u> – उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, पृ0 सं0 233
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 सं0 – 233

प्रचार का आन्दोलन अधिक संगठित और निखरे रूप में प्रकट हुआ। 1893 ई0 में बाबू श्याम सुन्दर दास पं0 रामनारायण मिश्र और बाबू ठाकुर शिवकुमार सिंह ने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की, जो आगे चलकर महत्त्वपूर्ण साहित्यिक संस्था बनी। मूलतः इस सभा का उद्‌देश्य हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करना ही है। सभा ने संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेंट गर्वनर के पास अपना डेपूटेशन भेजा और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में (1900 ई0) कचहरियों में हिन्दी को स्थान मिल गया। उन दिनों यह हिन्दी की बहुत बड़ी विजय मानी गयी। हिन्दी–प्रचारकों का उत्साह इससे और भी अधिक बढ़ा। सर्वत्र **निज भाषा** की उन्नति के लिए प्रयत्न होने लगे। इस प्रयत्न का अच्छा और बुरा दोनो ही प्रकार के परिणाम हुए।

2. <u>उर्दू के साथ संघर्षः</u>– हिन्दी–प्रचार–आन्दोलन का प्रधान लक्ष्य नागरी लिपि का प्रचार और भाव और भाषा को भारतीय रूप देना था। स्वभावतः ही उर्दू के साथ उसका संघर्ष हो गया। अदालतों में उर्दू लिपि के प्रचार के कारण पढ़े – लिखे लोग उर्दू पढ़ने को बाध्य थे। पंजाब और पशिचम युक्त प्रान्त में तो हिन्दुओं के धर्म – ग्रन्थ उर्दू लिपि में ही प्रकाशित होते थे। आर्य – समाज के आन्दोलन ने हिन्दी को बहुत बल दिया, क्योंकि आर्य समाज भी भारतीयकरण का पक्षपाती था, इसीलिए उसको सबसे अधिक लोहा उर्दू भाषा से लेना पड़ा। संयोगवश उर्दू लिपि का वैज्ञानिक मूल्य कुछ भी नहीं था, नागरी लिपि की तुलना में संसार की कम लिपियाँ खड़ी की जा सकती हैं। फारसी–लिपि तो किसी भी प्रकार उसकी प्रतिद्वन्द्विनी नहीं बन सकती। इस लिपि के जीने का सबसे प्रमुख कारण मुसलिम भावनाएं थीं। मुसलमान लोग उसे धर्म–लिपि मानते हैं और आग्रहपूर्वक उसे उत्तम स्थान देना पसन्द करते हैं। भारतवर्ष के विदेशी शासकों ने मुसलमानों की मनोवृत्ति को सहलावा दिया, और इस बात की बिल्कुल परवा नहीं की कि शुद्ध उच्चारण और सुपाठ्य लेखन की दृष्टि से नागरी लिपि उर्दू से कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। आरम्भ में उन्होंने नागरी लिपि को एकदम बहिष्कृत कर दिया था। विचारशील हिन्दुओं के मन में इस बात से बहुत क्षोभ हुआ था, और उसी क्षोभ

ने शक्तिशाली आन्दोलन का रूप धारण किया था।[1]

3. <u>ऐतिहासिक पुनरुद्धार</u> :- उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय गौरव पुनरुद्धार का समय है। इस काल में अनेक देशी-विदेशी विद्वानों के परिश्रम से भारतवर्ष के भूले हुए इतिहास का ढाँचा प्रस्तुत किया जा सका। ब्राह्मी, खरोष्ट्री जैसी भूली हुई लिपियों का उद्धार हुआ। अनेक शिलालेखों, ताम्र शासनों और राजकीय मुद्राओं के अविष्कार से इतिहास की टूटी हुई कड़ियाँ जोड़ी गयीं। सिंहल, वर्मा और स्याम में प्रचलित भारतवर्ष का प्राचीन पाली भाषा का ग्रन्थभण्डार प्राप्त किया गया। तिब्बत, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, और बाली द्वीपों में भारतीय ज्ञान भण्डार और संस्कृति के अवशेष चिन्ह प्राप्त हुए। वैदिक और लौकिक संस्कृत शास्त्रों का अनुसंधान, संकलन और संपादन किया गया। मौर्यो, शुंगों, गुप्तों, और राजपूत नरेशों के वीरत्वपूर्ण कथानकों का संकलन किया गया, और इन सबके परिणामस्वरूप सोंचने-समझने वाले भारतवासी के चित्त में नवीन आत्म-गौरव का संचार हुआ।

<u>भारतेन्दु युग की गद्य शैली का स्वरूप</u> :- हिन्दी में अरबी - फारसी शब्दों का व्यवहार हो या न हो, इस विषय को लेकर तीन प्रकार के मत उन दिनों प्रचलित हो गये। कुछ लोग अरबी - फारसी शब्दों के एकदम विपरीत थे। लाला हरदयाल ने अरबी - फारसी के शब्दों को प्राचीन दासता के अवशेष माना था। मथुरा प्रसाद दीक्षित भी उर्दू के कठोर विरोधियों में से थे। साधारण बोलचाल की भाषा में आये हुए शब्दों के पक्षपाती थे। इसी समय इसकी प्रतिक्रिया भी हुयी थी। महामहोपाध्याय पं0 सुधाकर द्विवेदी जैसे विद्वान हिन्दी में संस्कृत की ठूँस - ठाँस पसन्द नहीं करते थे। वह भाषा को संस्कृत पदावली से लादने को **कलम पकड़ने का नशा** समझते थे। मन्नन द्विवेदी ने भी प्रवृत्ति का उपहास किया था। यह वर्ग हिन्दी में सीधे-सादे तद्भव शब्दों की बहुलता को स्वागत योग्य मानता है और कठिन संस्कृत पदावली को अच्छी रुचि का परिचायक नहीं समझता। कुछ लोग अंग्रेजी गद्य शैली की भाँति सरल व्यंजनामयी और भावों को स्पष्ट करने वाली भाषा लिखते थे। कुछ दूसरे लोग संस्कृत की उस शैली को अपना रहे थे; जिसमें अक्षराडम्बर और अलंकरण की प्रधानता होती थी

---

1. <u>डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पृ0 सं0 234</u>

और कुछ ऐसे भी लोग थे जो बंगला की सरस पदावली पर मुग्ध होकर उसी ढंग की भाषा लिखने लगे थे।[1]

"द्विवेदी युग"

साहित्य का बहुमुखी काल उन्नति काल

– द्विवेदी युग –

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एक महान युग प्रवर्त्तक थे। आधुनिक हिन्दी साहित्य में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली है। इन्होंने केवल सरस्वती का सम्पादन ही नहीं किया वरन् अपने समय के समस्त साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित किया। द्विवेदी जी ने स्वयं रचनायें कीं दूसरों की रचनाओं का संस्कार किया। कवि तथा लेखकों को एक विशेष प्रकार का समाजोनतिकारक साहित्य रचने की प्रेरणा दी और जनरुचि का इस साहित्य के अनुरुप परिष्कार किय। "उन्होंने साहित्य और समाज दोनों को ही एक विशेष दिशा में मोड़ा। इसी कारण वे अपने युग के बिना डिग्री के आचार्य थे, बिना मुकुट सरताज थे, और थे एक महान युग के प्रवर्त्तक। इसीलिए उनके सरस्वती सम्पादन काल के साहित्य रचनाकाल का नामकरण उनके नाम पर **द्विवेदी युग** रखा गया।"[2]

• महावीर प्रसाद द्विवेदी का वैशिष्ट्य और उस युग के प्रमुख साहित्यकार

बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की बहुमुखी उन्नति हुई। इस शताब्दी के आरम्भ में ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उद्योग से प्रयाग के इण्डियन प्रेस से **सरस्वती** पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् 1903 ई0 से इस पत्रिका के सम्पादन का भार आचार्य पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी (1861–1938 ई0) ने ग्रहण किया। इस पत्रिका के द्वारा द्विवेदी जी ने हिन्दी

---

1. **हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0** – 235–36
2. **हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ** – 444

हैं। परवर्त्ती काल में केवल पद्य में ही नहीं, गद्य में भी संस्कृत का कथा–साहित्य बहुत समृद्ध रहा। कथा, आख्यायिका चम्पू इत्यादि काव्यरूपों से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। मध्यकाल में भी पौराणिक और लौकिक कथाओं के आधार पर मनोरंजक काव्य लिखे गये हैं। इस प्रकार आधुनिक युग के आरम्भ होने के पहले तक हमारे देश में नाना श्रेणी के उपन्यास – जातीय कथा–काव्य वर्तमान थे। उनमें पौराणिक आख्यान भी हैं, नैतिकता और लोक चातुरी सिखाने वाली कहानियाँ भी हैं ओर धर्म और भक्ति तत्त्व को स्पष्ट करने वाली कथायें भी लिखी गयी हैं। फिर भी उन्हें **उपन्यास** नहीं कहा जा सकता।[1]

2. <u>आधुनिक काल से पूर्व की कहानियाँ</u> :– प्रेस और यातायात के नवीन साधनों के प्रचार के पूर्व भारतीय साहित्य अपने प्राचीन कहानी–कला के परिचित मार्ग से थोड़ा हट चुका था। फारसी कहानियों के सम्पर्क से **लैला–मजनूं**, 'शीरी फरहाद', 'किस्सए–गुलेबकावली' आदि ढंग की कहानियाँ प्रचलित हो गयी थीं, जिनमें मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों को सहलाना ही प्रधान लक्ष्य हो गया था। फारसी साहित्य के आदर्श और एकान्तिक ढंग की प्रेम–कथानक भी इसी हल्की मनोवृत्ति के शिकार हो गये थे। आदिम शाक्तियों को उत्तेजित करने के लिए जिन कौशलों का सहारा लिया जाता था, वे एकदम आस्वाभाविक और रुचिवहिर्भूत थे। अति प्राकृत प्रसंगों की योजना, उड़ने वाली परियों का बराबर आ उपस्थित होना, इशारों और संकेतात्मक प्रतीकों की ठेलमठेल के कारण इनमें कहानी का सहज कहानीपन गायब हो जाता है। हिन्दुस्तानी कथानक रूढ़ियों और फारसी कहानीमत अभिप्रायों के सबसे निम्न स्तर के अवयवों के सम्मिश्रण से जो साहित्य बन रहा थ, वह न बहुत उच्चकोटि का ही बन सका और न कभी अभिजात साहित्य के महल की देहली ही लाँघ सका। परन्तु नये युग के आने के बाद तक उसका खँखरा सूखा नहीं था। 'किस्सा तोता मैना', 'छबीली भटियारिन' किस्सा साढ़े तीन यार', 'एक रात में चालीस खून' कहानियों

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास पृ0 सं0 237

में यही विकृत रुचि सुरक्षित रह गयी है। इस मनोवृत्ति का ही ईषत् संस्कृत रूप 18 तिलस्मी ओर ऐय्यारी कहानियों में आया, पर सही बात यह है कि साहित्य के मन्दिर में प्रवेश पाने की योग्यता इनमें नहीं थी।[1]

आधुनिक काल की कहानियों का स्वरूप:- वस्तुतः बीसवीं शताब्दी में जब **सरस्वती** का प्रकाशन हुआ, तभी वास्तविक अर्थों में कहानी लिखना शुरु हुआ। प्रथम तो शेक्सपियर के कुछ नाटकों को कहानी के रूप में लिखने का प्रयत्न हुआ, फिर संस्कृत की **रत्नावली** 'मालविकाग्निमित्र' जैसे नाटकों और **कादम्बरी** जैसी कथाओं को कहानी रूप में कहने का प्रयत्न किया गया। स्पष्ट ही लेखकों की रुचि रोमाँस की ओर अधिक थी। इन कहानियों को न तो मौलिक कहानी ही कहा जा सकता है और न अनुवाद ही, परन्तु इनमें कहानी के माध्यम से साहित्यिक रुचि जाग्रत का प्रयास अवश्य था। सन् 1900 ई0 में पं0 किशोरी लाल गोस्वामी ने **टेम्पेस्ट** की छाया लेकर एक कहानी लिखी, जिसमें वातावरण तो भारतीय था, पर मूल कथानक को ही उसमें गूँथने का प्रयास था। इसे ही हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी कहा जाता है। निस्सन्देह इसमें अच्छी कहानी के कई गुण थे, पर यह वस्तुत अंग्रेजी नाटकों की छाया पर आधारित अर्द्ध-अनुवादित कहानियों से सिर्फ इस बात में भिन्न थी कि लेखक ने यह प्रयत्न किया था कि कहानी मौलिक जान पड़े। श्री किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी के बाद मार्मिक भावप्रधान कहानी पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने लिखी। यह कहानी (ग्यारह वर्ष का समय) आधुनिकता के लक्षण से युक्त अवश्य थी फिर भी **दुलाईवाला** में जैसा निखार है वैसा इसमें नहीं है। सन् 1900 ई0 से 1910 ई0 तक का काल हिन्दी कहानियों का प्रयोगकाल कहा जा सकता है। किशोरीलाल की इस कहानी के पश्चात् कुछ उपदेशमूलक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। विद्यानाथ शर्मा की **विद्या बहार** और मैथिलीशरण गुप्त की **निन्यानबे का फेर** ऐसी ही कहानियाँ थीं। इनमें कहानी की नयी कारीगरी का थोड़ा आश्रय अवश्य लिया गया था,

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास – 242

पर आधुनिकता निखर नहीं पायी थी। **सुदर्शन** नामक मासिक–पत्र में श्री माधवप्रसाद मिश्र की कहानियाँ निकल रही थीं, जिनमें आख्यायिकाओं की शैली थी। 1907 ई0 में श्री बंग महिला की **दुलाईवाली** नाम की कहानी प्रकाशित हुई, जिसमें एक छोटी–सी घटना को लेकर सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करने योग्य यथार्थवादी चित्रण था। बहुतों ने इसे ही हिन्दी की प्रथम कहानी माना इन दिनों स्वामी सत्यदेव विश्वम्भर नाथ जिज्जा, गिरजा कुमार घोष की कहानियाँ भी प्रकाशित हुईं। वृन्दावन लाल वर्मा की पहली कहानी **राखी बन्द भाई** में छपी और मैथिली शरण गुप्त की कहानी **नकली किला** भी इसी समय प्रकाशित हुई।[1]

1. <u>प्रसाद और गुलेरी की कहानियाँ</u> :– सन् 1911 में 'इन्दु' का प्रकाशन हुआ। इसमें जयशंकर प्रसाद जी की सम्भवतः प्रथम कहानी **ग्राम** (1911 ई0) प्रकाशित हुई। श्री गंगा प्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम हास्यरस की कहानी **पिकनिक** भी इसी साल प्रकाशित हुई और इन्हीं दिनों **भारत मित्र** में पं0 चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी **सुखमय जीवन** भी छपी। ये तीनों लेखक आगे चलकर हिन्दी साहित्य में प्रख्यात हुए। चन्द्र धर शर्मा की कहानियों की संख्या तो बहुत थोड़ी है, पर इन स्वल्प रचनाओं के बल पर ही वे साहित्य में अपूर्व गौरव के अधिकारी हुए हैं। सन् 1912 ई0 में प्रसाद जी दूसरी कहानी **रसिया बालम** प्रकाशित हुई। प्रथम बार उनकी कल्पना – प्रधान आदर्श चित्रणकला का इसी में प्रस्फुटन हुआ। फिर ज्वाला प्रसाद शर्मा की **विधवा** और **तस्कर** और विश्वम्भर नाथ कौशिक की प्रथम कहानी **रक्षाबन्धन** (1913 ई0) प्रकाशित हुई। सन् 1915 ई0 की 'सरस्वती' में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी की अत्यन्त महत्वपूर्ण कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 –244

(क) **प्रेमचन्द का परिचय** :– प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही एक गाँव (लमही) में एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होंने आधुनिक शिक्षा पाई नहीं थी, बटोर कर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते – करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेंचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूल के डिप्टी इंसपेक्टर होने की अवस्था तक पहुँच चुको थे। महात्मा गाँधी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया। वे दरिद्रता में जनमे, दरिद्रता में पले ओर दरिद्रता से ही जूझते – जूझते समाप्त हो गये। फिर भी वे अपने जीवन काल में समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ कथाकार बन गए थे।[1]

(ख) **प्रेम चन्द की कहानियों का सैद्धान्तिक पृष्ठ भूमि** :–

(1) **यथार्थ वाद** :– प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों को मानव – जीवन का यथार्थ चित्रण ही कहा है। कभी – कभी यथार्थ वादी कहानी कारमर्यादा की सीमा अतिक्रम कर जाते हैं, इसलिए **यथार्थवाद** शब्द बहुत गलतफहमी का शिकार बन गया है। प्रसंग आ गया है, इसलिए उनके सम्बन्ध में विचार कर लिया जाय।

(2) **यथार्थवाद का अर्थ** :– साहित्य में यथार्थवाद शब्द का प्रयोगनये सिरे से होने लगा है यह अंग्रेजी साहित्य के **रियलिज्म** शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। यथार्थ वाद का मूल सिद्धान्त है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा चित्रित रंगो सं अनुरंजित करना और न किसी धार्मिक या नैतिक या आदर्श के लिए काट – छाँटकर उपस्थित करना। यूरोपियन साहित्य में **रियालिज्म** का व्यवहार **रोमोण्टिसिज्म** और

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 249

आईडियालिज्म के विरुद्ध अर्थ में हुआ। यथार्थवाद के विरोधी लेखकों ने इस दृष्टि से लिखे हुए उपन्यासों और काव्यों को **फोटोग्रैफिक** चित्रण कहा है। अर्थात जिस प्रकार कैमरा वस्तु के प्रत्येक अवयव और वातावरण को ज्यों का त्यों उपस्थित कर देता है, न घटाता है न बढ़ाता है, उसी प्रकार लेखक वक्तव्य वस्तु को ज्यों का त्यों उपस्थित करता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यथार्थवादी लेखक कुछ कौशलों का आश्रय लेता है। वह (1) वक्तव्य – वस्तु के इर्द – गिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है, और गन्दी और घिनौनी समझी जाने वाली चीजों का विशेष रूप से उल्लेख करता है; (2) समसामयिक घटनाओं और रीति – रस्मों विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है; (3) वक्तव्य वस्तु के साथ अत्यन्त क्षीण सूत्र से सम्बद्ध नगण्य व्यक्तियों की भी चर्चा करता है; (4) भिन्न – भिन्न पात्रों का बोलियों का हू–ब हू लेखन करता है ओर उनमें यदि जुगुप्सित अश्लील गालियाँ हों, तो उन्हें ज्यों का त्यों रख देने में नहीं हिचकता; (5) विभिन्न व्यवसाय करता है; (6) घटना की सच्चाई का वातावरण उपस्थित करने के लिए चिठ्ठियों, सनदों और अन्य प्रामाणिक समझी जाने योग्य बातों का उपस्थित करता है।[1]

3. <u>**रोमांस, प्रकृतिवाद और यथार्थवाद:–**</u> रोमांस के पक्षपातियों ने यथार्थवादी चित्रण पर बड़ा कठोर आघात किया है, कभी–कभी इसे प्रकृतिवाद के साथ घुला दिया गया है। प्रकृतिवाद भी उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के साहित्य में बहुत प्रसिद्ध मतवाद था। इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जन्तु है जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी। उसमें पशु–सुलभ सभी आकर्षण – विकर्षण ज्यों के त्यों वर्त्तमान हैं। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम – क्रोध आदि मनोरागों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों कामासक्त चेष्टाओं और अंहकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है। यथार्थवादी लेखक ठीक इन्हीं सिद्धान्तों को नहीं

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 245–46

मानता, परन्तु मनुष्य की ब्यौरेबार चेष्टाओं के चित्रण करते समय कभी – कभी प्रकृतिवादी लेखक के समानान्तर चलने लगता है। वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद, क्योंकि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु–सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशु–सुलभ वृत्तियाँ रह गयीं हैं तथापि वह पशु नहीं है। वर्षो की साधना से उसने अपने भीतर त्याग, तप, सौन्दर्य – प्रेम और पर दुख कातरता जैसे गुणों का विकास किया है। ये गुण ही मनुष्य की मनुष्यता की निशानी हैं। इस प्रकार मानवतावादी लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक उल्टे रास्ते पर चलता है। यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नहीं; परन्तु ऐसे अवसर आते हैं जब यथार्थवाद लेखक मानवतावा के विरुद्ध चला जाता है।

हिन्दी के उपन्यासों और कहानियों में क्रमशः इस यथार्थवादी दृष्टि की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी, परन्तु वे न तो पूर्णतः यथार्थवादी हुए न पूर्णतः रोमान्सवादी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में ही यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण मिल जाता है। प्रेमचन्द्र, कौशिक और सुदर्शन का आरम्भिक कहानियों में भी घटनाओं को वास्तविकता के निकट रखने का पूरा प्रयत्न है। वस्तुतः पुरानी कहानियों से इन कहानियों में मुख्य अन्तर यही है कि नयी कहानियाँ पाठक के चित्त में वास्तविक जीवन का भान उत्पन्न करती हैं। इसका कारण लेखकों का यथार्थ चित्रण ही है। परन्तु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ये लेखक मूलतः यथार्थवादी नहीं थे। इनकी रचनाओं का प्रधान स्वर मानवतावादी था।[1]

4. <u>प्रेमचन्द की कथा में प्रेम का स्वरूप:</u>– प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गन्दगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नयी ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 246–47

उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नहीं, वहाँ प्रेम भी नहीं, वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द्र का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है और अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है।[1]

5. <u>प्रेमचन्द का महत्त्वः-</u> प्रेमचन्द शताब्दियों से पद दलित, अपमानित, और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे; पर्दे में कैद, पद - पद पर लाँछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। ऊपर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार - विचार, भाषा - भाव, रहन - सहन, आशा - आकांक्षा, सुख - दुःख और सूझ - बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बेंकों तक, गाँव से लेकर धारासभाओं तक, आपको इतने कोशलपूर्वक और प्रमाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेड़ो पर गाते हुए किसान को, अन्तः पुर में मान किये बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुयी वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, ईर्ष्या परायण प्रोफेसरों को, दुर्बलहृदय बेंकरों को, साहसपरायण चमारिन को, ढोंगी पण्डितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा वह गलत नहीं है। इससे अधिक सच्चाई से दिखा सकने वाले परिदर्शक को अभी हिन्दी - उर्दू की दुनिया नहीं जानती। परन्तु सर्वत्र ही एक बात आप लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और सम्पादकों से लद नहीं गये हैं जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गंवार और जाहिल हैं वे उन लोगों की अपेखा अधिक आत्मबल रखते हैं और अधिक न्याय

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास - पृ0 सं0 - 251

के प्रति सम्मान दिखाते हैं जो शिक्षित है; जो सुसंस्कृत हैं जो सम्पन्न हैं जो चतुर हैं, जो दुनियादार हैं जो शहरी हैं। यही प्रेमचन्द का अपना जीवन – दर्शन है।[1]

प्रेमचन्द्र युग के अन्य कथाकार:

सुदर्शन:– इसी समय सुदर्शनी **कमल की बेटी** नामक कहानी प्रकाशित हुई। इसमें भी नयी कहानी – कला निखरकर प्रकट हुई थी। इस प्रकार इस काल में सच्ची आधुनिक कहानियों का जन्म हुआ। कथानक – रूप और शैली की दृष्टि से इन कहानियों ने पुराने ढर्रे की कहानियों में बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया और जीवन के विशाल क्षेत्रों को उद्घाटित किया। फिर तो नये ढंग की कहानियाँ तेजी से लिखी जाने लगीं। इस काल में चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण, शिव – पूजन सहाय, हृदयेश, गोविन्द बल्लभपन्त, ज्वाला दत्त शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, गोपालराम गहमरी, गंगा प्रसाद श्रीवास्तव, वृन्दावन लाल वर्मा, रायकृष्णदास आदि कहानीकारों की रचनायें प्रकाशित हुईं और हिन्दी का कहानी – साहित्य बहुत तेजी से आगे बढ़ा।[2]

उपन्यास साहित्य:

(क) आधुनिक ढंग के उपन्यास:– हिन्दी में आधुनिक ढंग के उपन्यास का लिखना भारतेन्दु – युग से ही आरम्भ हो गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने **पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा** नाम का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास लिखा था। इसमें पूर्णप्रकाश नायक है और चन्द्रप्रभा नायिका। चन्द्रप्रभा का विवाह ढुण्ढ़िराज नामक एक वृद्ध से हुआ था। वृद्ध – विवाह के दोष और कन्याओं की शिक्षा समर्थन इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य है। लेखक के व्यंग्यों और कटाक्षों का भी आश्रय लिया है। इस उपन्यास में भारतेन्दु ने नारी जाति के नवीन अभ्युदय सन्देश दिया, और दीर्घ काल से चली आती हुई सड़ी – गली रूढ़ियों का विरोध

1. हिन्दी साहित्य उद्भव एवं विकास – पृ0 सं0 – 250
2. हिन्दी साहित्य उद्भव एवं विकास – पृ0 सं0 – 245

किया। इस काल में लाला श्री निवास दास का उपन्यास **परीक्षा गुरू** प्रकाशित हुआ, जिसे पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास कहा है। इसका प्रथम संस्करण सन् 1886 ई0 में हुआ था। बाबू राधाकृष्ण दास का **निःसहाय हिन्दू** (1886 ई0) पं0 बालकृष्ण भट्ट का **नूतन ब्रह्मचारी** (1886 ई0) और **सौ अजान और एक सुजान** (1892 ई0) रत्नचन्द्र प्लीडर का **नूतन चरित्र** मेहता लज्जाराम शर्मा का **स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी** (1899 ई0) और **धूर्त रसिककाल** (1899 ई0) गोपालराम गहमरी का का **बड़ा भाई** और **सास पतोहू** (1898 ई0) तथा किशोरी लाल गोस्वामी के **त्रिवेणी** (1889 ई0) **हृदय हारिणी** (1890 ई0) **लवंग लता** (1890 ई0) **सुख शर्वरी** (1891 ई0) आदि उपन्यास इसी समय लिखे गये, जिनमें थोड़ा–बहुत रोमांस और थोड़ा–बहुत नैतिक शिक्षा का दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। इसी काल में राधाचरण गोस्वामी की **विधवा विपत्ति** (1888 ई0) हनुमन्त सिंह की **चन्द्रकला** (1893 ई0) गोकुलनाथ शर्मा की **पुष्पावती** आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई। इस काल के उपन्यास लेखकों पर बंगला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था। कभी – कभी संस्कृत के **कादम्बरी** आदि की शैली पर सुन्दर गद्य – काव्य लिखने का प्रयत्न किया जाता था। पं0 प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, कीर्तिप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा आदि ने बंगला के अनेक उपन्यासों के अनुवाद किये। यह परम्परा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक अबाध रूप से चलती रही। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी गद्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति हो चुकी थी। आधुनिक ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था, नए ढ़ग के निबन्ध लिखे जा रहे थे, वैयक्तिक दृष्टिकोण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, और देश की भिन्न भाषाओं से प्रेरणा लेकर नये –नये साहित्यांगों की सृष्टि का बीज बोया जा चुका था।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0 सं0 – 239

(ख) <u>तिलस्मी उपन्यास</u> :- उन्नसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी में सबसे अधिक प्रभावशाली कथा - साहित्य ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों का था। देवकीनन्दन खत्री के दो उपन्यास **चन्द्रकांता** और **चन्द्रकांता सन्तति** उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे। इन पुस्तकों के अनुकरण पर और भी कई उपन्यास लिखे गए थे। हिन्दी को लोकप्रिय भाषा बनाने में इन उपन्यासों का बहुत बड़ा हाथ है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस प्रकार के घटना - वैचित्र्य - बहुल तिलस्माती उपन्यास लिखे जा रहे थे। उन्हीं से प्रेरणा लेकर इन उपन्यासों की कथावस्तु तैयार की गई थी। इनमें अद्भुत और असाधारण घटनाओं की ऐसी रेल - पेल है कि पाठकों का चित्त धक्का खाकर आगे बढ़ जाता है, उसे कथानक के गठन और चरित्र के विकास की बात याद नहीं रहती। अति प्राकृत, अद्भुत और असाधारण घटनाओं से आश्चर्य जनक परिस्थितियों का निर्माण तिलस्माती कथानकों का प्रधान आकर्षण था। इन कथानकों में 'लकलका' नामक एक प्रकार की मादक वस्तु के प्रयोग का प्रसंग प्रायः आता ही रहता है, जिसके सूँघने से मनुष्य बेहोश हो जाता है। तिलस्माती उपन्यासों का वातावरण भी साहित्यिक 'लकलका' है। वह पाठक को बेहोश और अभिभूत कर देता है; वह कथानक के उद्देश्य गठन और पात्रों के साथ उनके सम्बन्ध की ओर पात्रों के मनोवैज्ञानिक विकास की बात सोंच ही नहीं सकता। इन उपन्यासों ने हिन्दी जगत के चित्त को ऐसे ही मादक वातावरण में डाल रखा था। उपन्यास के वास्तविक रूप से तो इन्होंने इस जनता को परिचित नहीं कराया, परन्तु आधुनिक उपन्यासों की जो सबसे बड़ी विशेषता - मनोरंजन - है, इसे प्राप्त करन की दुर्दम लालसा इन्होंने अवश्य उत्पन्न कर दी।[1]

<u>बंगला उपन्यास और उनकी देन</u> :- बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा से सम्पर्क बहुत पहले से हो चुका था और उन्नीसवीं शताब्दी में उसमें नये ढंग के उपन्यासों की रचना बड़े वेग से होने लगी थी। बंगाल के उन दिनों के सबसे श्रेष्ठ उपन्यास लेखक बंकिम बाबू थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में बंगाल के

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पृ0 सं0 - 240

उपन्यास लेखकों का हिन्दी पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। बंकिम बाबू ने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे हैं ये उपन्यास पुरानी भारतीय कथा – शैली में नहीं किन्तु आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर लिखे गये हैं। इस अद्‌भुत रोमांस – धारा को भारतीय वेश में सजाकर और उसे भारतीय पाठक की मनोवृत्ति के अनुकूल बनाकर बंकिम बाबू ने भारतीय साहित्य में अद्‌भुत क्रान्ति उपस्थित की। उसका प्रभाव बहुत सुदूर व्यापी हुआ। हिन्दी में पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने बंगाली उपन्यासों का अनुवाद आरम्भ किया। बाद में बाबू गदाधर सिंह ने **बंग विजेता** और दुर्गेश नन्दिनी का अनुवाद किया। इसके बाद वंगाली उपन्यासों के अनुवाद का तांता वंघ गया। बाबू राधाकृष्णदास, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, बाबू राम कृष्ण वर्मा आदि प्रतिष्ठित लेखक इस अनुवाद – परम्परा के आदि – प्रवर्तक कहे जायंगे। वंगाली उपन्यास – लेखकों की लचीली भावुकता के साथ पश्चिम से आयी हुई रामांस – परम्परा का ऐसा सुन्दर याग हुआ कि उस काल का समूचा भारतवर्ष उसके सर्वग्रासी प्रभाव की लपट में आ गया। पड़ोसी भाषा होने के कारण हिन्दी पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा।

बंगला उपन्यासां के अनुवाद को हिन्दी जनता ने बड़े चाव से पढ़ा। इस नये ढंग के साहित्य ने तिलस्माती उपन्यासों का रंग फीका कर दिया। उस काल की भाषा पर वंगला के शब्दों, महावरों और वाक्य – गठन तक का प्रभाव पड़ा।

बंगला उपन्यासों ने हिन्दी को एक ओर तो अति प्राकृत, अति रंजित, घटना बहुल ऐय्यारी उपन्यासों के मोहजाल से मुक्त किया और दूसरी ओर शुद्ध भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख किया।

<u>निवन्ध और आलोचना:</u> – पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के स्पष्टवादिता से भरे हुए और नयी प्रेरणा देने वाले निवन्ध यद्यपि बहुत गम्भीर नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन्होंने गम्भीर साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता पहुँचायी। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं की समालाचना – पद्धति यद्यपि बहुत निर्दोष नहीं थी,

परन्तु साहित्य के इतिहास निर्माण में उनके परिश्रम से बहुत सहायता मिली। आगे चलकर जो कुछ भी इस दिशा में कार्य हुआ उसके प्रथम मार्गदर्शक और पुरस्कर्त्ता मिश्रबन्धु ही थे। पण्डित पद्मसिंह शर्मा की चटुल – चपल शैली में लिखी हुई बिहारी को श्रेष्ठ कवि सिद्ध करने वाली समालोचना ने साहित्य को एक बार झकझोर दिया। दीर्घकाल तक उनकी अननुकरणीय शैली का गलत अनुकरण किया जाता रहा। इसी काल में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिभा का अंकुर दिखायी दिया, जो आगे चलकर गम्भीर विचारक और मनीषी समालोचक के रूप में प्रख्यात हुए। शुक्ल जी के गम्भीर चिन्तन – प्रधान निबन्धों ने साहित्य को बहुमूल्य निधि दी। स्वच्छ और सरस शैली के विनोदी लेखक बालमुकुन्द गुप्त, स्फूर्तिदायक गम्भीर विवेचन के लेखों से पाठक को प्रेरणा देने वाले पूर्ण सिंह और सरस भाषा में ज्ञान की अनुसन्धित्सा जगा देने वाले चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इसी काल में दिखायी दिये थे। बाबू श्यामसुन्दर दास ने भी आगे चलकर अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखकर हिन्दी को प्रौढ़ साहित्य की भाषा बनाया। इस प्रकार इस काल में ऐसे अनेक कृती साहित्यकारों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भाषा को समर्थ और साहित्य को समृद्ध बनाया।[1]

<u>काव्य</u> :– द्विवेदी युग के काव्य वैशिष्ट्य का मूल्यांकन करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है कि "1900–1920 तक का काल हिन्दी कविता में नवीन युग ले आने वाला काव्य है। इस समय काव्य की भाषा ब्रज–भाषा से बदलकर खड़ी बोली हो गयी थी। इस युग के प्रतिनिधि कवियों का मूल्यांकन इस प्रकार किया है –

1. <u>हरिऔघ</u> – अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध (1865–1941) और मैथिलीशरण गुप्त (1886–1964) प्रसाद जी ने कुछ और आगे चलकर यश प्राप्त किया, इसीलिए यहाँ उनकी चर्चा नहीं की जा रही है। इनमें हरिऔध जी का प्रिया प्रवास खड़ी बोली में और संस्कृत वृत्तों में संस्कृत महाकाव्यों की शैली पर

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0सं0 – 252

लिखा हुआ महाकाव्य है। यद्यपि इसका बाह्य आवरण संस्कृत के पुराने महाकाव्यों के ढंग का है पर इसका आन्तरिक वक्तव्य–वस्तु काफी नवीन है। अत्यन्त परिचित विषय को कवि ने आधुनिक रूप दिया है। राधा यहाँ अत्यन्त सेवापरायण महिला के रूप में चित्रित हुयी हैं। प्रच्छन्न रूप से कवि के अन्तस्तल में मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने का आदर्श कार्य कर रहा है। इसके चरित्रों में स्वाभाविक रूप से विकसित होने की क्षमता है और सुकुमार स्थलों को निपुणता के साथ – सम्हालने में कवि के अपूर्व कौशल का परिचय मिलता है। यद्यपि हरिऔध जी ने आगे चलकर मुहावरों का प्रयोग दिखाने के उद्देश्य से चौपदे भी लिखे, परन्तु उनका यश प्रधान रूप से **प्रिय – प्रवास** के कारण ही है। भाषा पर उनका वहुत अच्छा अधिकार था। खड़ी बोली को जिन लोगों ने काव्य–भाषा बनने की शक्ति दी है, उनमें हरिऔध जी विशेष सम्मान और गौरव के पात्र हैं। **प्रिय – प्रवास** में सहज संगीत, उदार सेवावृत्ति और समंजस – भाव योजना का बड़ा सुन्दर समावेश है। खड़ी बोली का यह एक प्रकार से प्रथम महाकाव्य था।[1]

2. **मैथिलीशरण गुप्तः** – इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि मैथिली शरण गुप्त थे। इन्होंने काव्य में खड़ी बोली का बड़ा सफल प्रयोग किया। खड़ी बोली की प्रकृति को वे शुरू में ही पहचान गये थे। कुछ न कुछ संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी वे कविता अवश्य लिखते रहते थे, परन्तु उनके सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य **भारत भारती** और **जयद्रथ वध**, हरिगीतिका छन्दों में लिखे गये थे। इस छन्द पर उन्होंने अपनी छाप लगा दी। **भारत – भारती** में प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति कवि की आस्था व्यक्त हुई है। उसमें आर्य – समाज के तत्कालीन आन्दोलन का प्रभाव है। फिर भी कवि ने भविष्य के लिए आशा का सन्देश दिया है। **भारत – भारती** ने तत्कालीन शिक्षित जन – चित्त की आशा – आकांक्षा को दुर्भिक्षित रहने से वचाया। इसने किसी बड़े आदर्श को

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास – पृ0सं0 253 – 54

प्रतिष्ठित तो नहीं किया, लेकिन जन – चित्त को उसके प्राचीन गौरव की कहानी सुनाकर सजग और साकांक्ष बनाया। **भारत – भारती** ने उन दिनों विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिन्दी भाषी प्रदेश को उद्बुद्ध और प्रेरित करने में इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया। तब से गुप्त जी को लोक – चित्त में राष्ट्र प्रीति की भावना जगाने वाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिन्दी – जगत देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि हैं। **भारत – भारती** सही अर्थों में **भारत – भारती** हो सकी है। परन्तु गुप्त जी का कवित्व **जयद्रथ वध, पंचवटी** आदि काव्यों में अधिक व्यक्त हुआ। बाद में उनका यश उनके **साकेत** नामक महाकाव्य और **यशोधरा** और द्वापरनामक गीतिकाव्यात्मक प्रबन्ध काव्यों में अधिक निखरा। इन सब ग्रन्थों में गुप्त जी मर्यादा प्रेमी भारतीय कवि के रूप में हीआये हैं। उनके ग्रन्थों के सुपात्र पारिवारिक व्यक्ति हैं। भारतवर्ष के सभी मर्यादा – प्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं। गुप्त जी में वह परम्परा पूरी मात्रा में उतरी है।[1]

3. <u>अन्य कवि:</u> – सन् 1980 ई0 से 1920 तक के काल में कई अन्य कवियों ने प्रकृति – प्रेम, स्वच्छन्द प्रेमधारा ओर वैयक्तिक स्वातन्त्रा के वातावरण तैयार करने में महत्वपूर्ण कार्य किया। श्रीधर पाठक (1859–1928 ई0) के काव्यों नें प्रकृति प्रेम और स्वच्छन्द प्रेमधारा को पोषण दिया और राम नरेश त्रिपाठी के **मिलन**, **'पथिक'** आदि काव्यों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का अस्फुट विकास हुआ। श्री सियारामशरण गुप्त की चिन्तनशील कविताओं में वैयक्तिकवादी दृष्टिकोण के स्पष्ट आकार धारण करने की कहानी है और मुकुटधर पाण्डेय तथा गोपाल शरण सिंह की रचनाओं में वैयक्तिक दृष्टिकोण के प्रेममधुर रूप का विकास हुआ। कविवर माखन लाल चतुर्वेदी की नवीन राष्ट्रीय भावना को महनीय गौरव और पूजा की महिमा देने वाली कविताओं से भी भाव वैयक्तिकतावादी कवियों का मार्ग प्रशस्त हुआ।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 254
2. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 255

अध्याय – 8

आधुनिक काव्य धारा एवं आचार्य द्विवेदी

' छायावाद '

छायावाद का नामकरण एवं स्वरूप :

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल का तृतीय उत्थान छायावाद युग के नाम से जाना जाता है। द्विवेदी युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का रूप–रंग परिवर्तित हुआ और उसके बाद जिन प्रमुख प्रवृत्तियों को प्राधान्य मिला वे छायावाद युग की थीं। इन प्रमुख प्रवृत्तियों के विकास का संक्षिप्त अध्ययन हम उस युग की विविध परिस्थितियों के बीच कर चुके हैं। द्विवेदी युग की इवृत्तात्मकता, स्थूल दृष्टि एवं साहित्यिक मान रूढ़िग्रस्त हो गये और नवीन सूक्ष्म शैली सौन्दर्यशाली दृष्टि का विकास हुआ। इसी विशेषता को लक्ष्य करके कुछ आलोचकों ने छायावाद की परिभाषा करने का भी प्रयत्न किया है। किन्तु इतना ही नहीं छायावाद के प्रादुर्भाव में द्विवेदी युग का जितना योग प्रतीत होता है उससे कहीं अधिक साहित्य की अखण्ड धारा का विकास है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के पंचम उत्थान तक एक ही धारा प्रवाहित हो रही है जो साहित्य की संजीवन धारा है। इसीलिए छायावाद में शृंगारकाल की कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों का आधुनिक रूप है, जैसे सौन्दर्य और प्रेम। यों तो सौन्दर्य साहित्य के मूल में सदैव से ही रहा है, क्योंकि सौन्दर्य निरीक्षण से मनुष्य के हृदय को उस परम – प्रेममय का रूप उद्भासित होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति की चेतना की वह उठान है जिसमें वह उस परम सत्य को सर्वश्रेष्ठ रूप में देखना चाहता है। यही सौन्दर्यवादी दृष्टि छायावादी साहित्य में प्रधान एवं अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रकट हुई।[1]

इसी नवीन प्रकार की कविता को किसी ने छायावाद नाम दे दिया है यह

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृ0 सं0 : 475

शब्द बिलकुल नया है। यह भ्रम ही है कि इस प्रकार के काव्यों को बंगला में छायावाद कहा जाता था और वहीं से यह शब्द हिन्दी में आया है। **छायावाद** शब्द केवल चल पड़ने के जोर से ही स्वीकारणीय हो सका है नहीं तो इस श्रेणी की कविता की प्रकृति को प्रकट करने में यह शब्द एकदम असमर्थ है। बहुत दिनों तक इस काव्य का उपहास किया गया है और बाद में भी इसे या तो चित्रभाषा – शैली या प्रतीक – पद्धति के रूप में माना गया, या फिर रहस्यवाद के अर्थ में। उपहास और व्यंग्यों का काफी विस्तृत साहित्य सूचित करता है कि औसत श्रेणी के सहृदय को इस कविता की महत्ता स्वीकार करने में समय लगा है वह पहले इसे एकदम नवीन और अवांछनीय वस्तु समझता रहा। शैलीरूप में इसे स्वीकार करने वालों के मन में भी इस श्रेणी की कविता के विषय में विशेष गौरव का भाव नहीं है।

छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए बिना विचारे ही दे दिया गया था (क) जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी (ख) जो वक्तव्य – विषय को कवि की चिन्तन और अनुभूति के रंग में रंगकर अभिव्यक्त करती थी (ग) जिसमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, और विश्वासों के बदले हुए और मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी। (घ) जिनमें छन्द, अलंकार, रस ताल तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था और (ड़) जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखायी गई थी (2) छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था, यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिन्ह स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था, कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा – शैली में अपने को अभिव्यक्त किया और (3) सभी उल्लेख योग कवियों में थोड़ी बहुत अध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी। जिन कवियों ने शास्त्रीय और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव दिखाया, उनके उस भाव का कारण तीव्र सांस्कृतिक चेतना ही थी।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास : पृ0 सं0 : 266

छायावादी की परिस्थितियाँ

राजनीतिक : जिन दिनों हिन्दी कविता नये रास्तों के मुड़ने की तेयारी कर रही थी उन्हीं दिनों प्रथम महायुद्ध के बादल घुमड़ रहे थे। सन् 1914 ई0 में प्रथम विश्व महायुद्ध छिड़ा। पाँच वर्षों के घोर घमासान में बहुत सी पुरानी मान्यताएं घायल हुई बहुत सी चल बसीं, और बहुत सी नयी मान्यतायें अंकुरित हो गयीं। व्यावसयिक क्रान्ति ने जिस वेयक्तिक स्वाधीनता के आन्दोलन को उत्पन्न किया था, उसकी परिणिति बहुत अच्छी नही हुई। सामन्ती शासन तो इंगलेण्ड स तथा अन्य यूरोपीय देशों से भी उठ गया लेकिन पेसा सिमटकर कुछ थोड़ लोगों क हाथ में आ गया।[1]

सांस्कृतिक :– युन्द्ध के बाद दखा गया कि श्वत जातियां की बहु प्रचारित श्रष्ठता का दावा झूठा था, राष्ट्रीयता के मोहन मन्त्र से सारे देश को एक करन के प्रयत्न म कुछ थोड़ स धनकुवरों का स्वार्थ ही प्रबल हेतु था और उपनिवशा के लागों को सभ्य शासनक्षम बनाने की प्रतिज्ञाएं भौड़ – मजाक से अधिक वजनदार नहीं थी। भारतवर्ष न इस मजाक की मर्म – व्यथा सबस अधिक अनुभव की। उसकी सभ्यता बहुत पुरानी थी, उसकी संस्कृति बहुत उदार थी और उसक एतिहासिक अनुभव विशाल थे। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होत – हात सार देश में नयी चेतना की लहर दोड़ गयी। सन् 1920 ई0 म महात्मा गाँधी क नतृत्व म भारतवर्ष विदेशी गुलामी को झाड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध हा गया। असहयाग आन्दालन इसी प्रयत्न का राजनीतिक मूर्त्त रूप था। इस सिर्फ राजनीतिक तक ही सीमित न समझना चाहिए। यह सम्पूर्ण दश का आत्म स्वरूप समझन का प्रयत्न था और अपनी गलतियों को सुधारकर संसार की समृद्ध जातियां की प्रतिद्वन्दिता म अग्रसर होने का संकल्प था। संक्षप म यह एक मलन सांस्कृतिक आन्दोलन था। उस समय देश की

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 258 – 59

स्वाधीनता को केवल देश को महान बनाने का साधन – भर समझा गया था। आधुनिक काल में आत्मविश्वास की ऐसी प्रचण्ड लहर इसके पूर्व कभी देश में नहीं दिखायी पड़ी थी। जनता का जो भाग पिछड़ा हुआ था, जो पर्दे में कैद था, जो अपमानित ओर उपेक्षित था, उसके प्रति सामूहिक रूप से सहानुभूति का भाव उत्पन्न हुआ।[1]

शैक्षणिक परिस्थितियाँ: देश में जिस नवीन शिक्षा – पद्धति का प्रवर्तन हुआ था वह एक ओर जहाँ पुराने संस्कारों से विद्यार्थी का सम्पर्क ही बहुत कम होने देती थी, वहाँ दूसरी ओर जड़ – विज्ञान ओर मानवतावादी तत्त्ववाद आधारित काव्य – दर्शन ओर नीति – विज्ञान की पढ़ाई के द्वारा विद्यार्थी को एक दम नये मूल्यों की दुनिया में उठा ले जाती थी। इस प्रकार हिन्दी भाषा प्रदेशों में वह शिक्षित समाज तेयार होने लगा था जिसके चित्त पर प्राचीनता का कोई संस्कार नहीं था ओर नवीन मान्यताओं ओर मूल्यों का बहुत मान था। इस शिक्षा – पद्धति से शिक्षित नवयुवक अपने देश में ही अजनबी सा था। उसके चित्त में रोमाण्टिक अंग्रेजी साहित्य के व्यक्तिवाद की छाप थी परन्तु बाह्य जगत में उसका कोई सामंजस्य नहीं था। वह नवीन मूल्यों को अपनी भाषा में व्यक्त भी नहीं कर पाता था। संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अन्तर्द्वन्द का काल था।[2]

3. छायावाद की विशेषतायें–

1. विषयी प्रधान कविता – जब कवि की दृष्टि वक्तव्य – वस्तु पर निबद्ध होती हे तो कविता विषय – प्रधान हो जाती है। उसमें कवि के राग – विरागों को यथा – सम्भव कम योग रहता हे। वह विषय को जेसा हे – वेसा, या जेसा होना चाहिये – वेसा (यथार्थ या आदर्श रूप में) दिखाकर चित्रित करता हे। इस श्रेणी की कविता के लिए मेथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था कि उत्तम काव्य लिखना चाहते हो तो उत्तम विषय चुनो। सन् 1900 – 20 ई0 की खड़ी बोली की कविता में

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्भव ओर विकास पृ0 सं0 – 258 – 59
2. हिन्दी साहित्य उद्भव ओर विकास पृ0 सं0 – 260

विषय वस्तु की प्रधानता बनी हुई थी। परन्तु इसके बाद की कविता में कवि के अपने राग – विराग की प्रधानता हो गयी। विषय अपने – आप में केसा है, यह मुख्य बात नहीं थी, बल्कि मुख्य बात यह रह गयी थी कि विषयी (कवि) के चित्त राग – विराग से अनुरंजित होने के बाद वह केसा दिखता है। विषय इसमें गौण हो गया, विषयी (कवि) प्रधान ।

2. कल्पना: कल्पना की अवस्था में उस युग का कवि वर्तमान जगत की अनुकूल ओर विसदृश परिस्थितियों से ऊबकर एक अनुकूल ओर मनोरम जगत् की सृष्टि करता है। वह युग ऐसा बीता है जब संसार के साहित्य में कल्पना का अखण्ड राज्य रहा है। कवि इस दुनिया के समान्तर धरातल पर ही एक ऐसी दुनिया की सृष्टि करता था जहाँ प्रमी ओर प्रेमिकायें तो हमारे जेसी ही होती थीं; पर वहाँ के कायद – कानून अलग ढंग से होते थे ओर स्वच्छन्द प्रेम में जो सहस्त्रों बाधायें इस जगत् में अपने – आप खड़ी हो जाती हैं, वहाँ नहीं होती थीं।[1]

3. चिन्तन: परन्तु जब कवि चिन्तन की अवस्था में पहुँचता है तो वह प्राय: कल्पना की अवस्था आयत्त कर चुका होता है। इसीलिए वह किसी चीज को शुद्ध मनीषी की भाँति न देखकर उस पर कल्पना का आवरण डालकर देखता है। दिगन्त के एक छोर से दूसरे छोर तक फेले हुए नील नभामण्डल, मणियों के समान ग्रहनक्षत्र ओर चन्द्रिकाधोत धारित्री को देखकर वह कभी कुछ भी चिन्तन क्यों न करे, एक बार श्वेतवस्त्रधारिणी विततकेशी, भूरिभूषण सुन्दरी या प्रिय – वियोग में कातर, खण्डिता रजनी या इसी प्रकार की कल्पना किये बिना नहीं रहता। कारण यह है कि कवि का प्रयमिक कर्त्तव्य बिम्ब ग्रहण कराना है ओर उसका साधन अप्रस्तुत विधान है। इसके बिन कवि मनोरम भाव को हृदयकारी बनाकर अपना वक्तव्य कह ही नहीं सकता। अप्रस्तुत विधान के समय कवि की कल्पना वृत्ति सतह पर आ गयी होती है। वस्तुत: चिन्ता करते समय भी कवि वेज्ञानिक की भाँति तथ्य का विश्लेषण नहीं करता होता, बल्कि सत्य को सुन्दर करके रखने का प्रयास करता है।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 263
2. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 263

4. **अनुभूतिः** कवि अपने सीमित व्यक्तित्व में जिस सुख – दुख का अनुभव प्राप्त किये होता है, उसे वह जब कल्पना के साहाय्य से, छन्द अलंकार आदि के संयोग से ओर निखिल विश्व की मर्म – व्यथा की चिन्ता करके सर्वसाधारण को ग्रहण योग्य बनाकर प्रकट करता है, तो उसे हम अनुभूति – अवस्था कहते हैं। इस कविता में कवि अपने सीमित सुख – दुख को असीम जगत में अनुभव करता है। इस प्रकार चिन्तन की अवस्था में कवि संसार को देखता है: और सोचता है कि यह सब क्या हो रहा है। केसे चल रहा है और क्या चल रहा है? अनुभूति की अवस्था में वह अनुभव करता है कि "वह क्या हो गया है, कोन सी वेदना या उल्लास, विषाद या हर्ष संसार को किस रूप में परिणित कर रहा है? कल्पना की अवस्था में वह इस जगत के समानान्तर जगत की सृष्टि करता है, जिसमें इस जगत की असुन्दरतायें ओर विसदृशतायें नहीं रहतीं पर अनुभूति की अवस्था में उसके पेर इस दुनिया पर ही जमे रहते हैं वह इसे छोड़ नहीं सकता।[1]

4. <u>छायावादी कविता का प्राणतत्त्वः–</u>

1. **सोन्दर्य चेतनाः** मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले कवि के चित्त में उन काव्य रूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता, जो दीर्घकालीन परम्परा ओर रीतिबद्ध चिन्तन – पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती हे ओर कल्पना के अविरल प्रवाह में तथा आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति में अन्तराय उपस्थित करती हैं। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सोन्दर्य की नयी दृष्टि मिलती हे, क्योंकि मानवीय आचारों ओर क्रियाओं के मूल्य में अन्तर आ जाता है। इस अवस्था में सोन्दर्य केवल बाह्य रूप में नहीं रहता, बल्कि आन्तरिक सोन्दर्य ओर मानस – संगठन में भी व्यक्त होता है। सोन्दर्य के बंधे – संधे आयोजनों घिसे – घिसाये उपमानों ओर पिटी – पिटायी उत्प्रेक्षाओं पर आधारित चिन्तन – शून्य काव्य रूढ़ियों से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मापदण्ड से सब कुछ को देखता हे ओर फिर कल्पना के अविरल प्रवाह से धन – संश्लिष्ट आवेगों की वह उर्वरभूमि प्रस्तुत होती है, जो रोमाण्टिक या स्वच्छन्दतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना, अनुभूति ओर <u>चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वेयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुच्छित</u>

अभिव्यक्ति – बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के स्वयं निकल पड़ा हुआ भावर – स्रोत ही छायावादी कविता का प्राण है।[1]

2. **प्रगीत मुक्तकः** पुराने मुक्तकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उन प्राचीन मुक्तकों में कवि की कल्ना कुछ ऐसे शास्त्ररूढ़ व्यापारों की योजना करती थी जिनसे किसी रस या भाव की व्यंजना सुकर हो। आधुनिक प्रगीत मुक्तक कवि के भावावेग के क्षणों की रचना होते हैं, उनमें गीत का सहज और हल्की गति होती है। इनकी गुलदस्तों के साथ तुलना नहीं की जा सकती। ये विछिन्न जीवन – चित्र होने पर भी प्रवाहशील होते हैं और इनमें शास्त्र प्रसिद्ध व्यापार योजना की आवश्यकता नहीं होती। पुराने रूपकों में कवि – कल्पना की समाहार शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी पर आधुनिक मुक्तकों में कवि का भावावेग ही प्रधान होता है। आजकल के प्रगीत मुक्तकों में यद्यपि व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्राधान्य है तो भी वे इसलिए हमारे चित्त में आनन्द का संचार नहीं करते कि वे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति है, बल्कि इसलिए कि वे हमारी अपनी अनुभूतियों को जाग्रत करते हैं। जो बात हमारे मन को आनन्द से तरंगित कर देती है वही हमारी **अपनी** होती है। इसलिए यद्यपि आज के अच्छे मुक्तक लेखक कवि की विषयग्रहिता परम्परा – समर्थित न होकर आत्मानुभूतिमूलक है, तथापि वह पाठक के भीतर पहले से ही वासना – रूप में स्थित भावों को उद्‌भुद्ध करके ही रस – संचार करती है।[2]

5. **छायावाद के प्रमुख कवि –**

1. **सुमित्रानन्दन पंत –** (जन्म 1900 ई0) की आरम्भिक कवितायें सच्चे अर्थों में छायावादी रही हैं। इनका प्रथम काव्य – संग्रह "पल्लव" बिल्कुल नये काव्य गुणों को लेकर हिन्दी साहित्य – जगत में आया। इस पुस्तक में प्रकृति और मानव के सौन्दर्य के प्रति अत्यन्त कोमल मनोभाव ने कवि को कहीं भी बहकने नहीं दिया है। "पल्लव" की कविताओं की अपेक्षा उनकी भूमिका का महत्त्व कम नहीं है। इस भूमिका ने न केवल पंत की कविताओं को और उसकी विवेचन –

---

1. **हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 266**
2. **हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 265**

शक्ति का महत्त्व स्पष्ट किया था बल्कि समूची छायावादी कविता के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया था। इस भूमिका से पंत की उस महत्त्वपूर्ण बोद्धिक प्रक्रिया का पता लगता हे जिसके द्वारा उन्होंने शब्दों की प्रकृति उनकी अर्थबोधन – क्षमता, उनके अर्थो के भेदक पहलुओं की विशिष्टिता छन्दों की प्रकृति, तुक और ताल का महत्त्व आदि को समझा था और समझने के बाद काव्य में प्रयोग किया था। शब्दों और अर्थो की इस विवेचना ने नवशिक्षित सहृदय के चित्त में इस नयी कविता के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न किया और युवकों को नये सिरे से सोचने की शक्ति दी।[1]

2. **निराला:** सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का जन्म (1896 ई0) बंगाल में हुआ था। उनकी शिक्षा भी बंगला से ही आरम्भ हुई थी। उन्होंने तत्कालीन बंगला साहित्य की स्वच्छन्छदतावादी और रहस्यवादी कविताओं का अच्छा अध्ययन किया था। वे आरम्भ से ही विद्रोही कवि के रूप में हिन्दी में दिखायी पड़े। गतानुगतिकता के प्रति तीव्र विद्रोह उनकी कविताओं में आदि से अन्त तक बना रहा। व्यक्तित्व की जेसी निर्बाध अभिव्यक्ति उनकी रचना में हुई वेसी अन्य छायावादी कवियों में नहीं हुयी। न तो उन्होंने भावों को कामल करने का प्रयत्न किया हे न उनकी समंजय यांजना के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति दिखाई है। सर्वत्र व्यक्तित्व की अत्यन्त पुरुष – अभिव्यक्ति ही निराला की कविताओं को प्रधान आकर्षण हे। फिर भी विरोधाभास यह है कि निराला में अपने व्यक्तित्व को सबसे अलग करके अभिव्यक्त की चेतना सबसे कम है। निराला की प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने कवितायें तो लिखी ही है, निबन्ध, आलोचना, उपन्यास आदि भी लिखे हें। व्यंग्य ओर कटाक्ष को वे प्रायः नहीं भूलते। लेकिन कथाकाव्य के प्रति उनका झुकाव पंत से अधिक है। उनकी अधिकाँश सर्वोत्तम कविताओं में किसी न किसी प्रकार की कथा का आश्रय लिया गया है। कथानक की घटनाओं की पूर्वापरता उनके उमड़ते हुए आवेगों पर अंकुश का काम करती है। अनुभूति की तीव्रता के कारण ये आवेग बहुत वेगवान होकर प्रकट हुये हें, पर कोमलीकरण

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव ओर विकास – पृ0 सं0 – 267

समंजस योजना का छन्दोबन्ध की चेतना के अभाव में उनमें कोई अंकुश नहीं है। यही कारण है कि विशुद्ध गीति – काव्यात्मक रचनाओं में निराला के बहक जाने की आशंका बराबर बनी रहती है। यह ध्यान देने की बात है कि निरालाजी के आरम्भिक प्रयोग छन्द के बन्धन से मुक्ति पाने का अथक प्रयास है। छन्द के बन्धनों के प्रति विद्रोह करके उन्होंने उस मध्ययुगीन मनोवृत्ति पर ही पहला आघात किया था, जो छन्द ओर कविता को प्रायः सामानार्थक समझने लगी थी। कविता भाव प्रधान होती है, छन्द उसके रूप में सहायता करता है। छन्द के बन्धन को अस्वीकार करने वाला कवि कविता के उन समस्त प्रसाधनों के प्रति अनास्था प्रकट करता है जो काव्य में संगीत के गुण भरा करते हैं ओर इस प्रकार काव्य को अलोकिक बनाया करते हैं। **"तुलसीदास"**, **"राम की शक्ति पूजा"** ओर **"सरोज स्मृति"** जेसी कविताएं उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ हैं। इनमें भाषा का अद्‌भुत प्रवाह पाठक को निरन्तर व्यस्त बनाये रहता है। कल्पना यहाँ आवेगों के सामने फीकी लगती है। किन्तु स्फुट गीतों में निराला को ऐसा अवकाश नहीं मिलता। **गीतिका** के गीत ठूंठ हो गये हैं और दुर्बोध तो हैं ही।

निराला की रचनायें साधारण पाठकों को दुर्बोध मालूम होती हैं, उनके प्रशसकों को भी कभी – कभी दुरूह लगती हैं। इसका कारण यह है कि कवि अपने सम्बन्धित दूसरी बात याद आ जाती है। कवि अपने आवेगों पर अंकुश नहीं रख सकता। अंकुश वह रख सकता है जो भावों को सजाने ओर सुघड़ बनाने का प्रयास करता है।[1]

3. **प्रसादः** जयशंकर प्रसाद इन कवियों में बहुत पहले से साहित्य क्षेत्र में परिचित थे। उनकी आरम्भिक रचनाओं में अतीत के प्रति एक प्रकार की मोहकता ओर मादकता से भरी हुई आसक्ति मिलती है। उनके कई परवर्ती नाटकों में यह भाव स्पष्ट हुआ है। "चित्राधर" "कानन–कुसुम" आदि रचनाओं को पढ़ने से लगता है जेसे कवि कुछ कहना चाहता है पर कह नहीं पाता। प्रसाद अन्य

---

1. **हिन्दी साहित्य उद्‌भव ओर विकास पृ0 सं0 – 270**

छायावादी कवियों से इस बात में शुरू से ही अलग है। अन्य कवियों ने अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को स्वछन्दता के साथ प्रकट किया, जबकि प्रसाद ने उन पर अंकुश रखा। एक प्रकार की झिझक और संकोच का भाव उनकी **आँसू** तक की सभी कविताओं में मिलता है। ऐसा लगता है कि कवि को भय है कि उसके मन में जो भाव उमड़ रहे हैं, जो वेदना संचित है वह यदि एकाएक अपने अनावृत रूप में प्रकट हो जायेगी तो पाठक उसकी कद्र नहीं कर सकेंगे। कवि की धारणा है कि उसका पाठक अभी इस परिस्थिति में नहीं है कि उसके भावों को ठीक–ठीक समझ सके और सहानुभूति के साथ उन्हें देख सके। उनकी कविताओं के सम्बन्ध में जो आलोचनायें निकल रही थीं उनका भी उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला होगा। **झरना** की रचनायें कुछ अधिक स्पष्ट हे परन्तु उनमें भी छेड़ो मत यह सुख का कण हे जेसी पंक्तियों में कवि की झिझक व्यक्त हुई है। **आँसू** की रचनाओं में कवि ने अपने विचारों को कुछ दार्शनिकता का आवरण पहनाया है। आगे चलकर उनकी यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी है। **कामायनी** उनके गहन चिन्तन, मनन और अनुभूति का फल है। उसमें विचारों की स्पष्टता और भावों का सज्जन प्रकाशन बिना किसी संकोच के हुआ है। **कामायनी** में कवि अपने भावावेगों पर कम से कम पर्दा डालता है।[1]

4. **महादेवी:** महादेवी वर्मा (जन्म 1907 ई0) की कविताओं में प्रसाद की भाँति ही एक प्रकार का संकोच है। ये भी प्रतीकों के माध्यम से और सतर्क लाक्षणिकता के सहारे अपने भावावेगों को दबाती है। लाक्षणिकता वक्रता और मनोवृत्तियों की मूर्त्त योजना में ये प्रसाद के समान ही है फिर भी प्रसाद की वक्रता में जितनी स्पष्टता है उतनी भी इनकी आरम्भिक रचनाओं में नहीं है। दोनों के मानसिक गठन और वक्तव्य के प्रति पहुँच में भेद है। प्रसाद जी आरम्भ से ही कुछ – व्रत्तिक है, वे रूपक को दूर तक घसीट और सम्हालकर ले जाने की क्षमता रखते हैं। महादेवी शुरू से ही अत्यधि संवेदनशील है उनमें

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्‌भव और विकास : पृ0 सं0 – 271

अनुभूति की तीव्रता **प्रसाद** से अधिक है इसलिए वे **प्रसाद** के समान लम्बे रूपको का निर्वाह नहीं कर पाती। वे पूर्ण रूप से गीति काव्यात्मक प्रकृति की है। बहुत जल्दी उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लिया। **नीहार** के बाद रचनाओं में उनका रहस्यवादी रूप प्रकट हुआ। यह समूचा बाह्य जगत किसी **चिरन्तन** प्रिय की लीला – भूमि है। प्रसाद जी लीला – कल्पना में सदा विराट् की अनुभूति – असीन का स्पन्दन प्रकट होता रहता है महादेवी जी की कविताओं में **चिरन्तन** ओर **असीम** प्रिय अत्यन्त कोमल, मोहन ओर उत्सुक प्रणयी के रूप में चित्रित हुआ है। यहाँ की सारी प्रकृति प्रतीक्षा में सजग और उत्सुक दिखायी पड़ती है। महादेवी की यह रहस्यवादी भावना सम्पूर्ण रूप स वेयक्तिक है। यह फिर स्पष्ट कर देना उचित है कि काव्य में **वेयक्तिक** से तात्पर्य यह नहीं है कि कवि के व्यक्तिगत दु:ख – सुख का समाचार हमें मिलता है बल्कि वेयक्तिकता का तात्पर्य यह है कि कवि ने जिन भावों का सर्वसाधारण भाव बना दिया है वे शुरू शुरू में उसके अपने राग – विरागों और मनननिदिध्यासन द्वारा अनुरंजित चित्त में उपस्थित हुए थे। काव्य में प्रकट होने के बाद वे कवि के नहीं सहृदय – मात्र के अपने भाव बन जाते है। व्यक्तिगत अनुभूतियों की तीव्रता और मर्मस्पर्शिता में महादवी की रचनाए अपूर्व हैं। वे पाठक के चित्त में वेदना की अनुभूति भरती है ओर खोयी हुई वस्तु के मिल जाने की आशा से उत्पन्न होने वाले उल्लास का वातावरण उत्पन्न करती है।[1]

5. **बालकृष्ण शर्मा** :– छायावाद की मूल अवधारणा से पृथक् किन्तु विश्वासों में सम्पूर्ण स्वच्छन्दतावादी फक्कड़ कवि बालकृष्ण शर्मा की उद्दाम आवेगों वाली कविताएं इसी काल में लिखी गयीं। नवीन जी राजनीतिक कार्यकर्ता रहे। उनका जीवन राजनीति के कशमकश में बीता। उन्हें छायावाद की साहित्यिक क्रचकचाहट में पड़ने की फुरसत नही थी। राजनीति संघर्ष से फुरसत पाने पर वे कविता

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 –274

लिखते थे। उन कविताओं में सच्चे रोमांटिक कवि की भाँति वे कल्पना के पंख फैलाकर भाव के आकाश में उड़ान लेते हैं। सब कुछ को छोड़कर आगे बढ़ जाने की घर फूँक मस्ती से उनकी रचनाएं आकण्ठ भरी हुयी है।

6. **सियाराम शरण** :– छायावाद काल में जो कवि अपने ढ़ग से आगे बढ़ रहे थे, उनमें सबसे श्रेष्ठ सियारामशरण गुप्त (जन्म 1896 ई0) है। इनमें भी व्यक्तिगत चिन्तन ओर अनुभूति है ओर एक प्रकार से छायावादी कविता के बाह्य वृत्त इनकी कविता सटी हुई कही जा सकती है परन्तु सियारामशरण जी रचनाओं में एक प्रकार की सावधानी ओर सतर्कता है, जो छायावादी कविता में नहीं पायी जाती। कल्पना के साथ भावावेगों का घनिष्ठ योग भी इनकी रचना का प्रधान गुण नहीं है। ये चिन्तनशील कवि हैं। ये उन कवियों में हैं जिन्हें मनुष्य के विकास ने प्रभावित किया हे ओर जो मनुष्य के प्रति विसदृश ओर अमानवीय व्यवहारों से अत्यधिक विचलित हो जाते हैं। सहानुभूति से भरा हुआ हृदय, मानवीय सद्गुणों की विजय में विश्वास के कारण दृढ़ आस्था–सम्पन्न मन ओर संसार के प्रति अनासक्त जिज्ञासा द्वारा शोधित बुद्धि उनके काव्यों के मूल में हे। गाँधी जी के विचारों का प्रभाव उन पर बहुत अधिक पड़ा है। मनुष्य के लिए वे साधन ओर साध्य दोनों की पवित्रता के सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित हें उनकी अनेक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें कविता निबन्ध ओर उपन्यास भी हे। श्री सियाराम जी सच्चे अर्थों में मानवीय संस्कृति के कवि हें। उनकी साहित्य – साधना उनके जीवन के अनुभूत तथ्यों पर आधारित हे।[1]

6. **गुरभक्त सिंह** :– इस काल में एक ओर कवि ने सहृदयों के हृदय में घर किया था। ये हें **नूरजहाँ** तथा अन्य कई काव्यों के प्रसिद्ध कवि गुरभक्त सिंह **भक्त**। इनकीरचनाओं में प्रकृति का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ

---

1. **हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 274 – 75**

है। उस काल में किसी कवि ने प्रकृति को इतनी बारीकी से नहीं देखा। प्राकृतिक दृश्यों में व्यौरेवार वर्णनों के द्वारा ये यथार्थ वादी वातावरण प्रस्तुत करते हैं। **नूरजहाँ** में जहाँ प्रकृति का चित्रण हुआ है वहाँ इसी श्रेणी का वातारण मिलता है। वैसे **नूरजहाँ**में उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक उपन्यासों की शैली का प्रयोग हैऔर वह पद्यपद्ध उपन्यास के समान ही है। काव्य के रोमांटिक वातावरण के साथ प्रकृति के व्यौरेवार वर्णनों से एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है जो हिन्दी पाठक के लिए बहुत परिचित नहीं है। इसीलिए इस काव्य में एक प्रकार के अपरिचित दर्शन का औत्सुक्य और उल्लास प्राप्त होता है। **भक्त** की रचनाएं भी अनेक हैं। उनका काव्य **विक्रमादित्य** भी प्रकाशित है।[1]

7. <u>**भगवती चरण वर्मा**</u> :- भगवती चरण वर्मा (जन्म 1903 ई0) में हुआ। शुरू - शुरू में छायावादी कवियों में जो झिझक और संकोच का भाव दिखायी दिया था उसका कोई आभास उनकी कविताओं में नहीं है। वे प्रेम और यौवन के उल्लास के गान गाते समय किसी प्रकार के तत्ववादी आवरण चढ़ाने में विश्वास नहीं करते। वे अनासक्त भोक्ता की भाषा में सुन्दर के सौन्दर्य की महिमा और अपनी मस्ती के गान गाते है। उनकी इस असंकुचित और आत्मकेन्द्री मस्ती ने सहृदयों को आकृष्ट किया था। बाद में चलकर उनकी प्रतिभा उपन्यासों में व्यक्त हुई। वहाँ उनकी मूल प्रवृत्ति ज्यों की त्यों की बनी रही।

8. <u>**बच्चन**</u> :- मस्ती और मौज के दूसरे कवि हरिवंशराय **'बच्चन'** (जन्म 1907 ई0) है। जीवन की क्षणिक सत्ता को किसी झिझक और संकोच में ही काट देना ठीक नहीं, इसको परिपूर्ण करने के लिए सौन्दर्य का मादक आसव आवश्यक है। **बच्चन** ने

---

1. **हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0** : 275

उमर ख्य्याम की भाँति इस मिट्टी के तन और मिट्टी के मन को सौन्दर्य और प्रेम की मदिरा से सार्थक वनाने के गान गाये। इनकी कविता में जो मादकता थी, उसने सहृदयों को आकृष्ट किया। छायावादी कवियों ने लाक्षणिकता वक्रता से भाषा को दुरूह बना दिया था, **बच्चन** ने उसे इस वक्रीभंगिमा से बचाया। सहज सीधी भाषा में, सहज सीधी शैली में, अपनी बात कहने के कारण **बच्चन** बहुत ही लोकप्रिय हुये। **निशानिमन्त्रण** में उनकी अनुभूतियों की तीव्रता और भावों की सान्द्रता ने उन्हें सहृदयों का प्रशंसाभाजन बनाया। **बच्चन** की कविता में जिस क्षणिक उल्लास की मस्ती का प्रचार किया गया था। उससे कुछ लोग अप्रसन्न भी थे। शायद उपहास के लिए ही शुरू – शुरू में इसे **हालावाद** नाम दिया गया था। वस्तुतः यह **हाला** एक प्रतीक मात्र है जो तत्कालीन प्रचलित झूठी आध्यात्मिकता के प्रतिवाद का एक प्रतीक मात्र था। मूलतः **बच्चन** की कविता मस्ती, उमंग और उल्लास की कविता है। अनुभूतियों की तीव्रता भी उसका एक विशिष्ट गुण है। जबसे वह उल्लास और उमंग का वातावरण क्षीण हो गया तब से **बच्चन** की कविता की लोकप्रियता भी घट गयी।[1]

10. <u>दिनकर</u> :– मस्ती के तीसरे कवि **रामधारी सिंह 'दिनकर'** (जन्म 1908 ई0) है। कल्पना की ऊँची उड़ान, विसदृश परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की उमंग और समाजिक चेतना की तीव्रता के कारण **दिनकर** प्रथम दो कवियों से एकदम भिन्न श्रेणी के कवि हैं। छायावादी कवियों में सामाजिक चेतना बहुत छिपी हुई अस्पष्ट और अवगुण्ठित थी। भगवती चरण वर्मा और **बच्चन** में वह उतनी अवगुण्ठित तो नहीं है पर दोनों में ही वैयक्तिक चेतना का प्राधान्य है। **दिनकर** की उमंग और मस्ती में सामाजिक

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 : 276

मंगलाकांक्षा का प्राधान्य है। **हुंकार** में कवि सामाजिक विषमताओं से बुरी तरह आहत है। वह अपनी कल्पना को बार – बार पुकारकर कहता है कि यह दुनियां रहने लायक नहीं है, किसी और मोहक लोक में ले चलो, पर उसकी कल्पना चील की तरह मंडराकर बारम्बार इस विसदृशता व्याकुल जगत की ओर ही झपट्टा मारती है। **रसवन्ती** में कवि इस विषय में कुछ कम मुखर है, वह सोन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है, परन्तु उसके चित्त में शान्ति नहीं है। उसका मन व्यक्त रूप में मस्ती और मोज का उपासक है, शहर की चिन्ता में दुबले होने वालों से अलग रहना पसन्द करता है।[1]

6. छायावाद का गद्य साहित्यः

1. उपन्यास और कहानी– जिन कृती उपन्यासकारों और कहानी लेखकों की चर्चा पिछले प्रकरण में की गई है, उनमें से अधिकाँश इस काल में जीवित थे। सुविधा और संक्षेप के लिए पहले प्रकरण में की गई है। यहाँ स्मरण रखने के उद्देश्य से यह कह रखना आवश्यक है कि प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कोशिक' 'प्रसाद' आदि कहानी और उपन्यासों के कृती लेखकों की मुख्य और महत्वपूर्ण रचनायें इसी काल में लिखी गईं। प्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र कुमार का आर्विभाव इसी काल में हुआ। उनकी रचनाओं में नवीन कारीगरी और नवीन उपस्यापन – कोशल को देखकर सहृदयों को आशा हुई थी कि ये आगे चलकर बड़े साहित्यकार होंगे। यह आशा सत्य सिद्ध हुई। उनके 'परख' 'सुनीता' 'त्यागपत्र' उपन्यासों और दर्जनों कहानियों में मनुष्य जीवन के अनेक नवीन पहलुओं का उद्घाटन हुआ। गाँधीजी के जीवन दर्शनों से वे भी प्रभावित थे, परन्तु कहीं भी उन्होंने ऐसा कुछ न लिखा जो उनका स्वयं चिन्तित न हो। जैनेन्द्र के नारी – पात्रों में अद्भुत महिमा है। जैनेन्द्र के प्रायः साथ ही दो और प्रतिभाशाली कहानीकार साहित्य – क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। एक हैं चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और दूसरे सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय। चन्द्रगुप्तजी कहानियों में सहज

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 276

स्वाभाविक जीवन के भीतर अनायास आयोजित मर्मस्पर्शी घटनाओं का विन्यास था। कम लेखकोंमें इतनी सहज भंगिमा से इतनी मर्मस्पर्शी घटनाओं की योजना के गुण पाये जाते हैं। आगे चलकर चन्द्रगुन्त जी के नाटक भी प्रकाशित हुए, आलोचनायें भी निकलीं और पत्रकारिता में भी यश मिला।

अज्ञेय की भाँति ही एक और प्रतिभाशाली लेखक, यशपाल, हिन्दी कहानी और उपन्यासों के क्षेत्र में आये। ये भी एक क्रान्तिकारी राजनीतिक दल के भूतपूर्व सक्रिय सदस्य थे। इनकी कहानियाँ आगे चलकर उस श्रेणी के साहित्य को समृद्ध करने लगीं, जिसे प्रगतिवादी साहित्य कहते हैं। इस काल में कई अन्य प्रभावशाली कहानी–लेखक और उपन्यास लेखक भी हुए जिनमें चतुरसेन शास्त्री, भगवती प्रसाद बाजपेयी, पाण्डेय वेचन शर्मा, उग्र भगवती चरण वर्मा, मोहनसिंह सेंगर, राधाकृष्ण प्रसाद उल्लेख – योग्य है। राजा राधिकारमणसिंह के उपन्यास विशेष रूप से उल्लेख – योग्य है, क्योंकि इनमें मुहावरेदार भाषा ओर चटकीले चित्रों की योजना हिन्दी में अपने ढंग की अकेली ही है।[1]

महिला लेखिकायें – कहानियों के क्षेत्र में कई प्रभावशाली महिला लेखिकाओं ने महत्वपूर्ण कार्य किया। सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, कमला देवी चौधरी और होमवती देवी ऐसी महिलायें हैं। इनकी कहानियों में भारतीय परिवार की समस्यायें सामने आयी हैं। यथार्थ घरेलू चित्र प्रस्तुत करने में महिलायें पुरुष लेखकों से अधिक सफल सिद्ध हुई है।

2. **निबन्ध और समालोचना :** निबन्ध और समालोचना के क्षेत्र में इस काल में बड़ी उननति हुई। पं0 रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रौढ़ समालोचक इसी काल में अपनी कृतियों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रहे थे। पद्म सिंह शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और श्याम बिहारी मिश्र, पीताम्बर बड़थ्याल और नन्ददुलारे बाजपेयी, सत्येन्द्र, नगेन्द्र आदि समालोचक इसी काल में अपनी रचनाओं के साथ साहित्य क्षेत्र में आये। पत्रकारिता के क्षेत्र में बाबूराम विष्णु पराडकर, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, लक्ष्मी नारायण गद, गणेश शंकर विद्यार्थी, बनारसीदास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी जैसी कृती पत्रकारों ने

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 278 – 279

इस काव्य में हिन्दी पत्रकारिता को बहुत समृद्ध बनाया।[1]

3. **नाटक:** नाटकों के क्षेत्र में उतनी समृद्ध नहीं हुई, जितनी कविता और निबन्ध के क्षेत्र में। हिन्दी में रंगमंच कभी संगठित नहीं हुआ। फिर इस काल में सवाक् चित्रपटों का प्रचार बढ़ गया। फलस्वरूप रंगमंच पर अभिनीत होने वाले नाटकों को धक्का लगा। फिर भी चित्रपट के आ जाने से नाटकीय कला में नवीन कारीगरी का सूत्रपात हुआ। अच्छे – अच्छे उपन्यासों का वाक्पटीय रूप प्रकाशित होने लगा। इसी समय रेडियों का भी प्रचार बढ़ा। रेडियों पर खेले जाने वाले नाटकों को केवल कान के सहारे दूर – दूर के श्रोता सुनते हैं। इसीलिए रेडियो नाटक की कारीगरी भी अन्य नाटकों से भिन्न श्रेणी की हुई। फिर भीड़ – भाड़ की दुनिया में बड़े नाट्कों का प्रचार कम हुआ और एकांकी, नाटकों का चलन बढ़ा। **प्रसाद** के पात्रों की अनेक श्रेणियाँ हैं। उनके स्त्री – पात्रों के भी कई टाइप हैं। अपने सांस्कृतिक महत्त्व के कारण ही ये नाटक अधिक ख्यात हुये। हरिकृष्ण **प्रेमी** ने भी कई अच्छे ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। वस्तु – विन्यास और प्रसंगानुकूल भाषा – योजना में वे बहुत सफल हुए हैं पर **प्रसाद** के समान होकर कवित्व और उदात्त गुणों वाले चरित्रों का उतना अच्छा प्रयोग नहीं कर सके। फिर भी **प्रेमी** जी के नाटकों में नाटकीय तत्त्व प्रचुर मात्रा में हैं। पं0 बदरीनाथ भट्ट के नाटक भाषा की सफाई और विषय – वस्तु के सुगठित विन्यास के कारण बहुत अच्छे बने हैं। **दुर्गावती** आदि ऐतिहासिक नाटकों में उनकी कला बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हुई है। सेठ गोविन्ददास ने भी कई ऐतिहासिक तथा अन्य श्रेणी के नाटक लिखे हैं। सेठ जी बहुत अध्ययनशील ग्रन्थकार हैं। वे नाटक सम्बन्धी नयी कारीगरियों का अध्ययन और प्रयोग बराबर करते रहे। श्री उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक और पौराणिक गीतिनाट्यों में सुन्दर कवित्व और आकर्षक चरित्र चित्रण है। उनका प्रभाव भी बहुत स्फूर्ति दायक होता है। डॉ0 दशरथ ओझा ने कई सुन्दर ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। ओझाजी की भाषा सहज और चुस्त होती है और चरित्रों का विकास

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास – पृ0 सं0 – 279

उनके भीतरी गुणों के कारण सहज ही होता है। ऐतिहासिक नाटक और भी कई लेखकों ने लिखे हैं। जगन्नाथ प्रसाद **मिलिन्द** की प्रताप **प्रतिज्ञा** अच्छा अभिनेय नाटक है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और रामवृक्ष शर्मा **बेनीपुरी** ने भी इस ओर प्रयत्न किया है। बेनीपुरी जी की **आम्रपाली** काफी ख्याति पा चुकी है। इस नाटक में बेनीपुरी जी के गतिशील स्वभाव का परिचय मिल जाता है। गोविन्दबल्लभ पंत के नाटक बहुत लोक प्रिय हुये हैं। उनकी **वरमाला** नाटकीय गुणों से समृद्ध है। उनके अन्य नाटकों में नाटकीय गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।[1]

4. रूपक नाटकः रूपक नाटकों की परम्परा भी चलती रही, यद्यपि हिन्दी में यह शैली बहुत लोकप्रिय नहीं बन पायी। प्रसाद जी की **कामना** सुमित्रानन्दन पंत की **ज्योत्सना** काफी कवित्वपूर्ण है। भगवती प्रसाद बाजपेयी और उदयशंकर भट्ट ने भी इस श्रेणी की रचनायें लिखी हैं। प्रहसनों का जोर इस काल में नहीं रहा। भारतेन्दुकाल के प्रहसनों की सजीवता बाद में एकदम लुप्त हो गयी। जी0पी0 श्रीवास्तव के प्रहसन बहुत उच्च साहित्यिक मर्यादा नहीं पा सके। उपेन्द्रनाथ अश्क के कई एकांकियों में इस जाति का साहित्य रचित अवश्य हुआ है, पर शक्तिशाली व्यंग्य और परिहास का लेखक अभी हिन्दी में नहीं पैदा हुआ।

5. एकांकी नाटक – परन्तु इस काल में सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई एकांकियों के अभ्युदय और प्रचार की। जिस प्रकार महाकाव्यों के स्थान पर प्रगतिमुक्तको का प्रचलन, उपन्यासों के स्थान पर छोटी कहानियों का प्रचार हुआ, उसी प्रकार बड़े नाटकों के स्थान पर छोटी कहानियों का प्रचार हुआ, उसी प्रकार बड़े नाटकों के स्थान पर एकांकी नाटकों का प्रचार बढ़ा। रामकुमार वर्मा और उदयशंकर भट्ट के एकांकी बहुत पसन्द किए गए। इस प्रकार इस काल में नये साहित्यांग का प्रचार हुआ। बाद में चलकर उपेन्द्रनाथ अश्क ने इस क्षेत्र में बहुत अच्छा कार्य किया। उनके एकांकी नाटकों में यथार्थ का चित्रण हुआ। हिन्दी का एकांकी नाटको का साहित्य खूब समृद्धि पर है।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य – उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 281
2. हिन्दी साहित्य – उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 282

6. <u>भावात्मक गद्य</u> – इस काल में भावात्मक गद्य – निबन्धों का भी अच्छा प्रचार हुआ। रवीन्द्रनाथ की **गीतांजलि** का अंग्रेजी गद्य इसी श्रेणी का है। इस प्रकार के गद्य में भावावेश के कारण एक प्रकार का लययुक्त झंकार होता है जो सहृदय पाठक के चित्त को भावग्रहण के अनुकूल बनाता है। रायकृष्णदास जी की तीन पुस्तकें – 'साधना', 'प्रवाल', और 'छायापथ' इस श्रेणी की हैं। इनमें जो गद्य प्रयुक्त हुआ है वह विषय के अनुकूल झंकार उत्पन्न करता है। वियोगी हरि के 'अन्तर्नाद' और 'भावना' भी ऐसे निबन्ध हैं। रायकृष्णदास और वियोगी हरि के गद्यों के आध्यात्मिक आत्मसमर्पण – मूलक रहस्यवादी भाव हैं। डॉ० रघुबीर सिंह की 'शेष स्मृतियाँ' में पुराने ऐतिहासिक तथ्यों पर अत्यन्त मार्मिक ढंग की आवेग प्रधान भाषा है। भवंरमल सिन्धी की वेदना में गीतिकाव्य का सा प्रभाव है। दिनेशनन्दिनी चोरडिया के गद्यों में भावोच्छ्वास की मात्रा बहुत अधिक है। इनमें आत्मनिवेदन का स्वर बहुत द्रावक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इस काल में कई अन्य लेखकों ने भी भावात्मक गद्य लिखे पर अधिकांश स्थलों में जितना फेन दिखायी पड़ता है उतना रस नहीं। आलोच्य काल के अन्त तक इस प्रकारके भावावेग – भरे गद्य गीतों का प्रचलन कम हो गया।[1]

<u>गद्य के अन्य विवध रूप</u> :– गद्य के अनेक रूपों का उद्भव इस काल में विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी के संस्मरण बड़े जीवन्त और सरस होते हैं। उनकी शैली अनुकरणीय है। बिना किसी आडम्बर के वे पाठक को चरितनायक के अन्तस्थल तक ले जात हैं। उनके संस्मरणों का पाठक अनुभव करता है जो कि समाज में ऊँची मर्यादा पा सके हैं। वे भी वैसे ही मनुष्य हैं जैसे वे हैं। उनकी भी व्यक्तिगत ओर पारिवारिक समस्याएं हैं वे भी दुःख सुख के झोंकों से उठते – गिरते रहे हैं। चतुर्वेदी जी की सहानुभूति उन लेखकों से हैजो सफल नहीं हो सके. परन्तु जिनके आत्मदान से साहित्य उर्वर हुआ है। चतुर्वेदी जी के संस्मरण बहुत ही सात्विक और प्रेरणादायक साहित्य हैं। पं० श्रीरामशर्मा की जीवन्त और चित्र खींच देने वाली रचनाओं का भी अनुकरण नहीं हो सकता। उनके शिकार सम्बन्धी लेखों में हिन्दी के नवीन ढ़ग का सजीव साहित्य मूर्त्तिमान हुआ है।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ० सं० 282

बाबू गुलाबराय की हास्यविनोदपूर्ण और गम्भीर आलोचनावाली शैलियों में हिन्दी गद्य श्री सम्पन्न हुआ है। पं० हरिशंकर की हास्य विनोदपूर्ण शैली बहुत अधिक मार्मिक है। उनका 'चिड़ियाघर' व्यंग्य परिहास की अच्छी पुस्तक है। प्रसिद्ध कवयित्री श्री मती महादेवी वर्मा के रेखा चित्र भी बहुत ही जीवन्त चित्रण हैं। इन चित्रों में महादेवी जी की प्रतिभा का एक नया द्वार उद्घाटित हुआ है। एक तरफ सताए हुए और अपमानितों के प्रति उनका कोमल हृदय सहानुभूतियों की बहुमुखी धारा के रूप में फूट पड़ा है और दूसरी ओर जो इस प्रकार के निर्यातन के सहायक हैं उनके प्रति उनके हृदय का रोष सहस्त्र – धार होकर बरस पड़ा है। वे जिस व्यक्ति को चित्रित करती हैं, वह अपनी समस्त विशेषताओं के साथ जीवन्त हो उठता है। डॉ० भगवत शरण उपाध्याय के तिलमिला देने वाली शैली के व्यंग्यगर्भ और स्फूर्तिदायक निबन्ध, प्रभाकर माचवे की व्यंग्यात्मक कहानियाँ गोपालदास व्यास के परिहासात्मक निबन्ध और कविताएं और राय सोमनारायण के व्यंग्य – रेखांकन सुन्दर हुए है। इस काल का गद्य जीवनी के रूप में आत्मकथा के रूप में, संस्मरणों के रूप में, व्यंग्य कटाक्षों के रूप में, भावात्मक गद्य – गीतों के रूप में, पुरुष वाक् प्रहार के रूप में और संयतवाद के रूप में बहुमुखी समृद्धि के साथ प्रकट हुआ है। इन सभी रूपों में शक्तिशाली लेखक प्राप्त नहीं हुए है। पर सबका श्री गणेश हो गया है। पत्र पत्रिकाओं में गद्य के विविध रूपों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। सब समय उनमें गहराई नहीं होती पर जीवन का स्पर्श उनमें अवश्य होता है। यही बहुत बड़ी बात है। जीवन के स्पर्श से ही साहित्य में प्राण आता है। जो साहित्य जीवन से विछिन्न हो जाता है, वह केवल वाग्विलास मात्र रहकर समाप्त हो जाता हैपर जो जीवन के स्पर्श से प्राणवन्त बन जाता है, उसमें विकसित होने और बलिष्ठ होने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।[1]

छायावाद पतन के कारण :

1. **भाषागत** :– उनकी भाषा में छायावादी कवियों की लाक्षणिकता – प्रधान

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ० सं० – 277

वक्रभंगिमा वाली भाषा और नूतन प्रतीकों की नूतन रूढ़ि प्रवर्त्तित करने वाली शैली का प्राख्यान हुआ है। बहुत थोड़ी दूर तक यह प्रतिक्रिया जानबूझकर और सावधानी के साथ हुई, अधिकांश में यह अनजाने ही हुई। इसका परिणाम भी अच्छा ही हुआ है। कई कवियों ने स्वतंत्र शैली में कविता लिखी। छायावाद के प्रथम उन्मेष में जो सांस्कृतिक चेतना काम कर रही थी वह कुछ दिनों के लिए म्लान हो गयी, इसलिए नये खेमे के इन कवियों ने कोई बहुत बड़ा काव्य नहीं दिया, परन्तु भविष्य में जो महान कवि उत्पन्न होगा वह निःसन्देह इन्ही कवियों के द्वारा संवारी और माँजी हुई भाषा पाकर ही महान बनेगा।[1]

2. <u>विचारगत:</u> सन् 1920 ई0 से 1926 ई0 तक का काल भारतीय इतिहास के घोर मन्थन और उथल – पुथल का काल है। इस काल में भारतवर्ष ने पूरी ताकत लगाकर अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न दस – ग्यारह वर्ष के बाद सफल हुआ। परन्तु इस समय तक विदेशी प्रभाव की जड़ हिल गयीं। देश के युवकों में कभी आत्मविश्वास की मात्रा उतनी अधिक नहीं थी जितनी इस काल में रही। धीरे – धीरे व्यक्ति मानव के स्थान पर समाज–मानव का महत्त्व प्रतिष्ठित होता गया। यह काल एक ओर सामूहिक आन्दोलन में विश्वास करता है और दूसरी ओर सामाजिक अभ्युत्थान के प्रति आकृष्ट होने का भी समय है। भारतवर्ष का शिक्षित चित्त अब अनुभव करने लगा था कि कल्याण का मार्ग व्यक्ति की सुख – सुविधा की साधना के भीतर से नहीं गया है वह सामाजिक सुख सुविधा के प्रयत्नों के भीतर से निकला है। ऐतिहासिक घटनायें बड़ी तेजी से सोंचने – समझने की योग्यता रखने वाले मनुष्य के दिमाग पर आघात करती गयी और क्रमशः वह व्यक्ति – संस्कार की कमजोरियों को समझता गया और सामाजिक मंगल की साधना की ओर अग्रसर होता गया।[2]

<u>छायावाद का महत्त्व:</u> इस प्रकार यह काल साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रों में इस समय

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 277
2. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 – 278

खूब समृद्धि आयी है। इस काल में विश्व – विद्यालयों में हिन्दी के गृहीत हो जाने से गम्भीर आलोचनात्मक निबन्धों की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। बाबू श्यामसुन्दर दास और उनके सहकर्मियों ने भाषा – विज्ञान, समालोचना, साहित्य का इतिहास आदि विषयों पर गम्भीर पुस्तकें लिखीं और इस प्रकार हिन्दी के पठन – पाठन के स्तर को उन्नत बनाया। सैकड़ों अख्यात – अज्ञात लेखकों ने स्वल्प – काल में ही भाषा का वह शक्ति दी जो वर्षो की साधना और संघर्ष से ही प्राप्त हुआ करती है। इन थोड़े से वर्षों में हिन्दी में जो अपूर्व ग्राहिका शक्ति, प्रकाशन – क्षमता और गम्भीर चिन्तनमूलक प्रतिभा का विकास हुआ, उसके मूल में ऐसे हजारों लेखकों का आत्मदान है जिनके नाम कभी भी किसी इतिहास में नहीं लिखे जायेंगे। उपेक्षित, अपमानित, बुभुक्षित रहकर भी न जाने कितने अज्ञातनामा महाप्राण लेखकों ने भाषा को यह शक्ति दी है। इतिहास – लेखक उनके नाम नहीं गिना सकता, पर उनकी मूक और प्रेरणादायिनी सेवाओं के प्रति अवश्य सचेत रहता है। उनको अपनी मौन प्रणति निवेदन किये बिना वह नहीं रह सकता। विराट् प्रासाद के ऊपरी सतह पर जो नहीं दिखायी देते उन कणों का महत्त्व कम नहीं है। इतिहास – लेखक केवल श्रद्धा और आश्चर्य के साथ उन महासाधकों को स्मरण कर सकता है जिनके दान आत्मदान से ही साहित्य – प्रासाद के ऊँचे कंगूरों का ऊँचा होना सम्भव हुआ है।[1]

–: प्रगतिवाद :–

1. हिन्दी साहित्य की परम्परा का विकास और प्रगतिवाद :–

साहित्य की अपनी अखण्ड परम्परा होती है। उसी में समय – समय पर कोई विचारधारा महत्त्व प्राप्त कर लेती है और दूसरी ह्रासोंन्मुखी हो जाती है। यह तो उसके भीतर प्राणशक्ति की बात है फिर युग की परिस्थितियों से जो वातावरण बना है, उसका प्रभाव भी पड़ता है। इस प्रकार प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है जो ह्रासोन्मुखी छायावाद युग के साहित्य से ही जन्मा

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 283 – 284

है फिर भी अपनी मूलभूत प्रेरणा में उससे एकदम भिन्न है। यों तो साहित्य की अखण्ड परम्परा है और वह निश्चय ही प्रगतिशील भी है किन्तु हिन्दी में जो साहित्य प्रगतिशील के नाम से जाना जाता है वह निश्चय ही छायावाद के बाद का व्यापक सामाजिक चेतना वाला साहित्य है जिसमें मार्क्सीय सामाजिक यथार्थवाद को विशेष महत्त्व दिया गया है।[1]

2. <u>मानवतावादी विचारधारा एवं प्रगतिवाद तथा प्रगतिशील:</u> आरम्भ में मानवतावाद मानवता का शोषण और बन्धन से मुक्त करने के बड़े महान और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। तथ्य चिंतकों और साहित्य मनीषियों के मन में इस आदर्श का रूप बहुत ही उदार था, पर व्यवहार में मनुष्य की उदारता केवल एक ही राष्ट्र के मनुष्यों की मुक्ति तक ही सीमित होकर रह गयी। धीरे - धीरे राष्ट्रीयता नामक नवीन देवी का जन्म हुआ। यह एक हद तक प्रगतिशील विचारों की ही उपज थी। हमारे देश में भी नये जीवन - साहित्य के स्पर्श से नवीन जीवन - आदर्श जाग पड़े। मानवतावादी भी आया दलितों, अधःपतितों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया, और साथ ही साथ राष्ट्रीयता भी आयी। पश्चिमी देशों में राष्ट्रीय भावना के बहुल प्रचार ने एक राष्ट्र के भीतर सुविधाभोगी और सुविधा के जुटानेवाले दो वर्गों के व्यवधान को बढ़ाने में सहायता पहुँचायी। जिन लोगों के पास सम्पत्ति है और जिनके पास सम्पत्ति नहीं है उनका अन्तर भयंकर होता गया। एक तरफ तो विषमता बढ़ती गयी और दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँचकर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी साबित हुई जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। संसार में एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, दूसरी ओर मानवतावादी के विकृत चिन्तन ने उस विकृत मतवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार मनुष्यों में भी दो श्रेणी के मनुष्य हैं - एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट। एक में देवत्व की सम्भावनायें हैं और दूसरे में पशुता से कोई विषय अन्तर नहीं है। इस विकृत विचारों ने ठाँय - ठाँय दो महान युद्धों को भूपृष्ठ पर उतार दिया। इस प्रकार

---

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ0 सं0 554

मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप में भयंकर हो उठी। व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि – मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब – जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब–तब साहित्य नये काव्य रूपों की उद्‌भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ है। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम **प्रगतिशील** साहित्य है। **प्रगतिशील** व्यापक शब्द है किन्तु **प्रगतिवाद** एक निश्चित तत्वदान को सूचित करता है। उस समय तक देश में विदेशी शासन का जबरदस्त दबाव था, इसलिए मतभेद उठ – उठ कर दब जाता था। साहित्यकारों में भी हलचल दिखाई दी। वामपंथी के साहित्यकारों ने संगठित होकर 1936 ई0 में एक प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। हिन्दी उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द जी इसके सभापति हुए। शुरू – शुरू में इस संघटन में सामाजिक मंगलन के प्रयत्नों में विश्वास रखने वाले सभी प्रकार के साहित्य – सेवी थे। बाद में यह संस्था प्रधान रूप में कम्युनिष्ट पार्टी साहित्यिक मोर्चे के काम आने लगी। परन्तु यहीं से उस प्रकार का संघटित रूप से आन्दोलन और प्रचार शुरू हुआ। जिसे आगे चलकर प्रगतिवादी साहित्य का नाम दिया गया।[1]

3. <u>प्रगतिशील और प्रगति साहित्य का स्वरूप</u> :– प्रगतिवादी साहित्य मार्क्स के प्रचारित तत्त्व दर्शन पर आधारित है। इस विचारधारा के अनुसार (1) संसार स्वरूप भौतिक है वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्त्त या परिणाम नहीं है। (2) उसकी प्रत्येक अवस्था की व्याख्या की जा सकती है। कुछ भी अज्ञेय या अचिन्त्य नहीं है। कुछ भी रहस्य या उलझनदार नहीं है। इस मत को मानने वाला साहित्यिक रहस्यवाद में विश्वास नहीं कर सकता। प्रकृति या ईश्वर के निष्ठुर परिहास की बात नहीं सोंच सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दाश्त नहीं कर सकता। (3) इस मत में समाज में भी परिवर्तन होता है। इस मत को स्वीकार करने वाला साहित्यिक समाज की रूढ़ियों को सनातन से आया हुआ शास्त्र या ईश्वर की

---

1. हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास पृ0 सं0 285 – 86

निर्भ्रान्त आशाओं पर बना हुआ और उच्च – नीति मर्यादा को अपरिवर्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नहीं समझता तथा किसी अज्ञेय – अलक्ष्य चिरतंन प्रीतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज बदल देने में विश्वास करता है और जिसमें शोषकों और शोषितों के वर्ग न हो और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बिता सके। इसीलिए उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है। साहित्यकार को इसकी साधना इसी महान उद्देश्य के लिए करनी चाहिए।[1]

4. <u>प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि</u>: – महात्मा गाँधी के नेतृत्व में विदेशी बन्धन से मुक्ति पाने का जो आन्दोलन देश में चल रहा था वह एक महान सांस्कृतिक आन्दोलन था। कई बार महात्मा गाँधी ने उमड़ते हुए जन – आन्दोलन को इसलिए रोक दिया कि उन्हें आशंका थी कि वह कहीं हिंसा के मार्ग की ओर न बढ़ जायें। कांग्रेस के कई विचारशील नेता महात्मा जी से इस बात पर सहमत नहीं हो सके थे। उधर मजदूरों का आन्दोलन बढ़ रहा था। गाँधी के नेतृत्व के बाहर से उनका संचालन हो रहा था। एक तरफ राष्ट्रीयता के नाम पर लाख – लाख नोजवान जेल जा रहे थे और दूसरी तरफ राष्ट्र के सुविधाभोगी लोग मजदूरों और किसानों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं कर रहे थे। राष्ट्रीयता का मोहनमंत्र संवेदनशील देश सेवकों के दिमाग पर अब असर नहीं कर रहा था। सन् 1934 ई0 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। उस समय बाहर की दुनिया को पहली बार मालुम हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों में भी ऐसा मतभेद है जो अब किसी प्रकार के समझोते से पाटा नहीं जा सकता। रूस की सफलता, कम्यूनिज्म के साहित्य के प्रचार और अपने देश के पूँजीपतियों के आचरण से उन दिनों सोंचने समझने वालों के मन में नई आशंका और नये उपायों की बात आयी।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 286
2. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 286

प्रगतिवादी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

1. सामाजिक यथार्थवाद :- जन समूह की आर्थिक विषमता एवं राजनीतिक चेतना से उद्भूत इस जनवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति सामाजिक यथार्थवाद की है। यदि छायावादी काव्य में कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि का पल्लवन हुआ तो प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक यथार्थ दृष्टि मूल मन्त्र के रूप में अभिव्यक्त हुई। यही प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। विलासी उच्च समाज के आधार स्तम्भ कृषक और मजदूर हैं। उन्हीं कृषक एवं मजदूरों को प्रगतिवाद ने अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया। इसलिए ग्राम्य प्रकृति एवं ऊबड़-खाबड़ कच्चे घरों और उनके खेलने वाले मटमैले बच्चों को इस धारा के कवियों ने सहानुभूति दृष्टि से देखा। देखिये ग्रामचित्र -

यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित,
झाड़ फूंस के लिए विवर, यही क्या जीवन शिल्पी के घर,

ग्रामीण वातावरण के प्रति कवि सहानुभूति प्रदर्शित करता है -
सड़े घूर की गोबर की बदबू से दबकर,
महक जिन्दगी के गुलाब की मर जाती है,

2. सामाजिक समस्याओं के प्रतिः- यह भी यथार्थवादी दृष्टि है। प्रगतिवादी कवि सामाजिक जीवन की विभिन्न घटनाओं एवं परिस्थितियों की व्यंजना करता है। इस प्रकार जीवन और काव्य को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने की चेष्टा हुई। प्रगतिवादी आलोचकों को मत है कि कविता का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और कविता उत्कृष्ट है जो वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। राष्ट्रपिता गाँधी की मृत्यु पर प्रगतिवादी कवियों ने बड़ी छटपटाहर व्यक्त की नागार्जुन की **महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे हम** शीर्षक कविता को देखिये -

बापू मरे ---------
अनाथ हो गयी भारतमाता -------

अब क्या होगा -------

हाय! हाय! हम रहे कहीं के नहीं

लुट गये

----- रो-रो कर आँख लाल कर ली धूर्तों ने।

<u>बौद्धिकता और व्यंग्य का प्रसार</u> :- यों तो आधुनिक काल में द्विवेदी युग से ही बौद्धिकता का समावेश हुआ है। यह यन्त्र युग की देन है। इसी कारण साहित्य में भी वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का विश्लेषण हुआ। प्रगतिवाद में इस बौद्धिक दृष्टि का जनजीवन की समस्याओं में दिखायी पड़ता है। कवि सुधार की भावना से प्रेरित होकर सामयिक समस्याओं के वर्णन में व्यंग्य दृष्टि जोड़ देता है। वह पूँजीवाद को, उसकी शोषण की प्रवृत्ति को, आधुनिक राजनीति को, उसकी झूठी लीडरी को तथा अन्य आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं के सर्मथकों को अपने व्यंग्यों का लक्ष्य बनाता है।

भूला है कुछ पैसे पा, गुनगुना

खड़ा हो जाता वह

पिछले पैरों के बल उठ

जैसे कोई चल रहा जानवर

<u>परिवर्तन की पुकार अथवा क्रान्ति की भावना</u> :- प्रगतिवाद में प्राचीन का परिवर्तन कर नवीन युग के अनुकूल बनाने की प्रेरणा है। इस पुकार में कवियों की क्रान्ति की भावना मुखरित हुई है। आज राजनीति और धर्म की बहुत सी रूढ़ियों एवे परम्पराओं में परिवर्तन करने की आवश्यकता युग चेतना ने स्पष्ट कर दी है। इसलिए प्रगतिवादी कवि सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्व्यवस्या से पीड़ित होकर विप्लव गान करता है -

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ

जिससे उथल - पुथल मच जाये।

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक–टूक हो जायें।
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें।
शान्ति दण्ड टूटे – उस महारुद्र को सिंहासन थर्राए।
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्व के प्रांगण में घहराए।
नाश, नाश हो। माहनाश की प्रलयंकारी आँख खुल जाये।

<u>राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना</u> :– प्रगतिवादी कविता में इन दोनों भावनाओं का विकास हुआ है। राष्ट्रीयता एवं देश प्रेम की भावना का स्वरूप देश के अतीत गौरव – गान इत्यादि से भिन्न है। कवि अपने निवास स्थलों (जनपद, ग्राम इत्यादि) की ओर देखकर प्रेम से मग्न हो जाता है। इस प्रकार यदि पूर्ववर्ती देश – प्रेम की भावना समान्योमुखी थी तो इस काल की भावना विशेषोन्मुखी

स्वजन्मभूमि **तरउनी ग्राम** से दूर पड़ा हुआ कवि नागार्जुन अपनी सिंध प्रवास बेला में गा उठता है –

याद आता मुझे अपना **तरउनी ग्राम**
याद आती लीचियाँ औ आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू–भाग
याद आते धान

<u>मानवता की महत्ता का प्रकाशन</u> :– समाज की यथार्थ की दृष्टि को अपनाकर भी प्रगतिवादी कहीं भी निराश नहीं होता, उसे मानवता की अपरिमित शक्ति में विश्वास है। मार्क्सवादी प्रमुख लेखक गोर्की में भी निबर्ल को सशक्त दिखाने की और शोषित एवं पीड़ित वर्ग को कर्म का संदेश सुना कर उसमें उत्साह संचार करने की प्रवृत्ति है। प्रगतिशील कवि ने भी कर्म का सन्देश सुनाया है, उठते हुए व्यक्ति को उठाया है और मानवता की अपरिमित शक्ति में विश्वास प्रकट किया है। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ गया है कि ईश्वर का अस्तित्व भी संदेहास्पद हो गया है –

जिसे तुम कहते हो भगवान ------

जो बरसाता है जीवन में

रोग शोक दुःख दैन्य अपार -----

उसे सुनाने चले पुकार?

<u>प्रेम का सुष्ठ एवं सामाजिक रूपः-</u> कुछ सुधी लोग प्रगतिवाद पर नीरसता एवं शुष्कता का आरोप करते हुए उसमें प्रेम - वर्णन के अभाव की ओर संकेत करते हैं। वस्तुतः यह धारणा गलत है। प्रगतिवादी को भी प्रेम और उसका दुखड़ा है, किन्तु जीवन में अन्य कष्टों के आगे उसका स्वर दब जाता है। डॉ0 रांगेय राघव ने इस पर विचार किया है - "प्रेम का अपना स्थान है। प्रगतिशील लेखकों ने प्रेम के प्रति प्रायः उदासीनता दिखाई है, क्योंकि उन्होंने प्रेम को बुर्जआ वर्ग की विरासत माना है। उनकी राय में स्त्री - पुरुष का प्रेम वर्गीय संस्कृति का अवशेष है। मनुष्य की सत्ता का सबसे जीवन्त भाग उनकी दृष्टि से अलग रहा है।

कि चूम लिया तुमने प्यार से मेरी मुग्ध मुँदी पलकों को

कि पुलकित हो ज्योंहि खोलकर आँखे देखा मैने

तुम्हारा वह अमिताभ मुख मण्डल

कि लो खुल पड़े

सत्ता के अगम देवालय के वातायन

अरे, यह मैं क्या रहा स्वप्न हूँ कि सत्य यह।

<u>नारी - स्वातन्त्र्य की पुकार</u> :- प्रगतिवादी कवियों ने भी नारी को भी शोषित माना है। वह पुरुष की दासी बन कर बहुत समय से उसकी छाया बनी है, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो बैठी है। पंत जी ने **आधुनिक** कवि की भूमिका में लिखा है: "सामन्त युग के स्त्री - पुरुष - सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदण्ड स्त्री की शरीर यष्टि पर रहा है।"

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित

उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर आश्रित।

प्रगतिवाद का मूल स्वर – शोषित और शोषक वर्ग :– प्रगतिवादी काव्य का मूल स्वर शोषित और शोषक दो वर्गों में समाज को बाँटकर उनकी अभिव्यक्ति करता है, एक ओर शोषक वर्ग है तो दूसरी ओर शोषित। किन्तु फिर भी शोषित वर्ग का ही अधिक वर्णन करते है, चाहें वह कृषक हो, मजदूर हो, नारी हो। शोषक वर्ग के प्रति घृणा, वितृष्णा, व्यंग्य आदि की अभिव्यक्ति उनके काव्य में हुई है, फिर भी उनका विशेष वर्णन नही है।

प्रगतिवादी काव्य का कला पक्ष :– प्रगतिवादी कविता जन साधारण के उपभोग की वस्तु है। अतः वह अत्यन्त सरल है। उसमें छायावादी दुरारूढ़ कल्पना का बहिष्कार कर कलाकार जीवन की वास्तविकता को लेकर इस धरती पर चला है। इसलिए उसकी भाषा और शैली भावानुसारणी है –

तुम वहन कर सको, जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए क्या तुम्हें अलंकार।।

छन्द की दृष्टि से प्रगतिवादी कवियों ने बहुत प्रगति की है। उन्होंने जग गीत एवं लोक गीतों की शैली अपनाकर नयी धुनों का सृजन किया है। जन – मन को संस्पर्श करने के लिए उन्होंने बंधी हुयी लय के भिन्न – भिन्न ढाँचों से युक्त निर्दिष्ट छन्दों का व्यवहार किया है। नयी – नयी धुनों पर गीतो का सृजन हो रहा है।

भाषा की दृष्टि से इन कवियों में प्रगति के दर्शन होते हैं। आज बोलियों में रचना करने वाले प्रगतिवादी कवि भी बहुत हो रहे हैं। इन्होंने अपनी प्रादेशिक बोलियों में उत्कृष्ट कविता का सृजन किया है, इन कवियों में बलभद्र दीक्षित, पड़ीस, बंशीधर पण्डा, मुकुल रमई काका आदि प्रमुख हैं। उन्होंने भोजपुरी और राजस्थानी बोली में बड़ी मार्मिक कविताओं की रचना की है। वस्तुतः प्रगतिशील कविता का लक्ष्य भाषा को सरल, सुबोध, भावाभिव्यंजना के योग्य बनाना है। इसीलिए भाषा के किसी निश्चित आदर्श को अमर न मानकर इन्होंने भावानुकूल भाषा को प्रश्रय किया है।

जहाँ तक अलंकरण का प्रश्न है, प्रगतिवादी कवि ने प्राचीन रूढ़िवादी अलंकार योजना को छोड़कर नवीन रूपक, उपमान एवं प्रतीक प्रस्तुत किये हैं। प्रगतिवादी कवि सामाजिक जर्जर रूढ़ियों के प्रति व्यंग्य करता है। इसीलिए कहीं – कहीं उनमें अन्योक्ति दिखलाई पड़ती है।

6. <u>जनवादी आन्दोलन और प्रगतिवाद</u> :– प्रगतिवादी आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनायें अत्यधिक हैं। भक्ति के महान आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श – निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन – दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुयी थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है। भक्ति का महान आन्दोलन साम्प्रदायिकता की चट्टान से टकराकर चूर्ष – विचूर्ण हो गया। इस आन्दोलन में भी एक प्रकार की साम्प्रदायिकता के उगने के चिन्ह दिखने लगे हैं। आशा करनी चाहिए कि वह बढ़ नहीं पायेगा और मनुष्य को सब प्रकार के शोषणों और बन्धनों से मुक्त करने की महिमामयी साधना सफल होगी।[1]

7. <u>प्रगतिवाद विरोधी साहित्य – स्वरूप</u> :– प्रगतिवादी साहित्यकार उन लेखकों को प्रतिगामी या पीछे की ओर घसीटने वाला समझता है। (1) जो पुनरुत्थानवादी हैं अर्थात् जो अतीतकाल के मोहक गान गाकर जनता में इस बुद्धि का प्रचार करते हैं कि वर्तमान की तुलना में अतीत अधिक महिमामण्डित काल था और इसीलिए उन सभी बातों को अपनाना चाहिए जिन्हें अतीत के कृती पुरुषों ने कहकर संसार को वर्तमान संघर्ष से हटाकर काल्पनिक लीला – निकेत में ले जाकर भुलावा देते हैं, क्योंकि वे लोग संघर्ष से भागने की प्रेरणा देते हैं, (31) जो काम और यौन – तत्वों को जीवन के अन्य सैकड़ों पक्षों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं और समाज की रीढ़ ही कमजोर कर डालते हैं;

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 सं0 – 288

(4) जो जीवन के संघर्षो और उससे निकलकर आगे बढ़ने की बात न कहकर केवल इस या मनोवैज्ञानिक पण्डित की बतायी हुई बातों को घोख लेते हैं और मनोविश्लेषण का बहाना लेकर उसकी आड़ में पलायनवादी मनोवृत्ति को प्रश्रय देते हैं। ये चारों प्रकार के साहित्यिक, प्रगतिवादियों की दृष्टि में समाज को आगे बढ़ाने की बजाय पीछे धकेलते हैं और उस व्यवस्था को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जीवित रखने में सहायक होते हैं, जो समाज के पिछड़े और उपेक्षित अंगों के शोषण पर ही आधारित है, ज्यों – ज्यों प्रगतिवादी आलोचना – पद्धति साम्प्रदायिक रूप धारण करती जा रही है त्यों – त्यों ये सूत्र फारमूला की भाँति प्रयुक्त होने लगे हैं और किसी भी लेखक पर प्रयोग कर दिये जाते हैं। परन्तु जो लोग साम्प्रदायिकता के ऊपर उठ सकते हैं वे इन सूत्रों का उपयोग नहीं करते बल्कि लेखक के उद्देश्य और प्रभाव की निपुण विवेचना करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। फारमूला का प्रयोग किया जाय तो प्रसाद जी प्रतिगामी होंगे। महादेवी अप्रगतिशील बन जायेगीं और राहुल सांस्कृत्यायन को भी जाति – बहिष्कृत करना पड़ेगा। परन्तु सभी प्रगतिवादी अभी तक साम्प्रदायिक नहीं हुए हैं और वे विवेच्य का उचित विश्लेषण करके ही अपना मत देते हैं। [1]

8. <u>प्रगतिवाद के प्रमुख साहित्यकार</u>:– इस नये तत्त्व दर्शन से प्रभावित होकर अनेक लेखकों और कवियों ने लेखनी सम्हाली है। इनमें दो श्रेणी के लेखक हैं। एक तो वे जो कम्यूनिष्ट पार्टी से सम्बन्धित हैं और पार्टी की निर्धारित नीति अंगुलि निर्देश पर साहित्य लिखते हैं। दूसरे वे जो पार्टी से सम्बन्धित नहीं पर इन विचारों को मानते और तदानुसार यत्न करते हैं। बहुत थोड़े समय में प्रगतिवादी विचारधारा ने राहुल सांकृत्यायन जैसे प्रौढ़ विद्वान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, राम विलास शर्मा और भगवत शरण उपाध्याय जैसे चिन्तनशील आलोचक, यशपाल और रांगेय राघव जैसे उपन्यासकार अमृतराय जैसी कहानी लेखक और समालोचक तथा शिवमंगल सिंह सुमन और नागार्जुन जैसे कवियों को आकृष्ट और प्रेरित किया है। किसी समय सुमित्रानन्दन पंत भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए थे। इनमें कई लेखकों की योग्यता परीक्षित हो चुकी है और कई में अच्छी सम्भवानायें हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य का उदभव और विकास– पृ0 सं0 288

<u>प्रगतिवाद के दोष</u> :- कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारों का सम्बन्ध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतंत्र चिन्तन के मार्ग में आना हितकर नहीं हो सकता। कई प्रगतिवादी लेखक पार्टी के अंकुश को बर्दाश्त न कर सकने के कारण उससे अलग हो गये हैं। भविष्य में या तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा। अनेक चिन्तनशील कवि और आलोचक प्रगतिशील कहे जा सकते हैं, यद्यपि उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रवर्तित जीवन - दर्शन को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया, या अपनाया भी तो कुछ स्वाधीनता के साथ। कई नये लेखकों में शक्ति का सन्धान पाया गया है। रघुवंश, धर्मवीर भारती, शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह और नामवर सिंह जैसे लेखक नयी सम्भावनाओं को लेकर आ रहे हैं।

अध्याय – 9

साहित्येतिहास के विकास में आचार्य द्विवेदी का योगदान

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इतिहासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी है। आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी में कामचलाऊ इतिहासकार और आलोचक बन जाना तो सरल है लेकिन सार्थक और समर्थ इतिहासकार बनना दुष्कर। आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य रचना तथा आलोचना की परम्पराओं की गम्भीर ज्ञान, स्वतंत्र चिंतन गहरी कलात्मक संवेदनशीलता, सामाजिक चेतना और वस्तुनिष्ठ दृष्टि के आधार पर एक सुनिश्चित मूल्य व्यवस्था और मूल्यांकन की पद्धति का विकास किया। उन्होंने अपने निर्भांत साहित्यविवेक और हिन्दी साहित्य के विकास की गति की अचूक पहचान के कारण आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रगतिशील परम्परा का सूत्रपात किया और हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा निर्मित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्मित आलोचना की परम्परा और साहित्य के इतिहास के व्यवस्थित ढाँचे का विकास वही व्यक्ति कर सकता है जो अपने समय के समाज और साहित्य की प्रगति की आवश्यकताओं के अनुरूप नई सामाजिक चेतना की दिशा की पहचान वस्तुवादी दृष्टि के आधार पर कर सके और उससे मूल्यांकन की नई पद्धति का विकास कर सके। जो इतिहासकार अपनी नई मूल्य व्यवस्था और मूल्यांकन की पद्धति के कुशल व्यवहार द्वारा हिन्दी साहित्य की परम्पराओं का नया मूल्यांकन कर सकता है और हिन्दी साहित्य के भावी विकास की सही दिशा का संकेत दे सकता है, वही सार्थक नये इतिहास लेखन का काम कर सकता है। परम्परा के बोध, स्वतंत्र चिंतन, गहरी सामाजिक संवेदनशीलता और निर्भांत साहित्य विवेक के अभाव में उत्साही आलोचकों और इतिहासकारों के हाथों में पड़कर आचार्य शुक्ल की आलोचना की परम्परा और इतिहासकारों के ढाँचे के दुहराये जाने या बिगड़ने की ही सम्भावना अधिक है, विकास की कम।" आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को छोड़कर हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के जो प्रयास हुये हैं। वे इसके प्रमाण हैं। साहित्य के इतिहास लेखन में कुछ तिथियों और तथ्यों की घटाबढ़ी देना या कमोवेश **कवि कीर्तन** करना नया इतिहास लिखना नहीं है। इतिहास लेखन का नयापन विस्मृत परम्पराओं की खोज करने, परम्पराओं को पुनर्व्यवस्थित करने

और उनका नया मूल्यांकन करने में प्रकट होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह महत्वपूर्ण काम किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास लेखन का प्रयास परम्परा के पुनर्मूल्यांकन और नये विकास की सम्भावनाओं की ओर संकेत करने के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी इतिहास लेखन की दिशा में एक सार्थक और नया प्रयास माना जाता है।"[1]

साहित्य के इतिहास लेखन के लिए कुछ आवश्यक मूल तत्व होते हैं। ये मूल तत्व हैं: साहित्य, संस्कृति, परम्परा, मनुष्य, भाषा और साहित्य का इतिहास। साहित्य के इतिहास के इन आधारभूत तत्वों के बारे में जब तक कोई इतिहासकार अपनी नयी धारणायें विकसित नहीं कर सकता, तब तक वह सार्थक नये इतिहास लेखन का काम नहीं कर सकता। जो इतिहास लेखक इन बातों पर व्यवस्थित रूप से विचार नहीं करते हैं, उनके इतिहास लेखन में भी इनके बारे में इतिहासकार की अपनी धारणायें, निहित या प्रकट होती हैं। इतिहास लेखन की विभिन्न प्रणालियों का बुनियादी अंतर इन मूल तत्वों के बारे में धारणाओं के अन्तर की ही अभिव्यक्ति है। आचार्य द्विवेदी ने साहित्येतिहास से सम्बन्धित इन मूल तत्वों पर गंभीरता से स्वतंत्र चिंतन किया है। इसीलिए द्विवेदी जी की इतिहासदृष्टि को समझने के लिए इन आधारभूत तत्वों के बारे में उनकी धारणाओं को समझना जरूरी है।

साहित्येतिहास की धारणा का साहित्य की धारणा से गहरा सम्बन्ध है। साहित्येतिहासलेखन की विभिन्न प्रणालियों में बुनियादी अंतर साहित्य सम्बन्धी धारणाओं के कारण प्रकट होता है। इतिहास लेखन में इतिहास कार की साहित्य सम्बन्धी धारणा का विकास और विस्तार होता है। क्या इस बात में किसी विवाद की सम्भावना है कि जो इतिहासकार साहित्य को **जनता की वित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब** मानता है उनका इतिहास लेखन उस व्यक्ति से भिन्न होगा जो साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानता है। जो साहित्य विचारक साहित्य को समाज निरपेक्ष और पूर्ण स्वायत्त मानते हैं तथा साहित्यानुशीलन का उद्देश्य भाषानिष्ठ साहित्यिकता की खोज समझते

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 132

है। उनकी इतिहास दृष्टि ऐसे साहित्य विचारकों से पूर्णतयः भिन्न होती है जो साहित्य की समाज सापेक्ष स्थिति को स्वीकार करते हैं और साहित्यानुशीलन के दौरान साहित्य की सामाजिकता की खोज पर बल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुवादी और भाववादी या मार्क्सवादी और रूपवादी लेखकों की इतिहासदृष्टि के निर्माण में साहित्यसम्बन्धी उनकी धारणाओं की निर्णायक भूमिका होती है।

"आचार्य द्विवेदी साहित्य को केवल आत्मभिव्यक्ति या शब्द सृष्टि नहीं मानते। वे कहते हैं कि ' साहित्य की साधना निखिल विश्व के साथ एकत्व अनुभव करने की साधना है। (साहित्य सहचर, पृष्ठ 6) । निखिल विश्व के साथ एकत्व अनुभव करने का रूप क्या है? द्विवेदी जी कहते है कि 'साहित्यिक कृतियाँ हमें सुख दुख की व्यक्तिगत संकीर्णता और दुनियावी झगड़ों से ऊपर ले जाती हैं, और सम्पूर्ण मनुष्य जाति के और भी आगे बढ़कर प्राणिभाव के दुःख शोक, रागाविराग, आह्लाद आमोद को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देती हैं (साहित्य सहचर पृ0 2) यहाँ हम देख सकते हैं कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य की धारणा कलावादियों और व्यक्तिवादियों से कितनी अलग है।[1] उनकी यही धारणा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य की धारणा के काफी करीब है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है: "कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सौन्दर्य का रूप दिखाई पड़ता है। (चिंतामणि भाग–1 पृ0 46) आचार्य शुक्ल काव्य में लोकमंगल की साधना को विशेष महत्त्व देते हैं तो आचार्य द्विवेदी के लिए भी साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। द्विवेदीजी ने साहित्य की सामाजिक सत्ता और प्रयोजनीयता की ओर बार – बार संकेत किया है।

साहित्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है और सौन्दर्य की सृष्टि भी। साहित्य में व्यक्त और सर्जित सौन्दर्य रचनाकार की आत्मा का सौन्दर्य है या बाहर के जगत

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 133

से, समाज से भी उसका कोई सम्बंध है? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बाह्य जगत से आँख मूँदकर आंतरिक सौन्दर्य की उपासना करने के बदले रचनकारों को समाज और जीवन के साक्षात्कार की सलाह देते हैं। उन्होंने लिखा है: साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। बाह्य असुन्दर के ढूह में खड़े होकर आंतरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती। निरन्तर निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य लोक की कल्पना नहीं कर सकते। (अशोक के फूल 184–85)" द्विवेदी जी की इस धारणा के अनुसार वही सौन्दर्य का सच्चा साधक रचनाकार माना जायेगा जो अपने आस – पास के सामाजिक यथार्थ को आँख खोलकर देखे उसकी असलियत को पहचाने और सचेत परिवर्तनेच्छा (ये शब्द द्विवेदी जी के हैं) से संचालित होकर अपनी रचना में सौन्दर्य की सृष्टि और अभिव्यक्ति करे।"[1]

साहित्य की सामाजिक सत्ता असंदिग्ध है लेकिन रचना में रचनाकार के आत्मगत प्रयास की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रचनाकार के आत्मगत प्रयास को ही रचना संदर्भ में सब कुछ मानने वाले लोग रचना को रचनाकार की व्यक्तिगत प्रतिभा की ही देन कहते हैं। क्या यह प्रतिभा नितांत वैयक्तिक होती है? द्विवेदी जी कहते हैं – "यह सत्य है कि वह (साहित्य) व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है, किन्तु और भी अधिक सच यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है। (विचार–वितर्क, 278) द्विवेदी जी की स्पष्ट राय है कि प्रतिभा पूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं है। समाज की सामूहिक पहुँच को ही व्यक्ति विशेष की प्रतिभा सूचित करती है। (विचार–वितर्क 273)

साहित्य का नया इतिहास साहित्य की विकासशील परम्परा का नया मूल्यांकन करता है। नये मूल्यांकन के लिए नये मूल्यों की आवश्यकता होती है। वे धन्य हैं जो बिना किसी नई मूल्यदृष्टि के ही पुराने रचनाकारों और रचनाओं के नये मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन में जुटे रहते हैं। विचार की बात यह है कि नये मूल्यांकन के लिए आवश्यक नये मूल्य कहाँ से प्राप्त होते हैं। नये मूल्य समकालीन समाज

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 134

और समकालीन रचनाशील से विकसित होते हैं। आचार्य द्विवेदी उन लोगों में से नहीं है जो साहित्य को साहित्येतर मूल्यों के स्पर्श से बनाये रखना चाहते हैं। साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का मूल स्रोत समकालीन समाज ही होता है। द्विवेदी जी ने लिखा है "साहित्य की मान्यताएं जीवन की मान्यताओं से विछिन्न नहीं होती। नई परिस्थितियों में जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आचारों तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं। सभी मानों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नये अनुभव होते हैं। विचार के विकास के मूल में होता है और साहित्यिक मूल्यों के विकास के मूल में भी। सामाजिक जीवन के मूल्यों में परिलक्षित करता है। साहित्य का नया इतिहास केवल साहित्य के लिए ही नहीं लिखा जाता, वह समाज के लिए भी लिखा जाता है। समाज में परिवर्तन होता है तो विकास होता है तो जीवन मूल्य भी बदलते हैं। और नये विकसित होते हैं। जीवन मूल्यों के बदलाव और विकास का प्रभाव साहित्य के मूल्यों और मूल्यांकन पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में कुछ रचनाकारों का मूल्य बढ़ जाता है, वे अधिक लोकप्रिय हो जाते हैं और कुछ का मूल्य घट जाता है। आजकल पश्चिम में रचनाओं के पाठकीय ग्रहण, आस्वादन ओर मूल्यांकन के परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन करके साहित्य के इतिहास लेखन का प्रयास हो रहा है।" आचार्य द्विवेदी हिंदी में इसकी ओर सार्थक संकेत करने वाले पहले व्यक्ति हैं। द्विवेदी जी ने लिखा है कि समाज व्यवस्था और सामाजिक जीवन के मूल्यों के परिवर्तन से "साहित्य की प्रकाश भंगिमा में ही अंतर नहीं आया है, उसके आस्वादन के तौर तरीकों में भी फर्क पड़ा है। साहित्य के जिज्ञासुओं को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक ठीक जानकारी नहीं हो तो वह बहुत सही बातों के समझने में गलती कर सकते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन का साहित्यिक परिवर्तन से और सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन का साहित्यिक मूल्यों के परिवर्तन से गहरा सम्बन्ध प्रकट होता है। साहित्य की दुनिया को व्यापक सामाजिक दुनिया से स्वतंत्र मानकर उसकी विकास प्रक्रिया और मूल्यांकन के प्रयत्न सार्थक इतिहास लेखन में सहायक नहीं हो सकते।"[1]

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं 135

साहित्य के इतिहास लेखन के संदर्भ में दूसरी महत्वपूर्ण धारणा संस्कृति की है। जो इतिहासकार साहित्य की विशुद्धता और स्वायत्तता का विश्वासी होगा वह साहित्य की विकास प्रक्रिया को व्यापक सांस्कृतिक विकास के साथ रखकर देखना अनावश्यक समझेगा। लेकिन जो इतिहासकार साहित्य और समाज के अनिवार्य सम्बन्ध को स्वीकार करता है वह साहित्य की रचना को व्यापक सांस्कृतिक व्यवहार का अंग मानता है और साहित्य के विकास को समाज की व्यापक सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया के अंग के रूप में देखता है। इस संदर्भ में एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह हे कि समाज के सांस्कृतिक विकास में अभिजन की सांस्कृतिक परम्परा और जन संस्कृति की परम्परा के अंतर का ज्ञान भी साहित्य के इतिहासकार के लिए आवश्यक होता है। अभिजन की संस्कृति को समाज की प्रमाणिक संस्कृति मानने वाला आलोचक और इतिहासकार साहित्य के विकास में भी उसी की अभिव्यक्ति की खोज करेगा और इस प्रकार वह जन संस्कृति को ही समाज की वास्तविक जीवंत और विकासशील संस्कृति मानता हे वह साहित्य के विकास में जन संस्कृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका की खोज और मूल्यांकन का आवश्यक काम करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य गतिशील सांस्कृतिक प्रवाह का अंग है। द्विवेदी जी यह मानते हैं कि सामाजिक विकास से सांस्कृतिक जुड़ा हुआ है और सांस्कृतिक विकास से साहित्य का विकास। समाज, संस्कृति और साहित्य की विकास प्रक्रियाओं के आपसी सम्बन्ध के स्वरूप को समझे बिना साहित्य के इतिहास लेखन का महत्वपूर्ण दायित्व पूरा नहीं हो सकता। "आचार्य द्विवेदी जी ने समाज, संस्कृति और साहित्य के विकास के आपसी सम्बन्ध के बारे में जिस धारणा का विकास किया है वह आधुनिक और वैज्ञानिक है।"[1]

आचार्य द्विवेदी संस्कृति को विशुद्ध और शाश्वत नहीं मानते। उनके अनुसार सामाजिक परिवर्तन के साथ – साथ संस्कृति भी बदलती है। मानव समाज अपने परिवेश, पुराने संस्कारों, रूढ़ियों और तरह – तरह के विरोधी तत्वों से

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 135

संघर्ष करता हुआ जीवंत तत्वों को स्वीकार करके आगे बढ़ता है और नई संस्कृति का निर्माण भी करता है। द्विवेदी जी ने लिखा है: "मनुष्य की जीवन शक्ति बड़ी निर्मम है वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। संघर्षो से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। (अशोक के फूल 13)। द्विवेदी जी मानव समाज की, संघर्ष के माध्यम से विकसित होने वाली इसी जीवनी शक्ति की विकास कथा को सामने लाना साहित्य के इतिहास का उद्देश्य मानते हैं। समाज और जाति की संस्कृति का इतिहास रूढ़ियों के त्याग और जीवंत तत्वों के ग्रहण के सहारे विकसित होता है। संस्कृति को इतने व्यापक अर्थों में ग्रहण करने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जन संस्कृति को ही समाज की वास्तविक और जीवंत संस्कृति मानते हैं। वे साहित्य के इतिहास में जन संस्कृति के अध्ययन की आवश्यकता महसूस करते हैं। द्विवेदी जी ने **मेरी जन्मभूमि** शीर्षक निबन्ध में **गाँव की सांस्कृतिक पैमाइश** करते हुए जन जीवन में विभिन्न रूपों में व्यक्त अव्यक्त सांस्कृतिक तत्वों की खोज की है। उन्होंने लिखा है कि **साहित्य के इतिहास** में इन सांस्कृतिक तत्वों की खोज की है। उन्होंने लिखा है कि '**साहित्य के इतिहास** में इन सांस्कृतिक चिन्हों (गाँव में मिलने वाले) की, कोई चर्चा न आना क्षोभ का ही विषय है। हमारी भाषा में इनकी स्मृति है, हमारे जीवन में इनका पद चिन्ह है। हमारी चिंताधारा में इनका कोई स्थान होगा ही नहीं यह कैसे मान लूँ। (अशोक के फूल पृ0 40)।" साहित्य के इतिहास को व्यापक सांस्कृतिक इतिहास के अंग के रूप में देखने वाला यह व्यापक दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य के इतिहास दर्शन सम्बन्धी चिंतन के क्षेत्र में द्विवेदी जी की नई देन हैं। द्विवेदी जी की इस इतिहास दृष्टि का व्यावहारिक रूप 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' में दिखाई देता है।"[1]

साहित्य के इतिहास में संस्कृति से जुड़ी हुयी तीसरी महत्वपूर्ण धारणा

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 136

परम्परा की है। इतिहासकार, साहित्यकार और संस्कृति की अपनी धारणाओं के अनुसार परम्परा की खोज और उसके मूल्यांकन का काम करता है। जनसंस्कृति की उपेक्षा करने वाली इतिहास दृष्टि परम्परा की खोज में भी अभिजन की सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं को महत्व देती है। इसके विपरीत साहित्य और संस्कृति की जनवादी दृष्टि जन जीवन से जुड़ी सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं के मूल्यांकन का प्रयत्न करती है परम्परा की विशुद्धतावादी धारणा से भी साहित्य के इतिहास लेखन में अनेक प्रकार की गड़बड़िया पैदा होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के अनेक प्रयासों में यह स्थिति दिखायी देती है। इसके अतिरिक्त जो इतिहासकार वर्तमान और भविष्य की रचनाशीलता की बलिबेदी पर परम्परा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हें वे साहित्य के विकास में बाधक सिद्ध होते है और इतिहास लेखन के दायित्व का ठीक से निर्वाह नहीं कर पाते। जीवंत परम्परा को रूढ़ि से अलगाने का विवेक भी इतिहास लेखन में होना जरूरी है अन्यथा वह परम्परा के नाम पर रूढ़ि का समर्थन करते हुए साहित्य के विकास को दिग्भ्रित करने का अपराध कर सकता है।

सामान्यतः भारतीय संस्कृति और साहित्य तथा विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में द्विवेदी जी परम्परा को अविभाज्य, अखण्ड, विशुद्ध और एक नहीं मानते। उनका मत है कि भारतीय संस्कृति और साहित्य में भारतीय समाज की तरह ही अनेक संस्कृतियां और साहित्यों की परम्पराओं का मिला – जुला विकास हुआ है। भारतीय संस्कृति और साहित्य की परम्पराओं पर विचार करते हुए वे बार – बार गंगा नदी को याद करते हें और संस्कृति, साहित्य और परम्परा के विकासशील स्वरूप को समझने समझाने के लिए चिंताधारा, प्राणधारा और जीवन प्रवाह जेसे पदों का प्रयोग करते हैं। द्विवेदी जी अतीत के ऐसे प्रेमी नहीं हैं कि उसकी कमजोरियों को पहचान न सकें। **अशोक के फूल** निबन्ध में प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य में अशोक के वृक्ष और अशोक के फूल की गोरवगाथा की लम्बी चौड़ी चर्चा के बाद द्विवेदी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्य मय और अलंकृत रूप पर मोहित नहीं होते वे सामंती सभ्यता के मानवविरोधी रूप को पहचान लेते हैं। यह उनकी सामान्य जनता से सहानुभूति रखने वाली इतिहास दृष्टि का प्रमाण है।

द्विवेदी जी परम्परा को सनातन मानने के विरोधी हैं हर बात और हर वस्तु के मूल को वेद में खोजने के भी विरोधी हैं। परम्परा के अंध श्रद्धा का रूप परंम्परा को विशुद्ध और एक विशेष प्रकार की विचारधारा का ही पोषण मानने में प्रकट होता है और दूसरा, हर प्रकार के बाहरी प्रभाव को अछूत समझने में द्विवेदी जी ने इन दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों का खण्डन करते हुए लिखा है कि "आये दिन श्रद्धा परायण आलोचक यूरोपीय मतवादों को धकिया देने के लिए भारतीय आचार्य विशेष का मत उद्द्धत करते हैं और आत्मगौरव के उल्लास में घोषित कर देते हैं कि हमारे यहाँ यह बात इस रूप में मानी या कही गयी है। यह रास्ता गलत है। प्रत्येक बात में ऐसे बहुत से मत पाये जाते हैं जो परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ0 105) द्विवेदी जी हर प्रकार के बाहरी या विदेशी प्रभाव से परहेज करने की सलाह नहीं देते, लेकिन वे अन्धानुकरण का समर्थन भी नहीं करते। वे परम्परा और रूढ़ि में अन्तर करते हैं और रूढ़ि के वृथा मोह से मुक्त होने की सलाह देते हैं। द्विवेदी जी परम्परा को'आधुनिक और वैज्ञानिक चित्त' से देखने की सिफारिस करते हैं 'पुराने चित्त से नहीं।' अतीत के वृथा मोह से मुक्त द्विवेदी जी की भविष्यान्मुखी इतिहास दृष्टि परम्परागत और नये अनुभव के द्वन्द्व से उत्पन्न इतिहास विवेक को साहित्य के इतिहास लेखन के लिए महत्वपूर्ण मानती है।"[1]

साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से पूरी तरह स्वतंत्र है और विछिन्न नहीं होता, इसलिए साहित्य के इतिहास के इतिहासकार को समाज के इतिहास के बोध और वैज्ञानिक धारणा की आवश्यकता होती है। समाज के इतिहास के बोध ओर वैज्ञानिक धारणा के अभाव में साहित्य और समाज के सम्बन्ध का ठीक – ठीक बोध कठिन होगा। समाज के इतिहास की कोई धारणा न होने पर साहित्य का इतिहासकार साहित्य शास्त्र को अन्धे की लाठी की तरह पकड़कर अनुमान ओर अटकल बाजी के कदमों से साहित्य के इतिहास के यात्रा करने का प्रयास करता है। यह समझना वहुत मुश्किल नहीं है कि ऐसी यात्रा के केसे परिणाम हो सकते हैं।

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 138

द्विवेदी जी ने समाज के इतिहास के बारे में विस्तार से नहीं लिखा है लेकिन उनकी पुस्तकों और विभिन्न निबंधों में व्यक्त इतिहास सम्बन्धी विचारों में उनकी प्रगतिशील इतिहास दृष्टि प्रकट होती है। द्विवेदी जी जीवन जगत को देखने की ऐतिहासिक दृष्टि को आधुनिक युग की एक मुख्य विशेषता मानते हैं। वे इतिहास को एक जीवंत शक्ति मानते हैं। जिनमें मानव समाज की जिजीविषा प्रकट होती है। वे इतिहास प्रकट होती है। वे इतिहास को स्थिर, स्थायी और जड़ भी नहीं मानते, उसे मनुष्य जीवन का अखण्ड प्रवाह कहते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार इतिहास मानव समाज के संघर्ष और विकास की कथा है। इसलिए वह केवल राजाओं और महाराजाओं की जीवन गाथा नहीं है। इतिहास जनता के संघर्ष और विकास का सूचक है। द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'इतिहास जीवंत मुनष्य के विकास की जीवन कथा होता हे जो काल प्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहने वाली नव नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय यात्रा का चित्र उपस्थित करता है और जो काल के पर्दे पर होने वाले नये – नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है।' (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 78) साहित्य और समाज की विकास प्रक्रिया की एक बुनियादी विशेषता यह है कि वह संघर्ष और परिवर्तन के माध्यम से आगे बढ़ती है। साहित्य और संस्कृति में मानव समाज के संघर्ष की ही अभिव्यक्ति होती है। साहित्य का इतिहास संघर्षो से संचालित साहित्य में हुए परिवर्तनों और विकास को उपस्थित करता है। इतिहास की नायकोन्मुखी धारणा का खंडन करने वाली यह जनोन्मुखी इतिहास दृष्टि है। "द्विवेदी जी की इतिहास सम्बन्धी भविष्योन्मुखी दृष्टि समाज के इतिहास की उनकी जनोन्मुखी दृष्टि से जुड़ी हुयी है।"[1]

किसी भी व्यक्ति को आश्चर्य हो सकता है कि साहित्य के इतिहास लेखन में मनुष्य के बारे में इतिहासकार की धारणा की चर्चा की क्या जरूरत है? यह बात हम सब जानते हैं कि साहित्य, संस्कृति, परम्परायें और इतिहास के निर्माण और विकास का कारण तथा लक्ष्य मुनष्य ही है। लेकिन इतिहास लिखते समय जब कुछ लोग मनुष्य को भुला देते हैं तो अमानवीय इतिहास लेखन होने लगता

---

1. साहित्य ओर इतिहास दृष्टि पृ0 सं0 – 139

है। संरचनावादी इतिहास लेखन या 'नामहीन कला का इतिहास दर्शन में यही स्थिति दिखाई पड़ती है। ऐसे इतिहास लेखन में इतिहास का निर्माता मनुष्य इतिहास से गायब हो जाता है, वह अपने ही बनाये हुए इतिहास का शिकार हो जाता है। जिस तरह पूँजीवादी समाज व्यवस्था में आर्थिक सामाजिक नियम मनुष्य से अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं तथा मनुष्य की सृजनशीलता इन नियमों का शिकार हो जाती है, वैसे ही पूँजीवादी विचारधारा के इतिहास लेखकों के लिए इतिहास में मनुष्य की महत्ता और सार्थकता की प्रतिष्ठा अनावश्यक हो जाती है। ऐसी स्थिति में इतिहास लेखन में मनुष्य की महत्ता और सार्थकता को स्वीकार करने वाला विचारक पूँजीवाद की मानव विरोधी विचार धारा का विरोधी माना जायेगा।

"आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समाज और साहित्य के इतिहास का मुख्य विषय मनुष्य को ही मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि, 'वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। अपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जय यात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों उद्वेगों और उल्लासों का स्पंदन देखा है, राजनीति में इसकी लुकाछिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है।"[1] (अशोक के फूल पृ0 180)

द्विवेदी जी का विचार है कि मनुष्य ही साहित्य और उसके अध्ययन का वास्तविक लक्ष्य है। वे मनुष्य से अधिक न तो परम्परा को महत्व देते हैं और न इतिहास को। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विरोधी विचारों परिस्थितियों और शक्तियों से संघर्ष करता हुआ मनुष्य आगे बढ़ता है और इस विकास के दौरान उसकी मनुष्यता का जो विकास होता है वह साहित्य में प्रकट होता है। द्विवेदी जी ने लिखा है – साहित्यिक का कर्त्तव्य है कि वह किसी प्रथा को चिरंतन न समझे, किसी रूढ़ि को दुर्विजय न माने, और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकाल सत्य न माने। इतिहास विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में जो मनुष्यता है जो उसे पशुता से अलग कर देती है, वही आराध्य है। क्या साहित्य और क्या राजनीति सबका एक मात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि पु0 सं0 – 139

की सर्वांगीण उन्नति है।" द्विवेदी जी का इतिहास विधाता और कोई नहीं, जनता ही है। उसके सामाजिक संघर्ष और विकास के बीच से ही मनुष्यता का विकास होता है, साहित्य और उसके विकास के बीच से ही मनुष्यता का विकास होता है साहित्य और उसके इतिहास का निर्माण होता है। मनुष्यता के इस विकास की उपेक्षा करके साहित्य का इतिहास नहीं लिखा जा सकता। द्विवेदी जी मनुष्य की जीवनी शक्ति में, उसकी विजय यात्रा में अपनी अटूट आस्था प्रकट करते हैं और इतिहास, संस्कृति, आदि में इसी की अभिव्यक्ति देखने की कोशिश करते हैं। यही कारण है कि द्विवेदी जी साहित्य के इतिहास को मानवता की प्रगति के अनुसंधान और मनुष्य की पहचान विकसित करने का साधन मानते हैं।"[1]

साहित्य और भाषा का जितना अविभाज्य सम्बन्ध है उतना ही साहित्य के इतिहास और भाषा के इतिहास का भी। भाषा के इतिहास को समाज के विकास के साथ जोड़कर देखा जाय तो भाषा के इतिहास के साथ – साथ समाज और संस्कृति का इतिहास में सामने आयेगा। लेकिन यह तभी सम्भव होगा जब भाषा के उदय और विकास को सामाजिक विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत रखकर समझा जाय न कि वैज्ञानिकता के नाम पर भाषा के सामाजिक ऐतिहासिक स्वरूप को छोड़कर केवल उसके समकालिक रूप पर विचार किया जाये। साहित्य की भाषा में भाषा की सामाजिकता के साथ – साथ साहित्यकार की निजी सृजनशीलता भी प्रकट होती है। साहित्य के इतिहासकार को साहित्य की भाषा के इन दोनों पक्षों पर विचार करना जरूरी है। साहित्य के इतिहास और भाषा के इतिहास के महत्वपूर्ण सम्बन्ध की समस्या के इतिहास की एक समस्या यह है कि उसका आरम्भ कब से माना जाये? हिन्दी भाषा के इतिहास से हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध से जुड़ी हुयी दूसरी समस्या एक और भी है जिसकी ओर राम विलास शर्मा ने संकेत किया है। उनका कहना है कि हिन्दी की अनेक बोलियों में समृद्ध साहित्य रचा गया है। क्या हिन्दी की समस्त बोलियों और उपभाषाओं – अवधी–ब्रजभाषा, मैथिली, राजस्थानी आदि के साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल किया जा सकता है या नही? एक तीसरी समस्या यह है कि दकनी हिन्दी, फारसी लिपि

---

1. हिन्दी साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 140

में लिखी हुयी हिन्दी अरबी, फारसी, मिश्रित हिन्दी यानी उर्दू के साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल किया जाये या नहीं। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, 84–85)। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्बद्ध इन समस्याओं का समुचित हल तभी निकल पायेगा जब हिन्दी भाषा और उसकी बोलियों के विकास का इतिहास हिन्दी भाषी प्रदेशों की जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास के साथ जोड़कर देखा और समझा जाय। इस प्रकार भाषा और उसके इतिहास के बारे में साहित्य के इतिहासकार की दृष्टि और सजगता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। "आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास लेखन और अनेक निबन्धों में भाषा के स्वरूप, साहित्य से उसके सम्बन्ध, उसकी सामाजिकता और उसकी विकासशीलता पर विचार किया है। अपने इतिहास लेखन के दौरान द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा के विकास तथा उसके जातीय स्वरूप का उद्घाटन भी किया है।"[1]

आचार्य द्विवेदी भाषा को सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक मानते हैं। द्विवेदी जी ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि शब्द हमारी सामाजिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का प्रतिनिधित्व होता है और इन विशेष अर्थों के लिए चुनना हमारी उस अंतवैयक्तिक सामान्य सामान्य सत्ता के प्रति निष्ठा का सबूत है जिसके बिना व्यक्ति या समाज का विकास सम्भव ही न होता। शब्द हमारे अंत वैयक्तिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। इन सम्बन्धों को अधिक स्पष्ट भाषा में सामाजिक कह सकते हैं।' (विचार और वितर्क, पृ0 272–73) भाषा को मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक मानने वाला विचारक साहित्य का इतिहास लिखते समय साहित्य की सामाजिकता की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह विभिन्न कालों के साहित्य में उन कालों के मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति की भी खोज करेगा।

साहित्य की लंबी विकासशील परम्परा में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द विकसित होते हैं जिनमें अपने समय की सामाजिक चेतना, भावना और विचारधारा की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे शब्दों के इतिहास उनसे जुड़ी सामाजिक, सांस्कृतिक

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 141

चेतना, संवेदना और विचारों का इतिहास प्रकट होता है। "द्विवेदी जी ने **कबीर** में मध्यकाल के संत साहित्य में प्रचलित कुछ शब्दों में निहित सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना और विचारधारा का अध्ययन करके मध्यकाल के साहित्य की कुछ जटिल गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न ही नहीं किया है, मध्यकाल के सांस्कृतिक इतिहास के अनेक पक्षों पर भी प्रकाश डाला है।"[1]

"साहित्य का इतिहास एक सुव्यवस्थित इतिहास दृष्टि के आधार पर लिखा जाता है और बिना किसी व्यवस्थित इतिहास दृष्टि के भी। फर्क केवल यह होता है कि सुव्यवस्थित इतिहास दृष्टि के आधार पर साहित्य का इतिहास पाठकों और रचनाकारों को दिशा दे सकता है जबकि दृष्टि हीन इतिहास भानुमती का पिटारा बनकर सबको दिग्भ्रमित करता है। कुछ लोग सोचते हैं कि साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याओं पर विचार करने की क्या जरूरत है, जरूरत है इतिहास लेखन में लग जाने की। हिन्दी साहित्य के इतिहासों के इतिहास पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास अगर महत्वपूर्ण और सार्थक बन सके तो उसका एक कारण यह है कि इन दोनों इतिहासकारों ने इतिहास लेखन की विभिन्न समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया और सुनिश्चित इतिहास दृष्टि के आधार पर इतिहास लिखा। "आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के इतिहासों के पहले और बाद में लिखे गये अनेक इतिहास ग्रंथ किसी सुनिश्चित इतिहास दृष्टि के अभाव में **इतिवृत्त संग्रह** या कवि कीर्त्तन बनकर रह गये।"[2]

आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण का निर्माण भारतीय साहित्य के प्रगतिशील आन्दोलन के काल में हुआ था। उनके साहित्य विवेक पर प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभाव कई रूपों में पड़ा है। इस प्रभाव के कारण ही आचार्य द्विवेदी साहित्य के विचारधारात्मक पक्ष को अधिक महत्व देते हैं। जबकि छायावाद के युग में विकसित आचार्य शुक्ल का साहित्य विवेक अनुभूति

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 141
2. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 142

को विशेष महत्वपूर्ण मानता है। द्विवेदी जी साहित्य को अपने युग की सम्पूर्ण चेतना और विचार संघर्ष की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति' ही नहीं मानते, वे हिन्दी साहित्य के इतिहास को भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास भी कहते हैं। द्विवेदी जी ने साहित्य के इतिहास के बारे में लिखा है कि – "जब हम किसी साहित्य के इतिहास को पढ़ने बैठते हैं तो वस्तुतः उस जाति की सम्पूर्ण चिंताराशि, अनुभूति, परम्परा और संवेदनशीलता का परिचय पाना चाहते हैं।" (साहित्य सहचर पृ0 123) "आचार्य द्विवेदी हिन्दी साहित्य को लोकचिंता का मूर्त प्रतीक कहते हैं। मध्य कालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के प्रसंग में वे 'मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मानदण्डों से लोकचिंता को मापना नहीं चाहते बल्कि लोकचिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश करते हैं।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ0 – 6)"[1]

साहित्य का इतिहास साहित्यबोध का भी इतिहास होता है। इतिहास कार विभिन्न कालों की रचनाओं और रचनाकारों का विवरण ही नहीं देता, वह विभिन्न कालों के साहित्यबोध के विकास को भी देखता है। इस प्रसंग में महत्वपूर्ण सवाल यह है कि किसी काल के साहित्यबोध या साहित्य संवेदना को समझने के साधन क्या हैं? आचार्य द्विवेदी ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि काल विशेष में रचित साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि 'हम उन कवियों, ग्रंथकारों और कृतियों की जानकारी प्राप्त करें जो उस काल विशेष में आदर्श, अनुकरणीय और व्याख्येय समझे गये थे इसके अतिरिक्त लोकप्रिय किवदंतियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है क्योंकि उनमें लोकप्रिय साहित्यिक मान और उत्तम रचना की कसौटी विद्यमान रहती है। इन सबके अतिरिक्त उस काल के साहित्य के पीछे सक्रिय, धार्मिक, राजनीति और आर्थिक शक्तियों की समझ भी जरूरी है। मध्यकालीन बोध का स्वरूप पृ0 11) द्विवेदी जी किसी काल के साहित्यबोध या साहित्य संवेदना को समझने के लिए साहित्य के क्षेत्र तक सीमित नहीं रहते। उस काल के साहित्य के यथार्थ स्वरूप को समझने के साहित्य

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 143

की दुनियां के बाहर वृहत्तर सामाजिक राजनीतिक परिवेश को भी समझना जरूरी मानते हैं। द्विवेदी जी साहित्य के इतिहास को केवल पुस्तकों और लेखकों का लेखा जोखा नहीं मानते, वे इससे आगे बढ़कर साहित्य के इतिहास को विभिन्न विरोधी परिस्थितियों और विचारों से संघर्ष करते हुए मानव समाज की विकास कथा मानते हैं। साहित्य के इतिहास के सहारे मानव समाज की विकास कथा को समझते हुए ही हम वर्तमान में अपने को ही समझते हैं। यह साहित्य के इतिहास की समकालीन परम्परा की स्वीकृत शिष्ट साहित्य का अध्ययन पर्याप्त नहीं है, इसके लिए जन संस्कृति की विभिन्न अभिव्यक्तियों पर भी ध्यान देना जरूरी है। यही कारण है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए लोकभाषा, लोक संस्कृति और लोक साहित्य और लोक प्रचलित साहित्य रूपों के अध्ययन पर बल दिया है।

"आचार्य द्विवेदी ने साहित्य के इतिहास लेखन; विशेषतः हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन से संबद्ध दो दूसरी महत्वपूर्ण अवधारणाओं पर विचार किया है। ये दो अवधारणायें हैं; मध्ययुगीन और आधुनिकता। ये दोनों अवधारणायें हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों, इतिहास लेखन की समस्याओं पर विचार करने वालों और आलोचकों को अनेक तरह की मुश्किलों में डालती हैं। इन अवधारणाओं के बारे में अनिश्चय के कारण ही कुछ लोग भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य को नई कविता तक घसीट लाते हैं तो कुछ दूसरे लोग आधुनिकता को ठेलकर ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी तक ले जाते हैं। आचार्य द्विवेदी ने इन अवधारणाओं पर जो विचार किया है उससे इन अवधारणाओं से जुड़ी हुई कुछ मुश्किलें आसान हो सकती हैं। द्विवेदी जी मध्य कालीनता को 'पतोन्मुख और जब दी हुई मनोवृत्ति' मानते हैं।"[1] मध्यकालीनता की विशेषतः मूलतः योरप के इतिहास के मध्ययुग की विशेषता मानी जा सकती है। वैसे अब योरप में भी मध्यकाल के बारे में ऐसी धारणा का विरोध हो रहा है। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या योरप के इतिहास में जिस कालखंड को मध्ययुग कहते हैं। भारतीय इतिहास के उसी कालखंड को मध्ययुग कहा जा सकता है। द्विवेदी जी भारतीय समाज और साहित्य के इतिहास के मध्यकाल को

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 144

योरोपीय मध्यकाल के समान नहीं मानते, इसे वे पतोन्मुख और जब दी हुई मनोवृत्ति का काल नहीं कहते। भारतीय साहित्य के इतिहास के इस काल में ही अखिल भारतीय व्यापक जनसंस्कृति के जागरण की अभिव्यक्ति करने वाला भक्ति साहित्य आता है। द्विवेदी जी भक्ति साहित्य को लोक साहित्य और भक्ति आन्दोलन को विराट जन आन्दोलन कहते हैं। द्विवेदी जी यह भी मानते हैं कि भक्ति आंदोलन न तो पतनोन्मुख और जब दी हुयी मनोवृत्ति की उपज है और न 'अपने पौरुष से हताश और उदास जाति' की चिंता और भावना की अभिव्यक्ति है। आचार्य द्विवेदी ने भक्ति काव्य को 'अपने पौरुष से हताश और उदास जाति' की भावना की अभिव्यक्ति मानने की आचार्य शुक्ल की धारणा का स्पष्ट शब्दों में प्रतिवाद किया है। भारतीय साहित्य के इतिहास और विशेषतः हिन्दी साहित्य के इतिहास के के मध्यकाल को पतोन्मुख और जब दी हुई मनोवृत्ति का काल न मानने के कारण ही द्विवेदी जी ने अपने दूसरे इतिहास ग्रंथ हिन्दी साहित्य में मध्ययुग नाम का उपयोग नहीं किया है।

"द्विवेदी जी ने मध्ययुगीनता की एक दूसरी विशेषता की ओर संकेत किया है। यह दूसरी विशेषता है कुंठित मनोवृत्ति। इस कुंठित मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि जब साहित्यकार प्रतीक और रूढ़ि का विवेक खो देता है तो वह कुंठाग्रस्त हो जाता है। इसका दूसरा लक्षण यह है कि जहाँ शब्द प्रधान हो जाये, अर्थ सिमटता जाये वहाँ अर्थ से क्रमशः कटता हुआ शब्द स्तब्ध ओर प्रयोग विरहित शैथिल्य को जन्म देता है। (मध्यकालीन बोध का स्वरूप पृ0 22) मध्ययुगीनता की ये दोनों विशेषताएं रीतिकाल के साहित्य में मौजूद हैं।"[1]

आचार्य द्विवेदी ने आधुनिकता की अवधारणा पर विचार किया है और आधुनिक रचनाशीलता की विशेषताओं को भी स्पष्ट किया है। आधुनिकता समाज आधुनिकीकरण से उत्पन्न चिंतन और भावना से जुड़ी हुई होती है। यह समा विकास की विशेष अवस्था से निर्मित मानव – चेतना की एक विशेषता है।

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 145

और कला में आधुनिक मानस की रचनशीलता ही आधुनिकता के रूप में प्रकट होती है। साहित्य में आधुनिकता का अर्थ आधुनिक जीवन की समस्याओं और वास्तविकता की अभिव्यक्ति से है। आधुनिकता कला और साहित्य की रचना का एक दृष्टिकोण है और आधुनिक रचनाशीलता की एक विशेषता भी। "द्विवेदी जी परिवेश के प्रति सजगता, वस्तुनिष्ठ दृष्टि, बौद्धिकता, यथार्थवाद और सामुहिक मुक्ति की भावना को आधुनिकता की विशेषताएं मानते हैं। उनके अनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एतिहासिक दृष्टि की प्रतिष्ठा आधुनिकता की एक मुख्य विशेषता है। द्विवेदी जी ने लिखा है कि एतिहासिक दृष्टि को अस्वीकार करके नये साहित्य को ठीक – ठीक नहीं समझा जा सकता। इसके तत्काल बाद उन्होंने यह भी लिखा है कि 'यह बिल्कुल गलत है कि इस काल में बिहारी सतसई लिखकर कई उतना ही सफल हो जायेगा जितना बिहारी हुये। (विचार और वितर्क – 98) द्विवेदी जी के इस कथन से यह बात साफ हो जाती है कि ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में आधुनिक साहित्य ही नहीं प्राचीन साहित्य को भी ठीक – ठीक समझना मुश्किल है।"[1]

द्विवेदी जी के अनुसार आधुनिकता और आधुनिक रचनाकार की एक विशेषता सचेत परिवर्तनेच्छा भी है। उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है, 'आधुनिक युग में यह विश्वास किया जाने लगा कि साहित्यकार जब लिखता है तब उसके द्वारा कुछ बदलना चाहता है। वह केवल बंधी बंधायी परिपाटियों से चालित होकर लिखने से वह उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता। उसका उद्देश्य, जैसा है; उसकी व्याख्या करना नहीं होता और न यह होता है कि जो कुछ पुराने जमाने से कहा जाता आया है उसे दुहराये।' (मध्ययुगीन बोध का स्वरूप – 18–19) यह सचेत परिवर्तनेच्छा आधुनिक युग के सच्चे रचनाकार की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 145

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जिस समय **हिन्दी साहित्य की भूमिका** लेकर आये वह इस देश में व्यापक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों का काल है। यह भारत के राष्ट्रीय नवजागरण के विकास का काल है और इस नवजागरण की मुख्य विशेषताएं है परम्परा का नया मूल्यांकन, रूढ़िवाद का विरोध, स्वतंत्र चिंतन और सृजन का प्रबल भाव। आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के इतिहास लेखन के प्रयास इसी नवजागरण की चेतना की उपज है। द्विवेदी जी भारत के राष्ट्रीय नवजागरण के दो मुख्य केंद्रों हिन्दी भाषी प्रदेश और बंगाल, के सांस्कृतिक परिवेश और चेतना से गहरे स्तर पर जुड़े हुये थे। उनके साहित्य चिंतन और साहित्य सृजन में इन दोनों के प्रभाव मौजूद हैं। यह राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के विकास का भी काल है जिसकी मुख्य विशेषताएं हैं सामंतवाद विरोध और सम्राज्यवाद विरोध। द्विवेदी जी के साहित्य चिंतन इतिहास दर्शन और उपन्यासों तथा निबंधों में सामंतवादी विरोध तथा साम्राज्यवाद विरोध की अभिव्यक्ति हुई है। यह राजनीतिक सामाजिक परिवर्तनों की प्रबल आकांक्षा से आन्दोलित जन चेतना के विकास का भी काल है। द्विवेदी जी ने साहित्य चिंतन और साहित्य सृजन में जनता की भावनाओं की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। हिन्दी साहित्य में यह प्रगतिशील आन्दोलन का काल है। प्रगतिशील आन्दोलन केवल हिन्दी कविता या हिन्दी साहित्य का ही आन्दोलन नहीं है यह एक अखिल भारतीय स्तर का व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन है जिसमें राष्ट्रीय नव जागरण, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन व्यापक जन चेतना के नये उभार और भारतीय समाज संस्कृति तथा साहित्य की भावी प्रगति की दिशा का बोध व्यक्त हुआ है। "आचार्य द्विवेदी के साहित्य चिंतन इतिहास दर्शन और साहित्य सृजन पर इस प्रगतिशीन आन्दोलन का भी गहरा असर है। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य विवेक, इतिहास दृष्टि और रचना दृष्टि के निर्माण में राष्ट्रीय नव जागरण, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा प्रगतिशील आंदोलन के योगदान का मूल्यांकन स्वतंत्र अध्ययन का विषय है।"[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्य राम चंन्द्र शुक्ल और उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास के बारे में लिखा है, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास उनकी व्यापक दृष्टि का ज्वलंत निदर्शन है। कितने इतस्ततो निक्षिप्त सूत्रों की उलझने उसमें सुलझाई गयी हैं, कितने बेबुनियाद मूल्यांकन को अस्वीकार करके नया और

मानने योग्य मूल्य निर्धारण का काम किया है वह उसके पूर्ववर्ती ग्रंथो की तुलना करने से ही स्पष्ट हो जाता है। द्विवेदी जी ने और आगे लिखा है, 'अनेक इतिहास लेखकों ने उनके ऐतिहासिक काल विभाजन और साहित्यिक मूल्यांकन को बिना किसी प्रकार के मत विरोध दिखाये स्वीकार कर लिया है। आचार्य द्विवेदी के पहले कथन से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य के इतिहास की अनेक जटिल उलझनों को सुलझाकर उसक एक व्यवस्थित और पक्का ढाँचा निर्मित किया और अपनी सुनिश्चित मूल्यांकन दृष्टि के आधार पर अनेक पुराने बेबुनियाद मूल्यांकन अस्वीकार करके लगभग एक हजार वर्षो के रचनाकारों, रचनाओं और रचना प्रवृत्तियों का व्यापक रूप से सामान्य मूल्यांकन प्रस्तुत किया। हिन्दी साहित्य में ये दोनों काम पहली बार आचार्य शुक्ल के हिंदी साहित्य के इतिहास के माध्यम से पूरे हुये इसलिए उसका युगांतकारी महत्व है। द्विवेदी जी के दूसरे कथन से यह जाहिर होता ह कि आचार्य शुक्ल के ऐतिहासिक काल विभाजन और साहित्यिक मूल्यांकन को व्यापक स्वीकृति मिली और बाद के एक अपवादों को छोड़कर अधिकांश इतिहास लेखकों ने इन्हें स्वीकार किया। ऐसा नहीं है कि आचार्य शुक्ल के काल विभाजन और मूल्यांकन के बारे में मतभेद प्रकट नहीं किये गये हें लेकिन नये इतिहास लेखन के लिए आवश्यक सुनिश्चित नई इतिहास दृष्टि और उसके प्रामाणिक व्यावहारिक रूप के अभाव में अधिकांश मतभेद झूठी मौलिकता के प्रदर्शन और आचार्य शुक्ल को धकियाकर उनकी जगह लेने की कोशिश के अलावा और कुछ नहीं दिखाई दते। एक सुनिश्चित नई इतिहास दृष्टि, मूल्यांकन के नये दृष्टिकोण और समकालीन समाज तथा साहित्य के विकास की जरूरतों के बोध के बिना हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लेखन न पहले संभव हुआ था और न अब है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक सुनिश्चित इतिहास दृष्टि और साहित्य के मूल्यांकन के नये दृष्टिकोण के प्रमाण के रूप में हिन्दी साहित्य की भूमिका लेकर तब आये जब आचार्य शुक्ल के इतिहास का उनके जीवन में दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। "द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के अतिरिक्त 'सूर साहित्य' 'कबीर' 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' 'हिन्दी साहित्य' 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप'

आदि ग्रन्थों और समय – समय पर लिखे गये विभिन्न निबन्धों में अपनी सुनिश्चित इतिहास दृष्टि और साहित्य के मूल्यांकन के नये दृष्टिकोण का प्रभाव दिया है। निश्चय ही 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1940) में द्विवेदी जी का एक तेजस्वी मौलिक विचारक और इतिहासकार रूप दिखाई देता है।"[1]

"द्विवेदी जी ने शुक्लजी के इतिहास की दो मुख्य विशेषताओं को महत्वपूर्ण माना है। ये दोनों विशेषताएं है, ऐतिहासिक काल विभाजन और साहित्यिक मूल्यांकन स्वभावतः साहित्य के इतिहास के ये दोनों बुनियादी पक्ष हैं। विचारणीय बात है कि इन दोनों मुद्दों पर आचार्य द्विवेदी के चिंतन में नया क्या है।"[2]

काल विभाजन और नामकरण :

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को काल की दृष्टि से आदिकाल और साहित्यिक प्रवृत्ति की दृष्टि से वीरगाथा काल कहा है। इसका समय उन्होंने दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक माना है। द्विवेदी जी आदिकाल नाम को स्वीकार करते हैं और उसकी काल सीमा को भी। लेकिन वे वीरगाथा काल नाम से असहमत हैं। शुक्ल जी ने अपने काल विभाजन के दो कारण दिये हैं विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता और ग्रंथो की प्रसिद्धि। लोक भावना की चिंता करने वाले शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। इन्हीं दो कारणों को ध्यान में रखकर शुक्ल जी ने आदिकाल को वीरगाथा काल माना है। आचार्य द्विवेदी ने शुक्ल जी के काल विभाजन के सैद्धान्तिक आधार से अपना मतभेद प्रकट करते हुए लिखा है, 'वस्तुतः किसी काल प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्त ग्रंथों की संख्या द्वारा नहीं निर्णीत हो सकता, बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है। प्रभाव उत्पादक और प्रेरणासंचारक तत्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। (हिन्दी साहित्य का आदिकाल – 24) आचार्य शुक्ल ने साहित्य को जनता की चित्त वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब कहा है।

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 148
2. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 148

शुक्ल जी ने लिखा भी है कि जनता की चित्त वृत्ति में परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता है और जनता की चित्त वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य की परम्परा के साथ उसका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से हुआ। शुक्ल जी के अनुसार मूल वस्तु है जनता की चित्त वृत्ति और साहित्य उसको प्रतिबिंबित करने वाली रचना है। जनता की चित्त वृत्ति के परिवर्तन और परम्परा के साथ साहित्य के स्वरूप परिवर्तन और परम्परा का सम्बन्ध दिखाना साहित्य के इतिहास के लिए आवश्यक है। परम्परा और परिवर्तन के बीच से ही साहित्य का विकास होता है। इसका मतलब यह भी है कि साहित्य के परिवर्तन और विकास का आधार सामाजिक परिवर्तन और विकास को ही माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में साहित्य के इतिहास के काल विभाजन का आधार समाज के स्वरूप तथा साहित्य को प्रेरित और प्रमाणित करने वाली जनता की चित्तवृत्ति को मानना चाहिए और साहित्यिक काल का नामकरण भी इन्हीं दोनों बातों के आधार पर होना चाहिए। द्विवेदी जी प्रभावोत्पादक और प्रेरणा संचारक तत्व को जब साहित्य के काल के नामकरण का कारण मानते हैं तो वे प्रकारांतर से समाज के स्वरूप और लोक भावना को ही महत्व देते हैं। साहित्यिक काल के नामकरण का यह आधार शुक्ल जी के साहित्य के इतिहास दर्शन के अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं। ग्रन्थों की प्रचुरता और ग्रन्थों की प्रसिद्धि को काल प्रवृत्ति का निर्णायक मानने से लेखक पाठक का सम्बन्ध प्रकट होता है, समाज के स्वरूप और साहित्य के स्वरूप का व्यापक सम्बन्ध नहीं। द्विवेदी जी ने वीरगाथा काल नाम से अपना मतभेद प्रकट करते हुए राहुल जी के सुझाए नाम सिद्ध सामन्तकालको उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति को बहुत दूर तक स्पष्ट करने वाला माना है।

आदि काल के नामकरण से ही जुड़ी हुई समस्या उस काल की रचनाओं के स्वरूप पर विचार करने की है। द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'

में लिखा है कि इस काल में दो प्रकार की रचनाएं मिलती हैं– राजप्रस्तुति परक, ऐहिकता मूलक श्रृंगारी काव्य और नाथों सिद्धों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचाराधारा झाड़ फटकार, अक्खड़पना, सहज शून्य की साधना योग पद्धति से भरी तथा भक्ति मूलक रचनाएं। आचार्य शुक्ल ने भी इन दो प्रकार की रचनाओं की चर्चा की है। उन्होंने पहले प्रकार की रचनाओं के आधार पर ही इस काल का नाम वीरगाथा काल दिया था और दूसरे प्रकार की रचनाओं को साहित्यिक कोटि में शामिल करने से इंकार कर दिया था। आचार्य द्विवेदी भी दूसरे प्रकार की रचनाओं को विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं गिनतेलेकिन उसकी विचारधारा के कारण और संत साहित्य की परम्परा के एक श्रोत के रूप में उसका अध्ययन आवश्यक मानते हैं। द्विवेदी जी इन दो प्रकार की रचनाओं को दो जातियों पश्चिमी प्रदेशों के आर्य और पूर्वी प्रदेशों के आर्यो की रचनाएं मानते हैं। आदि काल की दो प्रकार की रचनाओं दो जातियों की रचनाएं माननें की धारणा गलत है। इसकी आलोचना नामवर सिंह और राम विलास शर्मा ने की है। अपनी इस धारणा की कमजोरी को पहचानने के कारण ही द्विवेदी ने अपने परवर्ती इतिहास ग्रंथों में इसको छोड़ दिया है। यहाँ यह बात ध्यान देने लायक है कि आचार्य द्विवेदी उन लोगों से कितने अलग हैं जो नए पुरानों रचनाकारों और रचनाओं के बारे में एक बार किसी गलत धारणा के शिकार हो जाने के बाद उस धारणा की व्यापक लोक निन्दा के बाद भी अपनी राय बदलने को तैयार नहीं होते और बार – बार हठपूर्वक गलत धारणा को सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

"वस्तुतः आदि काल की ये दो प्रकार की रचनाएं एक ही समाज के दो वर्गो सामन्तवर्ग और सामान्य जनता से जुड़ी हुई रचनाएं हैं। विचार भावना और विषय नहीं भाषा के स्तर पर भी पहले प्रकार की रचनाओं का सम्बन्ध सामन्त वर्ग से है और दूसरे प्रकार की रचनाओं का सामान्य जनता से। इन रचनाओं की रक्षा का काम भी एक और राजाश्रय में हुआ और दूसरी धार्मिक संस्थाओं और जनता के प्रेम तथा प्रोत्साहन से।[1]

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं – 150

शुक्ल जी ने आदि काल और आधुनिक काल के बीच के काल को मध्यकाल कहा है, शुक्ल जी से पहले मिश्र बन्धुओं ने भी माध्यमिक काल को पूर्व और उत्तर में बाँटकर देने का काम किया था। शुक्ल जी के बाद भक्तिकाल और रीतिकाल का मिला जुला कालपरक नाम मध्यकाल लगभग सर्वमान्य हो गया है। द्विवेदी जी ने भी हिन्दी साहित्य की भूमिका में मध्ययुग नाम का उपयोग किया है। द्विवेदी जी ने बाद में मध्ययुगीनता पर विस्तार से विचार करते हुए उसे पतनोन्मुख और जब दी हुयी मनोवृत्ति का सूचक माना हे ओर हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल से मध्ययुगीनता की इस विशेषता का अंतर्विरोध देखकर ही हिन्दी साहित्य (1952) में से मध्यकाल का नाम हटा दिया है। राम विलास शर्मा ने इस पुस्तक में मध्यकाल नाम के न होने पर बहुत पहले एतराज किया था। यह एतराज राम विलास शर्मा ने तव किया था जब वे सोलहवीं शताब्दी से भारत में आधुनिक युग का आरम्भ मानते थे। अब वे ग्यारहवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ मानने लगे हैं, इसलिए अब हिन्दी साहित्य के इतिहास से मध्यकाल के गायब होने पर शायद उन्हें कोई एतराज न होगा।

"आचार्य द्विवेदी का शुक्ल जी से दूसरा मुख्य मतभेद भक्तिकाल के प्रसंग में प्रकट हुआ है। भक्ति काल ही द्विवेदी जी के इतिहास और आलोचना का मुख्य विषय है। मतभेद का मुख्य मुद्दा भक्ति आन्दोलन के उदय के कारण से जुड़ा हुआ है। आचार्य शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाल को अपने पौरुष से हताश उदास जाति की चिन्ता और भावना की अभिव्यक्ति माना था। द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका में उसका खण्डन किया है। यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दी साहित्य की भूमिका के लिखने की तेयारी 1940 के पहले विश्व भारती के अहिन्दी भाषी साहित्यकों को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने के लिए हुयी थी। उस समय द्विवेदी जी की यह चिन्ता वहुत उचित और स्वाभाविक थी कि भक्ति काव्य से अनजान आदमी (वह अहिन्दी भाषी हो सकता था और हिन्दी वाला भी) कहीं हिन्दी साहित्य के इतिहास के गोरव भक्तिकाव्य को एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति और एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्त प्रतीक न

समझ लें। बंगाल में बैठे द्विवेदी जी को यह भी चिन्ता रही होगी कि ऐसा समझ कर अहिन्दीभाषी हिन्दी साहित्य और भाषा की उपेक्षा न करने लगे।"[1]

द्विवेदी जी ने भक्ति साहित्य को भारतीय जनता की चिन्ता का स्वाभाविक विकास भारतीय साहित्य की परम्परा का विकसित रूप और अपने समय के समाज और व्यापक जन समुदाय की भावनाओं की अभिव्यक्ति सिद्ध किया है। द्विवेदी जी ने भक्ति साहित्य को मध्यकाल के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से जोड़कर देखने का भी आग्रह किया है। उन्होंने भक्तिकाल के साहित्य पर इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार किया है लेकिन उसे इस्लाम की प्रतिक्रिया में लिखा गया साहित्य मानने की धारणा का खंडन किया है।

द्विवेदी जी भक्ति आन्दोलन को व्यापक जन आन्दोलन और भक्ति साहित्य को लोक साहित्य कहते हैं। द्विवेदी जी इसे जन आन्दोलन की अभिव्यक्ति करने वाला जन काव्य भी मानते हैं। उन्होंने लिखा है, प्रथमतः तो यह जन आन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य है, इसलिए इसमें उन रूढ़ियों और परम्पराओं की चर्चा नहीं मिलती है जो शास्त्रीयता से पुष्ट साहित्य में साधारणतः मिल जाया करती है। दूसरे जिस प्राचीन साहित्य के साथ इनकी तुलना की जाती है, उसके बनने से लेकर इस साहित्य के बनने के काल के बीच जो प्रायः आधी सहस्राब्दि का व्यवधान पड़ता है, उस व्यवधान युग के विचारों के विकास के अध्ययन की चेष्टा नहीं की जाती है। यदि इस व्यवधान कालिक साहित्य के उस अंश को देखें जिस का सम्बन्ध पण्डित जनों से नहीं बल्कि जन साधारण से था, तो कोई सन्देह नहीं रह जायेगा कि यह साहित्य इस व्यवधान कालिक जन साहित्य का ही क्रम विकास है। (हिन्दी साहित्य की भूमिका 48) भक्ति साहित्य को जन साहित्य मानने का यह दृष्टिकोण साहित्य के इतिहास लेखन का नया दृष्टिकोण था जो राष्ट्रीय भक्ति आन्दोलन और प्रगतिशील आन्दोलन के प्रभाव से निर्मित हुआ था। 1940 के पहले भक्ति आन्दोलन को विराट जन आन्दोलन और भक्ति साहित्य को जन साहित्य समझने वाले बहुत कम लोग थे। बाद में जो लोग भक्ति आन्दोलन को जन संस्कृति का नवजागरण और भक्ति साहित्य को उसकी अभिव्यक्ति समझते हैं उनकी समझ के बनने वाले में कुछ योगदान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की **हिन्दी साहित्य की**

भूमिका का भी है। इस बात को स्वीकार करने में किसी को अपनी मौलिकता के खो जाने का खतरा नहीं देखना चाहिए। द्विवेदी जी भक्ति साहित्य को लोक भाषा का काव्य और सामंती चेतना का विरोधी काव्य मानते हैं। द्विवेदी जी ने तो **हिन्दी सामंती** में भक्ति साहित्य से ही 'वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ' माना है। भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य की महानता को स्वीकार करने के बावजूद भक्ति साहित्य से ही वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे विद्यापति और खुसरो जैसे लोक भावना तथा लोकभाषा के कवियों के साथ अन्याय होगा।

नया मूल्यांकन:

साहित्य के इतिहास में काल विभाजन और नामकरण से अधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक मूल्यांकन है। किसी इतिहास और इतिहासकार की वास्तविक शक्ति रचनाओं, रचनाकारों और रचना प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में ही प्रकट होती है। यही आचार्य शुक्ल के इतिहास का सर्वाधिक शक्तिशाली पक्ष है। साहित्य के इतिहासकार के साहित्य विवेक और इतिहास दृष्टि के निर्माण में परम्परा के बोध से अधिक निर्णायक भूमिका उसके समय के समाज और साहित्य की रचनाशीलता के बोध की होती है। अपने समय के समाज और साहित्य की चेतना और विकास की दिशा को गहराई से समझने वाला इतिहासकार ही अतीत की रचनाओं, रचनाकारों और प्रवृत्तियों के सही मूल्यांकन और समकालीन प्रासंगिकता की खोज का काम करता है। इतिहासकार वर्तमान की आँख से अतीत और भविष्य को देखता है। आचार्य शुक्ल के साहित्यविवेक के निर्माण में छायावाद की रचनाशीलता है तो द्विवेदी के साहित्य विवेक के निर्माण में प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभाव। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल के साहित्यिक मूल्यांकन के दृष्टिकोण के केन्द्र में साहित्यिकता है तो द्विवेदी के मूल्यांकन सम्बन्धी दृष्टिकोण के केन्द्र में साहित्य की सामाजिकता। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शुक्ल जी के यहाँ सामाजिकता नहीं और द्विवेदी जी के यहाँ साहित्यिकता का अभाव है। न तो आचार्य शुक्ल की साहित्यिकता मूल्यांकन के दृष्टिकोण के केन्द्र में साहित्य की सामाजिकता। न तो आचार्य शुक्ल की

साहित्यिकता रूपवादी किस्म की है और न द्विवेदी जी की सामाजिकता समाजशास्त्रीय ढंग की।

द्विवेदी जी साहित्य के इतिहास में अतीत, वर्तमान और भविष्य के विकासशील सम्बन्ध को पहचानते हैं, साहित्यिक मूल्यांकन में इस विकासशील सम्बन्ध को नहीं भूलते। वे परम्परा को, अतीत को महत्व देते हैं लेकिन परम्परा के नाम पर रूढ़िवाद का समर्थन नहीं करते। द्विवेदी अतीत के ऐश्वर्य पर मुग्ध होनेवाले भोले इतिहासवादी नहीं हैं। यह ठीक है कि वे वर्तमान की आँख से ही अतीत और भविष्य को देखते हैं, लेकिन नवीनता के नशे में झूमने वाले ऐसे अंधे आधुनिकतावादी नहीं हैं जिसका कोई 'कल (न बीता हुआ न आने वाला) नहीं होता, केवल वर्तमान होता है, और वर्तमान भी केवल क्षण होता है। द्विवेदी जी ऐसे उतावले क्रान्तिकारी नहीं है जो अतीत और वर्तमान को भूलकर केवल भविष्य के सपनों में खोया रहता है।" द्विवेदी जी इतिहास में परिवर्तन, क्रान्ति, प्रवाह, धारा, प्रगति और विकास आदि बात करते समय अतीत वर्तमान और भविष्य के विकासशील सम्बन्ध को याद रखते हैं। साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों की रचनाओं और प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में उनका यह दृष्टिकोण दिखायी देता है।[1]

द्विवेदी जी इतिहास दृष्टि की नवीनता विशेष रूप से साहित्यिक मूल्यांकन में प्रकट हुयी है। आचार्य शुक्ल ने सिद्धों और नाथों की रचनाओं को साहित्यिक रचनाएं माननें से इन्कार किया था। उनका विचार था कि रचनाएं शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकती । सिद्धों और नाथों की रचनाओं के मूल्यांकन में द्विवेदी जी का दृष्टिकोण दूसरी तरह का है। द्विवेदी जी सिद्धों और नाथों की शास्त्र निरपेक्ष बाह्याडंम्बर, जातिपाति और रूढ़िया का खण्डन करने वाली उग्र विचारधारा से भरपूर रचनाओं को महत्वपूर्ण मानते हैं। यहाँ से साहित्यिकता से अधिक महत्वपूर्ण सामाजिकता है। सिद्धों और नाथों की रचनाओं में व्यक्त विचारधारा में सब कुछ प्रतिक्रियावादी ही नहीं था। अगर जातिपाँति, सामाजिक रूढ़ियों और बाह्याडंम्बर का खण्डन करने

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 152

वाली संतो की विचारधारा प्रतिक्रियावादी नही है जो वह नही है, तो सिद्धों और नाथों की वे ही बातें प्रतिक्रियावादी कैसे है? धर्म और साहित्य के संबन्ध के बारे में द्विवेदी जी की मान्यता यह है कि जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न हैं जिसमें धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही है। (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 11) इसी दृष्टि से द्विवेदी जी ने जैन धर्मभावना से प्रेरित होकर लिखी गई रचनाओं को भी आदिकाल के साहित्य में शामिल किया है।

सिद्धों नाथों और जैनों की रचनाओं को महत्त्व देने का एक और कारण है। हिन्दी साहित्य के इस काल का बहुत कम साहित्य उपलब्ध है, इसलिए जो उपलब्ध है या हो रहा है, उस सबकी शुद्ध साहित्य के आग्रह के कारण उपेक्षा करना ठीक नहीं है। द्विवेदी जी ने लिखा है, 'इस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिंगारी मिल जाए उसे सावधानी से जिलाये रखना कर्त्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुनिश्चित वाक्पाठव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भाषित करने की क्षमता छिपी होती है।' (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 27)। आदिकाल के सिद्धों, नाथों और जैनों की रचनाओं का मूल्यांकन करते समय द्विवेदी जी का ध्यान केवल 'रसिक हृदय की धड़कन' और 'सुशिक्षित चित्त के वाक्पाठव' पर नहीं है। उनका ध्यान उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भाषित करने की क्षमता छिपी रहती है।' (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 27)। सिद्धों और नाथों के साहित्य को शुद्ध साहित्य के आग्रह के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास से निकालने का अर्थ है हिन्दी साहित्य के इतिहास को छोटा करना और अपने समाज और साहित्य के इतिहास को छोटा करना बहुत बुद्धिमानी का काम नहीं है।"[1]

सिद्धों नाथों की रचनाओं का संत साहित्य से भी सम्बन्ध है संत साहित्य की परम्परा के स्रोत के रूप में द्विवेदी जी ने सिद्धों के साहित्य को महत्त्व दिया

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 153

है। प्रायः इस प्रकार की रचनाओं में व्यक्त विचारधारा से सहानुभूति न होने के कारण ही आचार्य शुक्ल ऐसी रचनाओं को काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानते। द्विवेदी जी ने विस्तार से यह साबित किया है कि विषयवस्तु, विचारधारा, भावधारा, और यहाँ तक कि शिल्प के स्तर पर भी संत - साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत नाथों और सिद्धों की रचनाओं का नया मूल्यांकन किया और भक्तिकाल के संत साहित्य देखने की नई दृष्टि भी दी।

आदिकाल में सामंती संस्कृति से संबद्ध साहित्य भी काफी लिखा गया था। ऐसी रचनाओं के नायक प्रायः ऐतिहासिक या लोकप्रिय चरित्र हुआ करते थे और उनकी शौर्यपरक प्रेमगाथाओं का चित्रण इन रचनाओं में होता था। द्विवेदी जी ने ऐसी रचनाओं के नये मूल्यांकन का काम किया। उन्होंने भारतीय साहित्य में सातवीं शताब्दी से ऐतिहासिक काव्यों के विकास पर विस्तार से विचार किया। इन ऐतिहासिक काव्यों के स्वरूप का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है, 'भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण संग्रह की ओर कम, कल्पना विलास अधिक मान था, तथ्य निरूपण कम, संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम, उल्लसित आनंद की ओर अधिक झुकाव था, विलासिता तथ्यावली की ओर कम।' (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ0 76)। द्विवेदी जी इन ऐतिहासिक काव्यों को संस्कृत की कथा और आख्यायिका की परम्परा से जोड़कर देखते हैं और इस काल के लोक प्रचलित काव्य रूपों के रचनात्मक उपयोग पर भी विचार करते हैं। मध्यकालीन चरित काव्यों की संरचना को समझने के लिए आवश्यक कथानक रूढ़ियों के स्वरूप और मध्यकाल के साहित्य में उनकी व्यापकता का विवेचन करने वाले द्विवेदी जी पहले व्यक्ति हैं।

द्विवेदी जी ने मध्यकाल के साहित्य के अध्ययन के लिए शिष्ट और लोक साहित्य में प्रचलित छन्दों के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने लिखा है कि 'नया छन्द जाति के नये मनोभाव की सूचना देता है, इसलिए साहित्य के इतिहास

में विभिन्न युगों में छन्दो का परिवर्तन केवल शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन नहीं है, वह जातीय चेतना, भाषा और अभिव्यक्ति के परिवर्तन का भी सूचक है। छन्द का परिवर्तन साहित्य के विकास को प्रेरित करने वाला परिवर्तन है। द्विवेदी जी ने आदिकाल के दो ऐतिहासिक चरित काव्यों पृथ्वी राज रासो और कीर्तिलता का साहित्यिक मूल्यांकन किया है। आचार्य शुक्ल ने **पृथ्वीराज रासो** को न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का माना और कीर्तिलता को केवल भाषा की दृष्टि से विचारणीय समझा। आचार्य द्विवेदी के हिन्दी साहित्य का आदिकाल के पहले और काफी बाद तक भी रासो की प्रमाणिकता अप्रमाणिकता पर भी बहस होती रही। उसके साहित्यिक महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान पहली बार द्विवेदी जी ने ही खींचा।

"आचार्य द्विवेदी के इतिहास और आलोचना का मुख्य विषय भक्ति आन्दोलन और उसका साहित्य ही है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' का अधिक भाग भक्ति काल से ही सम्वद्ध है। 'सूर साहित्य' और 'कबीर' में भक्तिकाल के दो महान कवियों की कविता का नया मूल्यांकन है। इनके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अपने निवन्धों में भक्ति आन्दोलन और भक्ति साहित्य से सम्बन्धित उनके नये और महत्त्वपूर्ण विचार बिखरे पड़े हैं, जिन पर कम ध्यान गया है।"[1]

आचार्य शुक्ल ने कबीर का महत्त्व इसलिए स्वीकार किया था कि 'मनुष्यत्व ही सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया।' लेकिन संतमत के कबीर और दूसरे कवियों के बारे में शुक्ल जी की बुनियादी धारणा यह थी कि 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।' शुक्ल जी का यह भी विचार था कि इन कवियों ने अशिक्षित जनता को गरमाने और उस पर धाक जमाने का ही काम अधिक किया। आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रंयावली की भूमिका में संतमत के कवियों को लोक विरोधी तक कह डाला है।

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 155

भक्तिकाल के संत कवि आचार्य शुक्ल की सहानुभूति न पा सके। इन कवियों की रचनाओं के मूल्यांकन की जरूरत बनी हुई थी। द्विवेदी जी ने संत साहित्य के उचित मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण काम किया। उन्होंने कबीर का मूल्यांकन करके सम्पूर्ण संतसाहित्य को नये दृष्टिकोण से देखने का मार्ग प्रशस्त किया। कबीर के इस नये मूल्यांकन के पहले या तो कबीर के रहस्यवाद की चर्चा होती थी या उनकी सधुक्कड़ी भाषा की। द्विवेदी जी ने कबीर के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व, प्रगतिशील विचार धारा, जनोन्मुख सामाजिक चेतना, मानवतावादी प्रेम भावना लोक धर्मी भक्ति भावना, मर्म स्पर्शी कवित्व शक्ति और व्यंग्यपूर्ण शक्तिशाली काव्यभाषा का विवेचन करके हिन्दी पाठकों के सामने कबीर का नया रूप उपस्थित किया। वास्तव में कबीर को शुद्ध साहित्य के प्रेमियों ने भले ही उपेक्षा की हो. भारतीय जनता के हृदय में वे सूर और तुलसी के साथ बराबर प्रतिष्ठित रहे हैं। आचार्य द्विवेदी ने कबीर का नया मूल्यांकन करके भारतीय जनता की भावनाओं को ही वाणी दी। द्विवेदी जी ने कबीर का जो नया मूल्यांकन किया उसके मूल में प्रगतिशील आन्दोलन से विकसित साहित्य के मूल्यांकन की नई दृष्टि का प्रभाव था।

आचार्य द्विवेदी ने कृष्ण भक्ति काव्य और सूर की कविता पर भी नये ढंग से विचार किया है। शुक्ल जी ने कृष्णभक्ति काव्य में उपलब्ध माधुर्य–भाव और प्रेम तत्त्व पर सूफियों का प्रभाव माना, श्रृंगार की अधिकता की आलोचना की और सूर की कविता में लोक संग्रह के भाव का अभाव देखा। इन सब प्रश्नों पर बाद के इतिहासकारों और आलोचकों के लिए विचार करना जरूरी था। द्विवेदी जी ने इन प्रश्नों पर विचार किया है। उन्होंने प्रेम को सम्पर्ण भक्तिकाव्य के मूल में निहित माना है। द्विवेदी जी ने मध्य युग के संतो और भक्तों के जिन सामान्य विश्वासों का उल्लेख किया है, उनमें प्रेम भी एक है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रेम तत्त्व सूफियों के प्रभाव से कृष्ण भक्तिकाव्य में नही आया था। वह सम्पूर्ण भक्ति काव्य में व्याप्त है क्योकि भक्ति प्रेम का ही एक उदात्त रूप है। कृष्ण भक्ति काव्य के माधुर्य भाव की परम्परा को एक ओर द्विवेदी जी

ने भागवत पुराण, भक्ति सूत्रों और प्राचीन काव्य से जोड़कर देखा है और दूसरी ओर लोक साहित्य से। उन्होंने कृष्ण भक्तिकाव्य के माधुर्य भाव को इन परम्पराओं में प्राप्त माधुर्य भाव का विकसित रूप कहा है। द्विवेदी जी ने शास्त्र, काव्य और लोक जीवन की परम्पराओं में व्याप्त राधा – कृष्ण के स्वरूप की खोज का काम भी किया है। इन्होंने लिखा है कि वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोक धर्म अधिक है। हिन्दी साहित्य के लोक गीतों में इसका प्रवेशे बल्लभाचार्य से बहुत पहले हो गया था। इन्हीं गीतों का विकसित और सुसंस्कृत रूप **सूर सागर** के अन्तर्गत विद्यमान है। (सूर साहित्य पृ० – 91) द्विवेदी जी ने जयदेव और विद्यापति की राधा से सूर की राधा की तुलना करके राधा – कृष्ण से सम्बद्ध माधुर्य भाव और प्रेम को पुरानी परम्परा से नहीं जोड़ा है, उन्होंने चण्डीदास की राधा की सूर की राधा से तुलना करते हुए अखिल भारतीय शक्ति साहित्य में माधुर्य भाव की सत्ता का उद्‌घाटन किया है।

आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल को हिन्दी साहित्य के इतिहास में, एक विचित्र संयोग कहा है। भक्ति काल के नव जागरण और जनोन्मुख्र कविता के अभूतपूर्व विकास के बाद दरबारी सामंती, संस्कृति से जुड़ी हुयी रूढ़िबद्ध, जनजीवन से कटी हुई, नायिका भेद और अलंकार शास्त्र से बंधी हुई, शब्द कोशल के सहारे टिकी हुई कविता की प्रवृत्ति का आना और लगभग 200 वर्षों तक प्रभावशाली बना रहना एक विचित्र संयोग ही नहीं, ऐतिहासिक ट्रेजिडी भी है। आचार्य शुक्ल रीतिकाल की कविता और काव्यशास्त्र का वास्तविक स्वरूप दिखा चुके थे। द्विवेदी जी ने रीतिकाल की कविता के मूल्यांकन में आचार्य शुक्ल की परम्परा का ही विकास किया।"[1]

द्विवेदी जी ने रीतिकाल की कविता पर प्राकृत और अपभ्रंश की सतसई, परम्परा, साहित्येतिहास और काव्यशास्त्र के प्रभाव की ओर संकेत किया है। इससे

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ० सं० 157

अधिक महत्वपूर्ण यह है कि द्विवेदी जी ने रीतिकालीन कविता पर उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के गहरे प्रभाव की चर्चा की है। रीतिकालीन कविता पर उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के प्रभाव की चर्चा की है। रीतिकालीन कविता पर उत्तर कालीन संस्कृत साहित्य के गहरे प्रभाव को देखकर यह कहा जा सकता हे कि रीतिकाल का काव्य एक प्रकार से नवशास्त्रीयतावाद के पुनरूत्थान का काव्य है। इस तरह के दुर्घटना दुनिया भर के साहित्य के इतिहास में कई बार हुई है। भक्ति काल के कवियों ने प्राचीन संस्कृत, साहित्य विशेषतः रामायण और महाभारत की परम्परा के जीवन्त तत्त्वों का रचनात्मक उपयोग किया जबकि रीतिकाल के कवि उत्तरकालीन संस्कृत काव्य और काव्य शास्त्र की पतनशील परम्परा की रूढ़ि को आदर्श मान कर चले। द्विवेदी जी ने रीतिकालीन कविता के जीवन से विच्छिन्न स्वरूप पर संस्कृत के उत्तरकालीन साहित्य के प्रभाव के बारे में लिखा है कि कवि गण नायक और नायिकताओं तथा अलंकार व संचारी आदि भावों के पूर्व निमित्त वर्गीकरण का आशय लेकर एक बंधे सधे सुर में एक बंधी सधी बोली की कवायद करने लगे। संस्कृत के उत्तरकालीन साहित्य का प्रभाव ही उसे चालित कर रहा था। (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ0 106)

रीतिकालीन कविता के रूढ़िबद्ध और सामंती संस्कृति से सम्बन्ध रूप की व्याख्या केवल संस्कृत के उत्तरकालीन काव्य और शास्त्र के अनुकरण या प्राकृत अपभ्रंश और काम शास्त्र की परम्परा के प्रभाव दिखाने से ही सम्भव नहीं हो सकती। उस साहित्य का अपने समाज से क्या सम्बन्ध था, यह भी दिखाना जरूरी है। द्विवेदी जी ने रीतिकालीन समाज वर्गीय ढाँचे के बारे में लिखा है, 'इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में यह स्पष्ट रूप से दो श्रेणियाँ हो गयीं, एक तो उत्पादक वर्ग जिसमें प्रधान रूप से किसान और किसान से सम्बन्ध रखने वाली जातियाँ बढ़ई लुहार, कहार, जुलाहा आदि थीं और दूसरा दल भोक्ता (राजा, रईस, नवाब आदि या भोक्तृत्व का मददगार था। मुगलशासन के अंतिम दिनों में भारतीय समाज के यही दो आर्थिक वर्ग थे, राजा, सामंत, मन्सबदार आदि भोक्ता वर्ग और कृषक और श्रमिकों का उत्पादक वर्ग। (हिन्दी साहित्य - पृ0 -181)। द्विवेदी जी

ने ठीक ही लिखा है कि यह सामंती व्यवस्था का पतन शील रूप था और रीतिकाल इसी बाहरी ढाँचे की अभिव्यक्ति है। द्विवेदी जी ने रीतिकाल की कविता के वर्गीय आधार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'इन दो वर्गों के मध्य में कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों आदि कलावंतों का वर्ग था जो उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोद करके जीविका निर्वाह करता था। जिस प्रकार के मालिकों का मनोरंजन इन कवियों और कलावंतों को करना पड़ता था उस वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए जिस प्रकार के जीवन से परिचय होना आवश्यक है वह इन कवियों को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान नहीं था, इसलिए उन्हें पुस्तकीय विद्या की आवश्यकता थी। इन दो मूलों से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता था; रति–रहस्य आदि कामशास्त्रीय ग्रन्थों से और दस रूपक रस मंजरी आदि नायिका भेद का वर्णन करने वाले ग्रन्थों से। फिर उक्ति वैचित्र्य आदि के लिए अलंकार शास्त्र के अन्य ग्रन्थों की भी इन्हें आवश्यकता थी। (हिन्दी साहित्य पृ0 181–182) "द्विवेदी जी ने रीतिकालीन कविता के वर्गीय आधार, सामंती जीवन व संस्कृति से उसके सम्बन्ध और उसमें प्राप्त स्त्री पुरुष सम्बन्धों के किताबी रूप का विश्लेषण करके उसके असली स्वरूप का उद्घाटन किया है। उन्होंने संस्कृत काव्य और काव्य शास्त्र की पतनशील परम्परा में जकड़े होने के रहस्य को भी खोल कर रख दिया है। क्या यहाँ फिर दोहराने की जरूरत है कि द्विवेदी जी की यह इतिहास दृष्टि प्रगतिशील आन्दोलन की देने है।"[1]

किसी काल का रचनाकार अपनी रचनात्मक आवश्यकताओं के अनुसार ही परम्परा की खोज उससे जुड़ने का प्रयास करता है। रीतिकालीन कवियों की कविता करने की जरूरतों की पूर्ति संस्कृत काव्य की उदात्त परम्परा या भक्तिकाल के जन्मोन्मुख कवियों की परम्परा से सम्भव नहीं थी, इसलिए वे संस्कृत के उत्तरकालीन काव्य काव्यशास्त्र और कामशास्त्र की ओर मुड़े आज भी अगर कोई कवि केशव की कविताई की प्रशंसा करते नहीं थकता और उससे जुड़ने की कोशिश

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 158

करता है तो मानना चाहिए कि वह अपनी रचना की जरूरतों के अनुरूप ही अपनी परम्परा की खोज कर रहा है।

द्विवेदी जी ने रीतिकाल की दरबारी संस्कृति से जुड़ी रूढ़िबद्ध कविता और उसके उप जीव्य संस्कृत के उत्तरकालीन काव्य से उसी काल के लोक जीवन की अभिव्यक्ति करने वाले लोक गीतों को हजार गुना बेहतर माना है। द्विवेदी जी ने लोक गीतों के बारे में लिखा है, 'इन गीतों में हम प्रेम और वियोग में तड़पते हुए सच्चे दृश्यों का वर्णन कर पाते हैं। भाई से विच्छिन्न बहन की करुण कथा सौत के, ननद के और सास के अकारण विक्षिप्त वाक्य बाणों से विद्ध बहू की मर्म कहानी, साहूकार, जमींदार और महाजन के सताये गरीबों की करुण पुकार, आन पर कुर्बान हो जाने वाले विस्मृत वीरों की वीरगाथा, अपहार्यमाण सती का वीरत्व पूर्ण आत्मघात, नई जवानी के प्रेम में घात – प्रतिघात, प्रीतम के विरह मिलन और मातृ प्रेम के अकृत्रिम भाव इन गीतों से भरे पड़े हैं।' (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 106) रीतिकालीन कविता का एक ही विषय था, जिसके चारों ओर कविता चक्कर काट रही थी। वह विषय था नारी का कामिनी रूप। द्विवेदी जी ने यह लिखा है कि रीतिकालीन कविता में नारी के सामाजिक अस्तित्व की अभिव्यक्ति का अभाव है। यही कारण है कि रीतिकाल की मुग्धायें, खण्डिताएं और धीराएं अलंकार से लदी हुई होकर भी निष्प्राण हैं जबकि अपने सामाजिक अस्तित्व को लेकर उपस्थित होने वाली लोक गीतों की नारी जीवन्त और सहज सौन्दर्य से भरपूर है।

"रीतिकालीन काव्य का मूल्यांकन करते समय द्विवेदी जी का दृष्टिकोण मुख्य रूप से सामंतवाद विरोधी और जन संस्कृति से सहानुभूति रखने वाला है। इसी दृष्टि से उन्होंने रीति कालीन साहित्य और समाज के सम्बन्ध, साहित्य के वर्गीय आधार और परम्परा से उसके सम्बन्ध का विवेचन किया है। रीतिकालीन कविता से उस काल के लोकगीतों को अधिक जीवन्त और व्यापक मानवीय अनुभवों से सम्पन्न बताकर द्विवेदी जी ने साहित्य के इतिहास लेखन में लोक गीतों के

महत्त्व की ओर संकेत किया है। इस नये दृष्टिकोण से रीतिकाल का सही मूल्यांकन करना अब भी बाकी है।"[1]

साहित्य का इतिहास लिखते समय आचार्य शुक्ल की दृष्टि का केन्द्र वर्तमान था, लेकिन द्विवेदी जी की नजर परम्परा पर अधिक रही है। सम्भवतः यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के आधे भाग में हिन्दी साहित्य के आविर्भाव काल से लेकर रीतिकाल तक पर विचार किया है और आधे भाग में आधुनिक काल की बहुत संक्षिप्त चर्चा की है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आधुनिक काल की बहुत संक्षिप्त चर्चा में न तो भारतेंदु हरिश्चन्द्र का उल्लेख है और न स्वाधीनता आन्दोलन पर विचार हुआ है।

इन दोनों बातों का न होना आश्चर्य जनक ही नहीं आपत्तिजनक भी है। द्विवेदी जी ने इस कमी को 'हिन्दी साहित्य' में पूरा किया है।

द्विवेदी जी ने आधुनिक युग के हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि की प्रतीष्ठा का स्वागत किया है। उन्होंने 1940 में छायावाद के विरोधियों की आलोचना करते समय 'परिपाटी निहित रसज्ञता और रूढ़ि समर्थित काव्यकला को चुनोती देने की प्रवृत्ति' को साहित्यिक क्रान्ति कहा था। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' का रचनाकाल प्रगतिशील आन्दोलन का उत्थानकाल था। द्विवेदी जी ने प्रगतिशील आन्दोलन को सहानुभूति के साय देखा है। प्रगतिशील आन्दोलन के संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि 'ईश्वर का स्थान आज मानवता ने लिया है पूजन भजन के स्थान पर आज पीड़ित मानवता की सहायता और हमदर्दी प्रतिष्ठित हो चुकी है।' पीड़ित मानवता से जिसकी सहानुभूति होगी, पीड़ित मानवता की चिंता करने वाले साहित्य से भी उसकी सहानुभूति होगी। द्विवेदी जी ने छायावाद की वैयक्तिक प्रधान जीवन दृष्टि से प्रगतिवाद की वस्तुनिष्ठ जीवन दृष्टि के अंतर को पहचाना और उसकी प्रशंसा की, सच्चे जीवनानुभवों के आधार पर लिखी गई प्रगतिशील कविताओं की सराहना की

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ० सं० – 159

है, लेकिन 'हवा में उड़ते हुए विचारों को छंद कके फ्रेम में बाँधने वालों को संदेह की दृष्टि से देखा है। हवा में उड़ते हुए विचारों को साहित्य रूपों में बाँधने वाले प्रगतिशीलों का आज भी अभाव नहीं है। उस दौर की प्रगतिशील कविता के बारे में उन्होंने लिखा था कि 'अधिकाँश में हिन्दी कविता हिन्दी जानने वाले पाठकों के बहुत नजदीक नहीं आ सकी है।' हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य के सामने आज भी वही स्थिति है। उन्होंने हिन्दी साहित्य में समाजवादी विचारधारा और यथार्थवाद के प्रसार का स्वागत किया है।

लगभग 1930 के बाद प्रगतिशील आन्दोलन के विकास के साथ हिन्दी साहित्य में समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ा ओर साम्राज्यवाद का विरोध भी तीव्र हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने इतिहास लेखन में प्रगतिशील आन्दोलन और समाजवादी विचारधारा से सहानुभूति व्यक्त हुई है और साम्राज्यवाद के तीव्र विरोध का भाव भी प्रकट हुआ है। उन्होंने पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों की दुनियां में शोषण और गुलामी की व्यवस्था बनाये रखने की भावना से निर्मित आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक चालों की सही पहचान करते हुए लिखा है, 'यूरोपीय राष्ट्रों के संगठित दलों में जो एकता है वह उस एकता से मिलती जुलती है जो ठगों में पाई जाती है। दुनियां के शोषण के लिए ही इनके विशेषज्ञों ने नाना प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक नैतिकता की 'बोलियाँ' बना रखी हैं। इतिहास को देखने की इनकी अपनी विशेष दृष्टि है, नृतत्व विद्या को समझने के अपने तरीके हैं और सब कुछ एक विशेष प्रकार की स्थिति बनाये रखने के उद्देश्य से लिखा गया है। साहित्य भी इस दृष्टि से एकदम मुक्त नहीं है। (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 116)। द्विवेदी जी की इस साम्राज्यवाद विरोधी इतिहास दृष्टि के मूल में एक ओर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को चेतना है और दूसरी ओर प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभाव। साहित्य में भी साम्राज्यवादी दृष्टि हो सकती है, यह द्विवेदी जी ने 1940 में लिखा था। लेकिन कुछ लोग आज भी इस सच्चाई को या तो पूरी तरह समझ नहीं पाये हैं या फिर जानबूझकर उसे तर्कजाल से ढकने का प्रयास करते हैं।

अब तक हमने द्विवेदी जी के साहित्य के इतिहास दर्शन सम्बन्धी चिंतन और इतिहास लेखन के प्रयास की समीक्षा की है। अब उनकी इतिहास दृष्टि की सामान्य विशेषताओं पर विचार कर लेना उचित होगा।

इतिहास दृष्टि की नवीनता

आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि की एक प्रमुख विशेषता है परम्परा की खोज और उसके रचनात्मक प्रभाव का मूल्यांकन। द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि की इस विशेषता की ओर नामवर सिंह और नलिन विलोचन शर्मा ने संकेत किया है। द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि की इस विशेषता के मूल में भारतीय नव जागरण की चेतना काम करती दिखाई देती है। दुनिया भर के नवजागरणकालीन चिंतन की यह एक विशेषता है। इसमें वर्तमान और भविष्य की दिशा निश्चित करने के लिए परम्पराओं की खोज और मूल्यांकन का प्रयत्न दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य में भारतीय नव जागरण के प्रभाव में विकसित अधिकांश साहित्य चिंतन इसका साक्षी है।

द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि में परम्परा की खोज और मूल्यांकन की प्रधानता का दूसरा महत्वपूर्ण कारण राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की भावना से जुड़ा हुआ है। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का संघर्ष केवल राजनीतिक संघर्ष ही नहीं था वह साम्राज्यवादी सांस्कृतिक प्रभुत्व से मुक्ति के लिए ओर भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला की परम्पराओं की साम्राज्यवादी विचारकों द्वारा की गई भ्रामक व्याख्या का खण्डन आवश्यक था और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति कला और साहित्य की परम्पराओं के संघर्षशील जनोन्मुख तथा विकासशील स्वरूप को सामने लाना भी आवश्यक था। इस तरह परम्पराओं की खोज और मूल्यांकन का उद्देश्य उनकी शक्ति और संभावनाओं को उजागर करना था। इसका एक और उद्देश्य अपनी परम्परा के प्रति हीन भावना से मुक्ति और आत्म गौरव का भाव जगाना भी था। हिन्दी साहित्य का यह काल भारतीय नवजागरण की भावना से प्रेरित चिंतन का काल है, और पश्चिम की संस्कृति और साहित्य के गहरे प्रभाव के आतंक का

काल भी है। पश्चिमी संस्कृति की समृद्धि के आतंक और अनुकरण तथा अपनी संस्कृति और साहित्य की परम्परा के प्रति उदासीनता के भाव पर चोट करते हुए द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है, 'ज्ञान के क्षेत्र में वही पाने का अधिकारी होता है जो देने का सामर्थ्य रखता है। हर क्षेत्र में दूसरों का अनुकरण लज्जाजनक है। वही चल सकता है जो अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, वह नहीं जो केवल चलने वालों के चलने की नकल करना चाहता है। हमारा अतीत जो अब तक अभिभूत करने वाला साबित हुआ था अब प्रेरणादायक सिद्ध हुआ है। दुनियां में हम नौसिखुये नहीं है। हमने ज्ञान की प्रत्येक शाखा पर स्वतंत्र दृष्टि से विचार किया है। हमारे इतिहास में संघर्षो और संघातों की विशाल श्रंखला है। (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 170) यही वह बुनियादी दृष्टिकोण है जिससे द्विवेदी जी संस्कृति, साहित्य और कला की परम्पराओं की खोज और मूल्यांकन का काम करते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास के निर्माण में क्रियाशील विभिन्न परम्पराओं का विश्लेषण और मूल्यांकन किया है।

परम्परा की खोज और मूल्यांकन का तीसरा कारण यह है कि द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य की परम्पराओं को भारतीय साहित्य की परम्पराओं से जोड़कर देखना चाहते हैं और हिन्दी साहित्य की समृद्ध विकासशील परम्परा को भारतीयों और विदेशियों के सामने रखना चाहते हैं। उनके इतिहास लेखन के उद्देश्य का अंतरर्राष्ट्रीय संदर्भ 'भूमिका' के अंतिम वाक्यों से प्रकट होता है। इस प्रकार द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य की परम्परा के वास्तविक रूप को सामने लाने के उद्देश्य से ही परम्परा की खोज और मूल्यांकन को अधिक महत्त्व देते जान पड़ते हैं।

हिन्दी साहित्य की भूमिका का मुख्य उद्देश्य भक्तिकालीन साहित्य को भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास सिद्ध करना है और इस उद्देश्य के लिए द्विवेदी जी ने पूर्ववर्ती कला दर्शन और धर्म साधना की परम्पराओं का अध्ययन किया है। इसके साथ ही द्विवेदी जी ने समाज और संस्कृति के विकासशील आपसी सम्बन्ध का विवेचन भी किया है। भारतीय संस्कृति और साहित्य की विभिन्न परम्पराओं की वैचारिक यात्रा करने के बाद ही वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि

भक्तिकाव्य भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि उनके इतिहास लेखन में परम्परा की खोज करने का प्रयत्न अधिक है और विकसित वस्तु के विश्लेषण की प्रवृत्ति कम। यह भी कहा जा सकता है कि परम्परा के प्रभाव की चर्चा अधिक है और रचनाकारों में मौलिक निर्माण का मूल्यांकन कम है। ये दोनों ही बातें भक्तिकाल के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के आलोचनात्मक प्रयत्न के बारे में सच नहीं है। उन्होंने परम्परा के प्रभाव की बात करते हुए भी सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश से रचनाकारों के सम्बन्ध को बराबर महत्त्व दिया है। परम्परा से स्वतंत्र नई रचनाशीलता में जो नया विकसित हुआ है उसकी उसको द्विवेदी जी रेखांकित करने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत साहित्य में समाज का चित्रण है लेकिन उसमें सामाजिक विद्रोह की भावना का अभाव है। संस्कृत साहित्य से भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की एक भिन्नता यह है कि इसमें सामाजिक विद्रोह का भाव मौजूद है। लोकभाषा में लोक चिंता की अभिव्यक्ति करने वाले भक्ति साहित्य में सामाजिक विद्रोह के भाव का होना स्वाभाविक है। परम्परा का बराबर अच्छा ही प्रभाव नहीं पड़ता। परम्परा को गलत ढंग से समझने और स्वीकार करने वाले रचनाकारों पर उसका बुरा प्रभाव भी पड़ता है। रीतिकालीन साहित्य परम्परा के गलत उपयोग और प्रभाव का प्रमाण है।

साहित्य की परम्परायें कोरी साहित्यिक नहीं होंती, उनका सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं से गहरा सम्बन्ध होता है। द्विवेदी जी साहित्य को सांस्कृतिक प्रवाह का एक रूप मानते हैं इसलिए परम्परा की उनकी व्यापक धारणा एकांत साहित्यिक परम्परा की धारणा नहीं है, वह सांस्कृतिक परम्परा का ही एक रूप है। यही कारण है कि वे साहित्य के इतिहास को सांस्कृतिक इतिहास के अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। यह उनकी साहित्येतिहास दृष्टि की दूसरी प्रमुख विशेषता है। द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'साहित्य का इतिहास तभी पूर्ण कहा जायगा जब हमें उसके पढ़ने के बाद चिंताधारा की समग्रता और उसकी जीवंत गति का प्रत्यक्ष दर्शन हो।' (विचार और वितर्क पृ0 281)। किसी समाज

या जाति की चिंताधारा की समग्रता और जीवंतता का बोध केवल शिष्ट साहित्य के इतिहास से ही नहीं हो सकता क्योंकि समाज या जाति की चिंताधारा की समग्रता के बोध के लिए साहित्य के इतिहास को संस्कृति के इतिहास के अंग के रूप में विकसित करना जरूरी है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि किसी समाज या जाति की चिंताधारा की समग्रता और जीवंतता अभिजात संस्कृति और अभिजात साहित्य में होती है। इसलिए साहित्य के इतिहास को सांस्कृतिक इतिहास के अंग के रूप में विकसित करने के लिए उसमें जन संस्कृति और जन साहित्य का समावेश करना भी जरूरी है। द्विवेदी जी बार – बार हिन्दी साहित्य को लोक भाषा में हिन्दी भाषी जनता की चिंताधारा, अनुभूति और संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति कहते हैं और हिन्दी साहित्य के इतिहास को अधिकाधिक पूर्ण बनाने के लिए लोक गीतों लोक कथाओं और लोक प्रचलित काव्यरूपों के अध्ययन पर जोर देते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य के इतिहास को मानव की जययात्रा की विकास कथा कहते हैं और इतिहास का लक्ष्य इस जययात्रा के विकास को शक्ति प्रदान करना मानते हैं। मनुष्य की यह जययात्रा सरल, सीधी और आसान नहीं होती, वह संघर्षों के बीच से आगे–आगे बढ़ती है। इसी की अभिव्यक्ति साहित्य में भी होती है। स्वभावतः साहित्य के इतिहास में संघर्षो के बीच से विकसित होने वाली विकास कथा का अध्ययन होना चाहिए। प्रश्न यह है कि मनुष्य की इस जय यात्रा का लक्ष्य क्या है? द्विवेदी जी का उत्तर है कि मनुष्य की मुक्ति ही इसका लक्ष्य है। साहित्य और साहित्य के इतिहास में मनुष्य की जययात्रा को सर्वाधिक महत्त्व देने के कारण ही द्विवेदी जी को मानवतावादी विचारक कहा जाता है। विचार की बात यह है कि द्विवेदी जी की मानव मुक्ति का क्या अर्थ है? ऐसे ऐतिहासिक संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि 'अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है, सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और

जीवनप्रद हो सकते हैं।(विचारक और वितर्क, पृ0 116)। द्विवेदी जी के इस कथन ये यह जाहिर होता है कि उनका मानवतावाद शोषित पीड़ित मनुष्य की उपेक्षा करके बंदरों को खिलाने वाला जीवदयावाद नहीं है। सब प्रकार के शोषणों से मनुष्य की मुक्ति में सहायक बनना अगर इतिहास के अनुभव और ज्ञान का उद्देश्य है तो साहित्य का इतिहास इसका अपवाद नहीं है। द्विवेदी जी की यह विशिष्ट मानवतावादी दृष्टि उनकी इतिहास दृष्टि की तीसरी प्रमुख विशेषता है।

द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि की चौथी प्रमुख विशेषता है हिन्दी साहित्य के इतिहास को भारतीय साहित्य के इतिहास के अंग के रूप में देखना। पिछले कुछ समय से भारतीय साहित्य की परिकल्पना और भारतीय साहित्य के इतिहास की अवधारणा पर विचार हो रहा है। द्विवेदी जी ने बहुत पहले हिन्दी साहित्य की भूमिका में लिखा था, 'ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाये।' द्विवेदी जी ने बाद के अपने अनेक निबन्धों में भारतीय साहित्य की परिकल्पना और भारतीय साहित्य के इतिहास की सम्भावना पर विचार किया है। अब तक द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि की जिन विशेषताओं की चर्चा की गई है उनका स्वाभाविक विकास यही है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंग के रूप में देखा जाये।

इस देश के साहित्य के इतिहास में दो अखिल भारतीय आन्दोलन हुए हैं। पहला है भक्ति आन्दोलन और दूसरा, प्रगतिशील आन्दोलन। ये दोनों केवल साहित्यिक आन्दोलन नहीं हैं। कुछ लोग स्वच्छन्दतावादी और आधुनिकतावाद को भी अखिल भारतीय साहित्यिक आन्दोलन कह सकते हैं। भक्ति आन्दोलन और प्रगतिशील आन्दोलन को ठीक से समझे बिना न तो भारतीय साहित्य की अवधारणा का विकास हो सकता है और न भारतीय साहित्य के इतिहास का। भारतीय साहित्य के इतिहास

लेखन का उचित रूप यह नहीं है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य की सामान्य विशेषताओं को इकट्ठा कर दिया जाये या धर्म के आधार पर भारतीय संस्कृति की धारणा बनाकर उसकी व्यापकता की भारतीय साहित्य में खोज की जाय। भारतीय संस्कृति और साहित्य के इतिहासलेखन के इस तरह के प्रयास अपनी असफलता की गवाही खुद दे रहे हैं। भारतीय साहित्य का इतिहास और उसके अंग के रूप में हिन्दी साहित्य या किसी भी दूसरी भाषा के साहित्य के इतिहास का लेखन विभिन्न क्षेत्रों के समाज, संस्कृति, भाषा और साहित्य के विकास की अवस्थाओं तथा वास्तविकताओं के आधार पर ही हो सकता है।

"द्विवेदी जी के अध्ययन, इतिहास लेखन और आलोचना के के केन्द्र में भक्ति आन्दोलन और उसका साहित्य रहा है, और प्रगतिशील आन्दोलन से उनकी गहरी सहानुभूति रही है, इसलिए वे भारतीय साहित्य के इतिहास की सम्भावना पर विचार करने में सक्षम हुए और हिन्दी साहित्य के इतिहास को भारतीय साहित्य के इतिहास के अंग के रूप देखने की नई दृष्टि विकसित कर सके। यह आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि की व्यापकता और विकास शीलता का प्रमाण है।"[1]

---

1. साहित्य और इतिहास दृष्टि – पृ0 सं0 – 165

ग्रन्थ सूची

आलोच्य ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य – उद्‌भव और विकास –
   डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी – प्रथम संस्करण – 1952,
   राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल – डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी
   प्रथम संस्करण – 1952, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।

3. हिन्दी साहित्य – डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी –
   प्रथम संस्करण – 1953।

4. साहित्य सहचर – डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी,
   नेवेद्य निकेतन, वाराणसी।

5. हजारी प्रसाद द्विवेदी–ग्रन्थावली – भाग–4– सम्पादक
   मुकुन्द द्विवेदी – प्रथम संस्करण – 1981 – राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

6. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रन्थावली – भाग – 5 – सम्पादक
   मुकुन्द द्विवेदी – प्रथम संस्करण – 1981 – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

7. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रन्थावली – भाग – 6 – सम्पादक
   मुकुन्द द्विवेदी – प्रथम संस्करण – 1981 – राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

सहायक ग्रन्थ – हिन्दी

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – डॉ0 राम कुमार वर्मा – पंचम – 1964 – रामनारायण – बेनीमाधव, इलाहाबाद।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – सम्पादक डॉ0 नगेन्द्र – द्वितीय – 1978, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा – काशी।
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय चौदहवां सं0 – 1981, लोक भारती प्रकाशन– इलाहाबाद।
5. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – डॉ0 जयकिशन प्रसाद – तेरहवां सं0 – 1990 – विनोद पुस्तक मन्दिर – आगरा।
6. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – (प्रथम खण्ड) डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त – चतुर्थ सं0 1990 – लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।
7. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास – (द्वितीय खण्ड) डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त – संशोधित संस्करण – 1989, लोक भारती प्रकाशन – इलाहाबाद।
8. भाषा विज्ञान – डॉ0 भोलानाथ तिवारी – प्रथम सं0 1951 – किताब महल – इलाहाबाद।
9. कीर्तिलता – विद्यापति – सम्पादक – बाबूराम सक्सेना।
10. विद्यापति पदावली – पं0 रामवृक्ष बेनीपुरी – द्वितीय संस्करण।
11. भारतीय संस्कृति – बाबू गुलाब राय।

12. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो – डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ0 नामवर सिंह
प्रथम संस्करण – 1957।

13. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन – डॉ0 रूपचन्द्र पारीक – प्रथम – 1972, सरस्वती पुस्तक सदन – आगरा।

14. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप – डॉ0 सुमन राजे – प्रथम
1975 – ग्रन्थम प्रकाशन – कानपुर।

15. साहित्य का इतिहास दर्शन – श्री नलिन विलोचन शर्मा।
प्रथम – 1960 – बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् – पटना।

16. हिन्दी साहित्य की सामाजिक भूमिका
डॉ0 शम्भू नाथ सिंह

17. हिन्दी साहित्य का नया इतिहास
डॉ0 राम खेलावन पाण्डेय

18. मिश्र बन्धु विनोद – मिश्र बन्धु – गंगा पुस्तक माला, लखनऊ।

19. शिवसिंह 'सरोज' – डॉ0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित –
तेज कुमार बुक डिपो – लखनऊ।

20. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास – सम्पा0 राजबली पाण्डेय–
नागरी प्राचारिणी सभा काशी।

21. साहित्य और इतिहास दृष्टि – मैनेजर पाण्डेय – प्रथम 1981 –
पीपुल्स लिटरेसी – दिल्ली।

अंग्रेजी

1. A History of Hindi Literature - F.E. Keey

2. Ancient Indian Historical Tradition - Pargitor - London.

3. Literature and Society - Daiches- David London - 1938

4. The Nature of Literature Its relation to Science Language and Human Experience T.C. POLLOCK - Princetion University Press - 1942.

संस्कृत

1. अथर्ववेद
2. छांदोग्योपनिषद –
3. महाभारत –

पत्र–पत्रिकाएं

1. आलोचना – इतिहास विशेषांक